आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य

परीक्षकों की सम्मतियों के कुछ अंश

"यह प्रबंध हिन्दी-साहित्य के एक उपेक्षित विषय की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और साहित्य के एक अपूर्ण अंग की पूर्ति करता है। निस्संदेह, इस प्रबंध द्वारा ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार हुआ है और हिन्दी-साहित्य के शोध-क्षेत्र में एक नया अध्याय जुड़ा है। प्रबंध को प्रस्तुत करने में श्री० वाजपेयी ने मौलिक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचय दिया है। उपलब्ध तथ्यों और सिद्धान्तों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन और आलोचन प्रस्तुत किया गया है, जो लेखक के गम्भीर अध्यवसाय का द्योतक है।..."

"The Research Scholar has chosen a new topic for research. He has critically examined the published as well as unpublished material available on the subject and has arrived at sound conclusions. His work is characterised by a fresh approach towards interpretation of facts and also by discovery of facts. It is quite satisfactory so far as its literary presentation is concerned and is suitable for publication...."

आगरा विश्वविद्यालय की पी०-एच० डी० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य

(हिन्दी-साहित्य के आधुनिक-काल में ब्रज-काव्य का विकास)

डा० जगदीश वाजपेयी

एम० ए०, पी-एच० डी०,

उपाध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

सनातन धर्म कॉलेज, मुजफ़्फ़रनगर ।
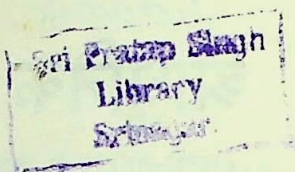
अजन्ता प्रकाशन, मुज़फ़्फ़रनगर ।

प्रकाशक : अजन्ता प्रकाशन, रोड १३, नई मण्डी, मुजफ्फ़रनगर
मुद्रक : अजन्ता प्रेस, रोड १३, नई मण्डी, मुजफ्फ़रनगर ।
वर्ष : प्रथम संस्करण १९६४ 1964
मूल्य : १२.५० नये पैसे

ब्रजवाणी वन्दना

ब्रजभाषा भाषा ललित, कलित कृष्ण की केलि।
या ब्रज-मण्डल में उठी, ताकी घर-घर बेलि॥
ह्यीं से चहुं दिसि बिस्तरी पूरब पच्छिम देस।
उत्तर दक्षिण लौं गई, वाकी छटा असेस॥

—श्री राधाचरण गोस्वामी

— ——

ब्रजभाषा, हौं भूल सकत कबहूं नहिं तोकों।
तेरी महिमा और मधुरिमा मोहत मोकों॥

\+ \+ \+

माखन-मिसरी पाय पली है बढ़भागिन तू।
रागभरी है सहज सुरीली सुर रागिनि तू।
तब तो तोकों सकल प्रदेसनि ने अपनायो।
को है ऐसो जाहि गान तेरो नहिं भायो॥

--श्री मैथिलीशरण गुप्त

———

बरनन को करि सकत भला तिहि भाषा कोटी।
मचलि-मचलि जामें मांगी हरि माँखन-रोटी॥

\+ \+ \+

देसकाल अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥

—पण्डित सत्यनारायण 'कविरत्न'

— — —

हमारें ब्रज-बानी ही बेद।
भाव-भरी या मधु-बानी कौ, नांइ मिल्यौ रस-भेद॥
निगमागम-कृत सबद-जाल में, वा सुख की कहं आस।
जो सुख मिलत चाखि ब्रज-पद-रस, सोंधी सहज मिठास॥

—श्री वियोगी हरि

———

या अनुराग के रंग रंगी, रसखान खरी रसखान की भाषा।
बा में घुरी मिसरी मधुरी, यह गोपिन क अधरान की भाषा ।।
को सरि याकी करै कवि 'व्यास' ये भाव भरे अखरान की भाषा।
बोरत भक्ति निचोरत ज्ञान में, गोविंद के गुन-गान की भाषा ।।

—श्री गोपालप्रसाद व्यास

अपनी बात

उपेक्षितों के उद्धार के इस युग में जहां उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा, विष्णु-प्रिया, शवरी, कुब्जा आदि नारियों तथा रावण, एकलव्य, कर्ण आदि पुरुषों के साहित्यक समुद्धार के अनेक प्रयत्न हुए हैं, बेचारी ब्रजभाषा तथा उसकी सरसमयी कविता की सतत उपेक्षा और अवहेलना मुझे वर्षों से कचोटती आ रही थी। वस्तुतः, मैं किसी भाषा-विशेष का पक्षपाती नहीं हूं, और हिन्दी तथा उसकी सभी उप-भाषायें मुझे समान रूप से प्रिय हैं, फिर भी मैं इतना अवश्य अनुभव करता आया हूं कि खड़ीबोली की चकाचौंध के इस युग में ब्रजभाषा और उसकी कविता को वह भी प्राप्त नहीं हो रहा है, जो उसको निश्चित और अनिवार्य रूप से मिलना चाहिये। पक्षपात या ममत्वपूर्वक अधिक देने की बात तो कोसों दूर रही। अतः, ऐसी स्थिति में जब शोध-कार्य के लिए मुझे 'आधुनिक ब्रजषाभा-काव्य का विकास' नामक विषय मिला, तो मैंने बहुत कुछ आश्वस्त अनुभव किया, और यह सोचा कि हो-न-हो इस कार्य के द्वारा अपनी पीढ़ी द्वारा ब्रज-वाणी के साथ किये गये अपार और अकृत अन्याय का थोड़ा-बहुत प्रतिकार ही हो सकेगा।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी भावना का प्रतिफल है। इस कार्य में मुझे कहां तक सफलता मिली है, यह तो विज्ञ-जनों के निर्णय पर अवलम्बित है। परन्तु इतना अवश्य है कि इस क्षेत्र में मेरी सीमा-रेखायें ब्रजभाषा-काव्य के प्रति सम-सामयिक साहित्य-प्रेमियों की उपेक्षा की परिधि के समानान्तर ही हैं। भगवान करे कि वह दिन शीघ्र ही देखने में आये, जब इस समवेत अवहेलना के प्रायश्चित स्वरूप ब्रज-भाषा-कविता की गति-विधि का सम्यक और सुव्यवस्थित अध्ययन हमारे सम्मुख आये और ब्रज-वाणी का अभीष्ट देय उसे प्राप्त हो।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध विक्रम की बीसवीं शताब्दी में फैली हुई ब्रजभाषा-कविता के बहुविध स्वरूप को निरखने तथा परखने की एक काव्य-प्रेमी-सुलभ चेष्टा है। इतना तो निश्चित है कि इस दिशा में यह अपने ढंग का पहला प्रयत्न है ! अतः प्रारम्भिक तथा दाग-बेल डालने के कार्य में आने वाली सभी कठिनाइयों की सम्भा-वना का अनुमान लगा लेना भी कठिन न होगा। फिर, मेरी अपनी सीमायें तथा अपने राग-विराग भी हैं, जिनसे सम्यक रूपेण निरपेक्ष रहना सम्भव नहीं है। अतः ऐसी परिस्थितियों में इस शोध-प्रबन्ध की उपलब्धियों का मूल श्रेय उसके निर्देशक

डा० हरवंशलाल शर्मा, एम० ए०, डी० लिट०, अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय को है, जिनके पथ-प्रदर्शन और प्रोत्साहन से ही यह कार्य पूरा हो सका है। उनकी अनाहूत और अनामन्त्रित सद्भावनायें तथा शुभ-कामनायें निरंतर मेरे साथ रही हैं, और यदि उनका सम्बल पास न होता तो इस अनुष्ठान की सिद्धि संदिग्ध ही थी। इसी के साथ सनातन धर्म कालेज, मुज़फ्फ़रनगर के प्रिंसिपल-श्री ध्रुवसिंह, हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-डाक्टर विश्वनाथ मिश्र तथा क० मा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के श्री उदयशंकर शास्त्री की पग-पग पर सहायता भी मेरे लिए बहुमूल्य रही है। इसके अतिरिक्त जिन-जिन विद्वानों तथा संगी-साथियों से इस कार्य में मुझे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी भी प्रकार की सहायता मिली है, उनके प्रति भी आभार-प्रदर्शन करना मेरा पुनीत कर्तव्य है। यहां, अपने शोध-कार्य के पहले निर्देशक, डा० रामशंकर शुक्ल-'रसाल', एम० ए०, डी० लिट०, अवकाश-प्राप्त अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय को सादर स्मरण न करना निरी कृतघ्नता होगी, क्योंकि उन्हीं की ब्रजभाषा-काव्य विषयक स्वच्छ एवं विवेकशील दृष्टि से दिशा-ज्ञान प्राप्त कर ही मैं इस कार्य में प्रवृत्त हुआ था। हां, इस शोध-प्रबन्ध को टंकण और मसि के माध्यम से मूर्त रूप देने वाले-श्री रामप्रकाश पचौरी तथा अपने काशी, प्रयाग और आगरा-प्रवास के सभी मित्रों को धन्यवाद देता हुआ मैं उन सभी लेखकों और विद्वानों के प्रति आभारी हूं, जिनके ग्रन्थों की सामाग्री का उपयोग मैंने इस शोध-प्रबन्ध में किया है।

जगदीश वाजपेयी
उपाध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
सनातन धर्म कॉलेज, मुजफ़्फ़रनगर।

आगरा,
विजयदशमी, २०१८ वि०

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय–प्रवेश

विषय—प्रवेश

वर्षों पहले स्वर्गीय पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास की प्रथम पूर्ण आलोचनात्मक रूप-रेखा तैयार की थी। उसके बाद से दिनों-दिन यह आवश्यकता अनुभव होने लगी कि अब हिन्दी साहित्य के विभिन्न युगों, भिन्न-भिन्न प्रतिनिधि कवियों, प्रमुख काव्य-धाराओं, विभिन्न साहित्यिक उप-भाषाओं तथा अनेकानेक साहित्य-विधाओं को लेकर पृथक-पृथक रूप से तथा विस्तारपूर्वक कार्य किया जाय। हर्ष का विषय है कि इधर हिन्दी साहित्य के पिछले तीनों कालों तथा कुछ साहित्यिक बोलियों को लेकर संतोषप्रद कार्य हुआ, और विभिन्न ग्रन्थ प्रकाशित हुये। पर, प्राचीन साहित्य को अधिकाधिक प्रकाश में लाने के साथ-साथ यह भी आवश्यक प्रतीत होने लगा कि आधुनिक तथा वर्तमान काल की उपेक्षा न हो जाय।

वस्तुतः, हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका आधुनिक काल सबसे अधिक वैचित्र्य पूर्ण है, क्योंकि इसका प्रवर्तन नूतन सभ्यता की हलचल के साथ-साथ हुआ है। देश की प्राचीन विचार-धारा के साथ नूतन विचार-धारा का संगम जब से हुआ, तब से साहित्य के क्षेत्र में न जाने कितने रूप-रंग देखने में आ रहे हैं।[1] अतः इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि आधुनिक काल पर भी विस्तारपूर्वक विचार करके उसकी साहित्यिक गतिविधि का निरीक्षण किया जाय।

आधुनिक काल में, जैसा कि स्पष्ट ही है, हिन्दी-कविता के क्षेत्र में दो पृथक पृथक धारायें प्रवाहित हैं—एक है खड़ी बोली की कविता-धारा, और दूसरी है ब्रज-भाषा की काव्य-पयस्विनी। इस काल में अधिक लोकप्रिय होने तथा युग के अनुरूप प्रवाहित होने के कारण, निश्चय ही, खड़ी बोली कविता के सृजन तथा उसके आलोचनात्मक अध्ययन की गति पर्याप्त तीव्र रही है। उसकी एक-एक शाखा प्रशाखा तथा धारा-उपधारा को लेकर समुचित अध्ययन और मनन हुआ है। पर, आधुनिक काल के अधिक अनुरूप न होने तथा प्राचीनता की ओर विशेष झुकने के कारण ब्रज-भाषा-काव्य-धारा अपेक्षाकृत उपेक्षित रही। उसमें काव्य-सृजन तो सतत गति से होता रहा, पर उसकी इस गतिविधि के निरीक्षण तथा परीक्षण का कोई विशेष प्रयास न हुआ। साहित्य के इतिहास-लेखकों, समीक्षकों, तथा विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य में रत अनुसंधित्सुओं की दृष्टि भी इस ओर बहुत कम गई। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इसी दिशा में एक प्रारम्भिक प्रयास है।

---

[1] आधुनिक हिन्दी सा० का इतिहास (कृष्णशंकर शुक्ल) का रामचन्द्र शुक्ल लिखित परिचय।

विषय का महत्व

वैसे तो कोई भी विषय अपने आप में महत्वपूर्ण हो सकता है, क्योंकि 'महत्व' एक सापेक्षिक शब्द है। पर साहित्यिक-शोध के क्षेत्र में ऐसे विषय, जिन पर अब तक आरम्भिक कार्य भी नहीं हुआ है अथवा जिनके द्वारा कालान्तर में विलुप्त हो जाने वाली किसी साहित्यिक प्रवृत्ति के समुचित मूल्यांकन का कार्य सम्भव है, महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इसी प्रकार ऐसे विषय जो, साहित्यिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रवाह की किसी टूटी हुई कड़ी को जोड़ने तथा सुशृंखलित करने का काम करते हैं, महत्वपूर्ण माने जाते हैं। वस्तुतः शोध कार्य की परम्परा में उपरिलिखित प्रकार के विषयों को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिये, क्योंकि शोध या अनुसंधान कार्य की मुख्य उपादेयता ही यही है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत विषय-'आधुनिक ब्रजभाषा काव्य का विकास' निर्विवाद रूप से महत्वपूर्ण माना जायगा। इस विषय का त्रिविध महत्व है—साहित्यिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में ब्रजभाषा का महत्व तो सर्व विदित ही है। गद्य-लेखन की प्रौढ़ और समुन्नत परम्परा के अभाव में ब्रजभाषा के साहित्यकार प्रायः पद्य या कविता में ही अपने भाव व्यक्त करते थे। ऐसी दशा में अभिव्यक्ति के एकमात्र सशक्त माध्यम के रूप में उसकी क्षमतायें बहुत व्यापक थीं। परिस्थिति परिवर्तन के फलस्वरूप तथा भाषाओं के यथा समय पदस्थ और अपदस्थ होने की सहज प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अब ब्रज भाषा-काव्य धारा का दिनों दिन क्षीण होना भी स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह जानने का प्रयत्न किया जाय कि किन तत्वों के कारण युग-विशेष में उसकी इतनी असाधारण उन्नति हुई, और आज किन अस्वस्थ और क्षय-ग्रस्त प्रवृतियों के कारण वह पतनोन्मुखी है। उदाहरण के लिये जीवन के मूल स्रोत से साहित्य धारा का अलगाव, अनुभूति के स्थान पर रूढ़ि और बंधी बंधाई लीक पर चलना, वर्ग विशेष के वाणी-विलास तक सीमित रह जाना, चमत्कार प्रदर्शन की अतिशयता, दूर की कौड़ी लाने की अथक चेष्टा, तथा बात की करामात को ही काव्य-सृजन का सर्वस्व समझ बैठना—आदि वे क्षयशील तत्व हैं, जिनका अध्ययन और मनन आज परमावश्यक हो गया है। आज, विक्रम की २१ वीं शताब्दी में जब ब्रजभाषा-काव्य धारा हमसे धीरे-धीरे दूर होती चली जा रही है, यह महत्वपूर्ण है कि अतीत की वस्तु बनने के पहले ही, उसका समुचित मूल्यांकन कर लिया जाय।

ब्रजभाषा-कविता का सांस्कृतिक महत्व भी शब्दातीत है। वैसे तो साहित्य और संस्कृति परस्पर अविच्छिन्न-पाश में आबद्ध हैं, और एक की उन्नति में दूसरे की उन्नति तथा एक की अवनति में दूसरे की अवनति अन्तर्मुक्त हैं, पर गत हजार-

बारहसौ वर्षों की मध्यदेशीय संस्कृति की एकमात्र वाहिका होने के कारण ब्रज-वाणी का महत्व बहुत अधिक हो जाता है। कृष्ण-भक्त कवियों की सरस अनुभूति से अनुरंजित यह भाषा आज के तर्क-शुष्क तथा विरसता-बोझिल युग में भी भावुक हृदयों का एकमात्र सम्बल है। उसका श्रद्धामय साहित्य आज के अश्रद्ध युग की ज्वाल-माला को स्नेह तथा श्रद्धा के सलिल से संसिक्त करने में पूर्ण-रूपेण समर्थ है।[1] यही नहीं, कविता के अतिरिक्त मध्य-युगीन संगीत तथा चित्रकला को समझने के लिए ब्रजभाषा और उसमें भी ब्रजभाषा की कविता ही सर्वोपयुक्त माध्यम है। इसी कारण आज भी शास्त्रीय संगीत जानने वाले कलाकार ब्रजभाषा के पदों का गायन ही उचित समझते हैं और प्राचीन चित्रकला में चित्रित विभिन्न नायक-नायिकाओं की मुद्रा और भाव-भंगिमाओं तथा विभिन्न राग-रागिनियों के स्वरूप का सजीव वर्णन ब्रजभाषा कविता के माध्यम से ही सुलभ है। इस प्रकार ब्रजभाषा कविता मानों मध्य-युगीन सांस्कृतिक भण्डार की एकमात्र कुंजी है। यदि देश का वर्तमान खड़ी बोली गद्य में सन्निहित है तो उसका अतीत निश्चय ही ब्रजभाषा कविता की मंजूषा में सुरक्षित है। ऐसी दशा में उसकी एक शती की काव्यक्षेत्रीय गतिविधि का मूल्यांकन सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वमय है।

आलोच्यकाल में ब्रजभाषा कविता का इतिहास बहुत चित्र-विचित्र रहा है। यदि उसे परस्पर विरोधी तत्वों का संतुलित-समन्वय कहा जाय तो अधिक अत्युक्ति न होगी। उसमें एक साथ ही परम्परा और प्रयोग, प्राचीन और नवीन, आदर्श और यथार्थ, भावुकता और तर्क का मणि-कांचन-संयोग प्राप्त है। दुर्भाग्य का विषय है कि इतना सब कुछ होने पर भी उसका यथार्थ मूल्यांकन नहीं हो पाया। इसके कुछ स्पष्ट कारण हैं। प्रथम तो यह कि खड़ी बोली की प्रधानता के इस युग में ब्रजभाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति प्रायः सभी गण्य-मान्य साहित्य-समीक्षकों और साहित्य के इतिहास-लेखकों में पाई जाती है। आधुनिक काल में ब्रजभाषा कविता का उल्लेख आते ही वे बड़े चलताऊ ढँग से उसका वर्णन कर प्रायः अन्त में यही कह देते हैं कि रत्नाकर और सत्यनारायण उसके अन्तिम कवि थे। वास्तविकता यह है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी में भी लोग-रुचि तथा प्रकाशन के समुचित साधनों के अभाव में अनेकों कवि ब्रजभाषा-कविता के सृजन में संलग्न रहे हैं और यह कहना असंगत न होगा कि आज भी ब्रजभाषा की कविता सामान्य जन-रुचि के अधिक निकट है। उसमें लोक और शिष्ट साहित्य के तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

प्रस्तुत विषय की महत्ता प्रथम तो इस बात में सन्निहित है कि विक्रम की

[1]ब्रज-साहित्य मण्डल के सहारनपुर वाले छठे अधिवेशन में सभापति-पद से दिया गया पं० बालकृष्ण शर्मा नवीन का भाषण।

बीसवीं शताब्दी का साहित्यिक, साँस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्व है। दूसरे, इसमें एक ऐसी काव्य-धारा के सर्वेक्षण का प्रयत्न किया गया है, जो तत्कालीन लोक-प्रिय भाषा न होकर अतीत में विभवशालिनी तथा वर्तमान में अपेक्षाकृत उपेक्षित रही है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अब वह समय आ गया है कि हम पृथक-पृथक रूप से विभिन्न कालों, काव्य धाराओं तथा विभिन्न भाषाओं का अध्ययन उपस्थित करें। प्रसन्नता का विषय है कि इधर इस प्रकार के अनेक प्रयत्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं। भोजपुरी, अवधी, मालवी तथा राजस्थानी को लेकर ऐसे अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं। पर ब्रजभाषा इस दिशा में उपेक्षित रही। विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में होने वाले शोध-कार्य की बाढ़ के इस युग में भी इस विषय पर अब तक कोई कार्य नहीं हुआ, जबकि कई विषयों पर शोध-कार्य की पुनरावृत्ति तक भी देखी जाती है। आवश्यकता यह थी कि इस विषय को लेकर प्रान्तीय सरकार अथवा किसी अखिल भारतीय साहित्यिक संस्था या शोध-संस्थान द्वारा व्यापक कार्य कराया जाता. पर यहाँ भी उपेक्षा-वृत्ति ही दृष्टि आई। ब्रजभाषा की आधुनिक कविता की यत्र-तत्र बिखरी सामग्री को न तो एकत्र करने का ही कोई प्रयास हुआ और न उपलब्ध सामग्री का यथोचित प्रयोग कर व्यवस्थित रूप से उसका कोई साहित्यिक मूल्यांकन ही प्रस्तुत किया गया। यह तो निश्चित ही है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा यह कार्य गुरु से गुरुतर बनता चला जायगा। अतएव परिस्थितियों के इस संदर्भ में प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता और महत्ता स्वयं-सिद्ध है।

शोध की आधार-भूत सामग्री जैसा कि इस शोध-प्रबन्ध के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इस की विषय-वस्तु एक ऐसी भाषा से सम्बन्धित है जो सम्प्रति पर्याप्त लोकप्रिय नहीं है। खड़ी बोली की प्रधानता और उसमें भी गद्य-साहित्य की प्रमुखता के इस युग में ब्रजभाषा-कविता के प्रति साहित्यकारों की उपेक्षावृत्ति स्वाभाविक ही है। अतः ऐसी स्थिति में आधारभूत सामग्री की स्वल्पता स्वयं-सिद्ध है। यही नहीं, विवेच्य विषय की एक शताब्दी के विस्तृत समय में बिखरी विपुल काव्य-राशि में से अभीष्ट सामग्री का संकलन भी एक बहुत श्रम-साध्य कार्य था। कारण यह कि यह राशि किसी एक स्थान, पुस्तकालय या संग्रहालय में संकलित न होकर यत्र-तत्र अव्यवस्थित रूप में बिखरी पड़ी है। इसी कारण अन्य अनेक विषयों की भांति, किसी शान्त स्थान में एकाग्रमन से कुर्सी डालकर लिखना आरम्भ कर देना--इस विषय के लिये किसी प्रकार से सन्तोषप्रद नहीं माना जा सकता था। अभीष्ट यही था कि यत्र-तत्र (सार्वजनिक[1], साहित्यिक संस्थाओं[2], शोध-संस्थानों[3], विश्वविद्यालयों[4],

---

यथा [1]गयाप्रसाद लाइब्रेरी कानपुर, भारती भवन पुस्तकालय, प्रयाग।

पुराने राजा महाराजों[5] तथा साहित्य प्रेमियों के व्यक्तिगत पुस्तकालयों[6]) घूम-घाम कर प्रकाशित-अप्रकाशित सामग्री का संकलन किया जाय। आलोच्य युग की आंशिक प्राचीनता भी सामग्री-संग्रह के मार्ग में किसी सीमा तक बाधक थी। परिणामतः इस विषय को पुस्तकालीय विषय (लाइब्रेरी सब्जेक्ट) और वाह्य क्षेत्रीय-विषय (फील्ड सब्जेक्ट) का समुचित समन्वित रूप समझना चाहिये।

यहाँ यह उल्लेख कर देना भी असंगत न होगा कि सामग्री-संकलन सम्बन्धी भ्रमण के बीच मुझे अवध, ब्रज-मण्डल तथा काशी और उसके आस-पास अनेक ऐसे स्थानों की यात्रा करनी पड़ी, जहां के लोग अपने पास एकत्रित सामग्री के विषय में और उसकी महत्ता के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं। जहाँ तक प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की आधारभूत सामग्री का सम्बन्ध है, इसके तीनों युगों-प्राक्-भारतेन्दु, भारतेन्दु युग और उत्तर-भारतेन्दु युग की सामग्री अपनी सापेक्षिक प्राचीनता और नवीनता को ध्यान में रखकर मुख्यतः तीन ही रूपों में उपलब्ध थी। प्राक्-भारतेन्दु युग की सामग्री ७०–८० से १०० वर्ष तक पुरानी होने के कारण मुख्यतः पुराने राज्य दरबारों के पुस्तकालयों, निजी-संग्रहों तथा साहित्यिक संस्थाओं के पुस्तकागारों में बिखरी पड़ी है। इसका बहुत कम अंश प्रकाशित है। उक्त तीनों युगों में भारतेन्दु-युग पर ही सबसे अधिक प्रकाशित सामग्री उपलब्ध है और विभिन्न विद्वानों तथा अनुसंधित्सुओं ने (देखिये—अद्यतन प्रयत्न वाला प्रकरण) इसका पर्याप्त अध्ययन-मनन भी किया है। खड़ी बोली कविता की प्रधानता हो जाने के कारण उत्तर-भारतेन्दु युग के विषय में पुनः व्यवस्थित रूप में सामग्री की प्राप्ति दुर्लभ है। पर साथ ही सापेक्षिक रूप में नवीन तथा वर्तमान युग से सम्बन्धित होने के कारण एक विशेष लाभ यह रहा कि जीवित कवियों के श्री-मुख से, कवि-सम्मेलनों, आकाशवाणी के कार्यक्रमों तथा उनके घर जाकर, उनकी रचनाओं को सुनने तथा लिपिबद्ध करने का अपूर्व अवसर प्राप्त हो सका। उदाहरण के लिये इस शोध-प्रबन्ध में सर्व श्री अनूप शर्मा, 'अखिलेश' त्रिवेदी, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' डा० जगदीश गुप्त, स्व० 'वचनेश' मिश्र,

[2]हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी सभा सीतापुर, नागरी प्रचारिणी सभा आगरा।

[3]क० मा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा।

[4]लखनऊ, आगरा, काशी, प्रयाग तथा दिल्ली विश्वविद्यालय।

[5]अवध के मल्लापुर, महेवा, रामकोट, अयोध्या, बलरामपुर तथा रामनगर (काशी)

[6]गधौली (जिला सीतापुर) स्थित पं० कृष्णबिहारी मिश्र, सीतापुर में पंडित नवलबिहारी मिश्र, आगरे में श्री चिरंजीलाल पालीवाल तथा पं० उदयशंकर शास्त्री, वाराणसी में बा० ब्रजरत्नदास और मछरेहटा में कविवर 'अखिलेश' के निजी संग्रह

आदि की अनेक रचनाएं इसी प्रकार प्राप्त हुई हैं। विवेच्य कवि से व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा सम्बन्धित विषय में जो ज्ञान लाभ होता है, उसका पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न भी इस प्रयास में सन्निहित है। यहाँ यह उल्लेख कर देना असंगत न होगा कि सामग्री-संकलन सम्बन्धी भ्रमण के बीच मुझे अनेक ऐसे शिक्षित, अल्प-शिक्षित तथा कभी-कभी अशिक्षित काव्य-रसिक भी मिले हैं जिन्हें ब्रजभाषा के हजार से लेकर ढाई-तीन हजार छन्द तक कंठस्थ थे। पर दुर्भाग्य का विषय है कि काव्य-रसिकों का यह वर्ग सम्प्रति लुप्त होता जा रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि ब्रजभाषा कविता के पुनरुद्धार की इच्छा रखने वाले शोध-कर्त्ता और विद्वान इन व्यक्तियों से इनके कंठस्थ छन्दों को लिपिबद्ध करके उनके संग्रह प्रकाशित करदें। ऐसा करने से अब तक प्रकाश में न आई हुई बहुत सी सामग्री सामने आ जायेगी जिससे ब्रजभाषा-कविता का अत्यधिक उपकार होगा।

उपरोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट ही है कि विवेच्य विषय की आधार भूत सामग्री मुख्यतः तीन श्रेणियों-(अ) प्रकाशित (आ) अप्रकाशित (इ) मौखिक में बाँटी जा सकती है। उपलब्ध प्रकाशित सामग्री को भी आगे चलकर सुविधानुसार निम्नलिखित ११ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

१—हिन्दी साहित्य के इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थ।[1]

२—कवि-वृत संग्रह-कविकीर्ति-कलानिधान (नकछेदी तिवारी 'अजान') कवि-रत्न माला (मुंशी देवीप्रसाद) हिन्दीकोविद रत्नमाला (बाबू श्यामसुन्दर दास) कवि-कीर्तन (वियोगी हरि) इत्यादि।

३—काव्य-संकलन :

(अ) एक कवि के—भारतेन्दु-ग्रन्थावली, राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, प्रेमघन-सर्वस्व, पूर्ण-संग्रह, शङ्कर हृदय-तरग, रत्नाकर (दो भाग)

(आ) अनेक कवियों के—भाषा-काव्य-संग्रह (महेशदत्त शुक्ल) साहित्य-भास्कर (महालचन्द बयेद) ब्रजमाधुरी-सार (वियोगी हरि) कविता-कौमुदी (दो भाग) रीति-काव्य संग्रह (डा० जगदीश गुप्त) इत्यादि।

४—अनूदित काव्य : संस्कृत, प्राकृत तथा अंग्रेजी काव्य-ग्रन्थों के अनुवाद।

---

[1]माडर्न वरनाक्यूलर लिटरेचर आफ नार्दर्न हिन्दुस्तान (सर जार्जग्रियर्सन) मिश्र-बन्धुविनोद (मिश्र-बंधु) हिन्दी-नवरत्न (मिश्रबंधु) हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) हिन्दी भाषा और साहित्य (श्यामसुन्दर दास) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (हरिऔध) हिन्दी साहित्य का इतिहास (डा० राम शंकर शुक्ल 'रसाल') आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (कृष्ण शंकर शुक्ल) आदि।

५—आलोचनात्मक ग्रन्थ : भारतेन्दु-युग (डा० रामविलास शर्मा) भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : एक अध्ययन (डा० रामरतन भटनागर) ब्रजभाषा-काव्य की विभूतियाँ (देवेन्द्रनाथ शर्मा) ब्रज-भाषा के नवरत्न (कृष्णकुमार सिन्हा) इत्यादि ।

६—खोज-कार्य की रिपोर्ट-नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग तथा बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद की खोज-कार्य सम्बन्धी रिपोर्टें ।

७—सन्दर्भ-ग्रन्थ : हिन्दी साहित्य कोष, हिन्दी-सेवी-संसार, हिन्दी पुस्तक-साहित्य, हिन्दी का उच्चतर साहित्य-इत्यादि ।

८—अभिनन्दन-ग्रन्थ : कन्हैयालाल पोद्दार, 'हरिऔध', जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' तथा रामलोचन शरण बिहारी को समर्पित अभिनन्दन-ग्रन्थ ।

९—विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रस्तुत किये गए शोध-प्रबन्ध : डा० लक्ष्मी-सागर वार्ष्णेय, डा० श्री कृष्णलाल, डा० केशरीनारायण शुक्ल, डा० सुधीन्द्र, डा० कपिलदेव सिंह, डा० शितिकंठ मिश्र, डा० पुतूलाल शुक्ल, डा० शिवप्रसाद सिंह आदि के शोध-प्रबन्ध ।

१०—साहित्य-शास्त्र संबंधी ग्रन्थ : रसकुसुमाकर (प्रताप नारायण सिंह) रस-कलस (हरिऔध) साहित्य-सागर (बिहारी ब्रह्मभट्ट) ब्रजभाषा-साहित्य में नायिका भेद (प्रभुदयाल मीतल) ब्रजभाषा-काव्य में षट-ऋतु-वर्णन (प्रभूदयाल मितल) नवरस (बाबू गुलाबराय) रस-रत्नाकर (पण्डित हरिशंकर शर्मा) इत्यादि ।

११—पत्र-पत्रिकाएँ : सुकवि, कवि, काव्य-कलाधर, काव्य-सुधाधर, सुधा, माधुरी,सरस्वती, इन्दु, मनोरमा, भारत-जीवन, रसिक मित्र, हिन्दोस्थान, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, हिन्दी अनुशीलन इत्यादि ।

पर, प्रकाशित सामग्री की स्वल्पता और उसमें भी अभीष्ट सामग्री की विरलता का मुख्य कारण ब्रजभाषा के प्रति साहित्यिक समाज की उदासीनता है, जिसके परिणाम स्वरूप आज भी ब्रजभाषा की अनेक उत्कृष्ट कृतियों को प्रकाशन के प्रकाश में आने का सौभाग्य ही नहीं मिल पाता है। खेद तो तब होता है, जब हम डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', अनूप शर्मा, अखिलेश त्रिवेदी जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की अधिकांश ब्रजभाषा कृतियों को अप्रकाशित पाते हैं ।

प्रकाशित सामग्री के संकलन कार्य में एक बाधा यह उपस्थित हुई कि अनेक रचनाओं के नाम तो सुने जाते थे पर ढूंढने पर वे अलभ्य ही सिद्ध होती थीं । प्राक् भारतेन्दु और भारतेन्दु-युग की अधिकाँश सामग्री की यही दशा है । इसका कारण यह है कि या तो उन पुस्तकों के दूसरे संस्करण हुए ही नहीं और यदि हुए भी हैं तो प्राचीन पोथियों के रूपमें कुछ गिने चुने व्यक्तियों की धरोहर हैं । आज से लगभग

६०–७० वर्ष पूर्व मुद्रण-कला की आरम्भिक अवस्था होने के कारण, इन प्रकाशित पुस्तकों का कागज भी बहुत रद्दी होता था। अतः ऐसे कागज पर छपी हुई पुस्तकें अधिक दिनों तक सुरक्षित नहीं रक्खी जा सकती थीं। कुछ पुस्तकें तो लीथो में छपी हैं। ऐसी स्थिति में बहुत कुछ प्रकाशित साहित्य भी अप्राप्य सा ही है। उदाहरण के लिए सुन्दरी सर्वस्व, अनुराग सरोवर, कुविजा पच्चीसी आदि की प्रतियां इन दिनों लगभग अलभ्य सी ही हैं। इसी प्रकार सीतापुर जिले के अन्तर्गत बिसवाँ नामक स्थान से निकलने वाला कविता प्रधान मासिक पत्र-काव्य-सुधाधर, और 'सुकवि' से पहले गोरखपुर से निकलने वाले-'कवि' नामक मासिक पत्र की फाइलें आज सभा और सम्मेलन के पुस्तकालयों में भी अप्राप्य हैं। इस प्रकार प्रकाशित सामग्री, जो आज के शोध कार्य की प्रधान आधार शिला होती है, की कमी आरम्भ से ही खटकती रही है। जहाँ तक अप्रकाशित सामग्री का सम्बन्ध है वह मुख्यतः मूल रचनाओं के रूप में प्राप्त है। समीक्षात्मक रूप से एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और वह स्वभाविक भी है क्योंकि यह अप्रकाशित सामग्री जिस युग की है उसमें आधुनिक अर्थ में 'समीक्षा' कही जाने वाली परम्परा का विकास ही नहीं हो पाया था। लक्षण ग्रन्थों (साहित्य शास्त्र) को छोड़ कर लक्ष्य ग्रन्थों या स्फुट काव्य के पर्यालोचन की प्रणाली प्रचलित ही नहीं हो पाई थी। मूल काव्य-ग्रन्थ भी हस्त-लिखित पोथियों के रूप में, केवल दो प्रकार से उपलब्ध हैं—एक तो ऐसे स्थानों पर जैसे सार्वजनिक पुस्तकालय, शोध संस्थान, विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय आदि-जहां से वे सुगमता पूर्वक मिल सकते हैं और दूसरे-ऐसे व्यक्तियों के पास या ऐसे स्थानों में जहां उनके दर्शन करना भी कठिन है। मन्दिरों, राज्य पुस्तकालयों, धार्मिक सम्प्रदायों के केन्द्रों आदि में बिखरी सामग्री की यही दशा है। यही नहीं, बहुत से रूढ़ि-भक्त, प्राचीनता-पन्थी लोगों के यहां पीढ़ी-दर-पीढ़ी से उपलब्ध पूजाकी सामग्री के रूप में अनेक हस्थलिखित ग्रन्थ आज भी दूसरों के स्पर्श से वर्जित माने जाते हैं और काफी अनुनय-विनय करने पश्चात भी ऐसे लोग कम ही दयालु होते देखे गये हैं। आलोच्य काल के कवियों में से 'रंगपाल', 'दीन' 'खेराबादी', 'द्विज बल्देव' और उनके ज्येष्ठ पुत्र 'द्विज गंग' के कई ग्रन्थ-रत्न मुझे इसी प्रकार अनुनय-विनय के पश्चात देखने-मात्र को प्राप्त हो सके। उनकी फोटो लेने तथा प्रतिलिपि करने का अनुमान मात्र भी उन ग्रन्थों के स्वामियों की दृष्टि में मानो उनकी पुरातन पावनता को अपावन कर देने का धृष्टता पूर्ण प्रयत्न था।

साहित्य की लुप्त प्राय सामग्री के संग्रह की दिनों दिन बढ़ती प्रवृत्ति के फल-स्वरूप अब इन निर्मम ग्रन्थ-स्वत्वाधिकारियों के मन में दया और उदारता का भाव उमड़ रहा है और बहुत सम्भव है कि निकट भविष्य में छिपी-छिपाई सामग्री प्रकाश में आ सके। तभी उपेक्षिता ब्रजभाषा का व्यवस्थित और सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा

जा सकेगा। कवियों के मुख से सुनी हुई या प्रार्थना करने पर उनके द्वारा लिखित रूप में प्रेषित सामग्री का सुलभ होना—प्रस्तुत विषय को अधिकाधिक सर्वांग सुन्दर बनाने में सहायक हो सका है। पर ऐसी सामग्री की कुछ निश्चित सीमाएँ हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सम्मिलित वर्तमान कवियों की संख्या अपेक्षाकृत थोड़ी है। उनकी भाव-धारा, रचना-शैली आदि के विषय में अभी तक अन्तिम रूप से कुछ कहना समीचीन न होगा, क्योंकि वे अभी विकास के मार्ग पर हैं। भविष्य में उनका क्या रूप होगा यह भी कल्पनातीत है। फिर भी, अपनी सीमित परिधि को ध्यान में रखते हुए जिन कवियों को सम्मिलित किया गया है, व्यक्तिगत रूप से उनके पास जाकर अधिकाधिक अभीष्ट सामग्री जुटाने तथा उसके मूल्याङ्कन का प्रयत्न किया गया है।

इस दिशा में किये गये अद्यतन प्रयत्न

गद्य-प्रधान खड़ी बोली के इस युग में ब्रजभाषा और ब्रजभाषा ही क्या ब्रजभाषा-कविता की चर्चा निश्चय ही उपेक्षा की वस्तु रही है। हिन्दी साहित्य का सर्वांगीण इतिहास लिखने वालों को तो ब्रजभाषा काव्य का अपरिहार्य रूप से विवेचन करना पड़ता था क्योंकि विगत तीन कालों में उसका प्राधान्य रहा था। पर आधुनिक काल का उल्लेख आते ही ब्रजभाषा काव्य की विवेचना सहृदय-से सहृदय इतिहास लेखक और समीक्षक के लिये भी कठिन प्रतीत होने लगती थी, और वह मन-बे-मन कवियों की नामावली गिनाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेता था। यह एक कटु सत्य है, जिसका उल्लेख करते हुए आज के विवेक शील से विवेक शील समालोचक सहमते हैं। वस्तुतः तासीं और ग्रियर्सन से लेकर गुलाबराय तक हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की जो परम्परा रही है, उसका सूक्ष्म विश्लेषण इस कटु परन्तु यथार्थ कथन का साक्षी है।

आज जहाँ आधुनिक खड़ी बोली के विभिन्न अंग-उपांगों पर अनेक आलोचना-ग्रन्थ लिखे जारहे हैं, आधुनिक युग की ब्रजभाषा-कविता का कोई नाम लेने वाला तक नहीं है। अतः इस प्रकार के प्रयत्नों का अभाव ही अधिक स्वाभाविक है। ब्रजभाषा-कविता के महत्व के प्रतिपादन का श्रेय इस युग में सर्व प्रथम मिश्रबन्धुओं को प्राप्त है। उनके पश्चात पंडित कृष्णबिहारी मिश्र, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', प्रभुदयाल मीतल, कृष्णदत वाजपेयी आदि के प्रयत्न भी इस दिशा में पर्याप्त प्रशंसनीय हैं। पर आधुनिक काल में ब्रजभाषा-कविता की व्यवस्थित रूप से चर्चा करने का श्रेय आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को ही दिया जा सकता है। उनके द्वारा लिखित हिन्दी साहित्य के इतिहास का ही अनुकरण अन्य इतिहास-ग्रन्थों में हुआ है। वैसे तो आधुनिक काल के विषय में समीक्षा-ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा०श्रीकृष्ण लाल, डा० केशरी नारायण शुक्ल, डा० सुधीन्द्र आदि ने अपने-अपने ढंग

से ब्रजभाषा कविता की गतिविधि का उल्लेख किया है, पर इस दिशा में आचार्य शुक्ल की परम्परा को उनके सुयोग्य शिष्य—श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने अपेक्षाकृत आगे बढ़ाया और जहाँ आचार्य शुक्ल ने पुरानी धारा के लगभग २० कवियों का उल्लेख किया था, कृष्णशंकर जी ने अपने ग्रन्थ-'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' में ६६ पृष्ठों में लगभग ३० कवियों का समीक्षात्मक विवेचन किया है। आरम्भ से लेकर अन्त तक उनकी आलोचना-दृष्टि बड़ी सहृदयतापूर्ण रही है और उनके कुछ निष्कर्ष बहुत ही उत्साहप्रद हैं। उदाहरण के लिए—उनका यह मत, कि ब्रजभाषा के काव्य-क्षेत्र से एकदम बहिष्कृत हो जाने के लक्षण अभी तो दिखाई नहीं पड़ते[1]—उनके गुरु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति ही उत्साहबर्द्धक है, जिन्होंने अपने ग्रन्थ—'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में यह लिखा था कि ब्रजभाषा-काव्य परम्परा इस प्रकार जीती-जागती चल रही है, यह हमारे वर्तमान कवि सम्मेलनों में देखा जा सकता है[2]।

हां, इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल के इतिहास से भी ६ वर्ष पूर्व प्रकाशित वियोगी हरि के ब्रजमाधुरी-सार का विशेष महत्व है, जिसमें उन्होंने ब्रजभाषा-काव्य के पृथक परिचय तथा उसके कवियों की रचनाओं का रसास्वादन कराने का प्रयत्न किया था, यद्यपि उसमें प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी कवियों की रचनाएं संकलित हैं। परन्तु आधुनिक ब्रजभाषा कविता को ही लेकर सबसे पहला प्रयत्न संवत् २००२ में रायबहादुर शुकदेव बिहारी मिश्र और डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' द्वारा सम्पादित 'आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य' के रूप में प्रस्तुत हुआ, जो प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए ब्रजभाषा-कविता की पाठ्य-पुस्तक के रूप में लिखा गया था। यद्यपि मुख्यतः छात्रोपयोगी होने के कारण इस पुस्तक के सम्पादकों की कुछ विशिष्ट सीमाएं थी (जैसे अधिक गूढ़ और दुरूह, मिश्रित ब्रजभाषा में लिखित, तथा छात्र-छात्राओं के बीच निस्संकोच ढंग से न पढ़ाई जा सकने वाली कविताओं को इस संकलन में सम्मिलित न करना) परन्तु 'प्राक्-वचन' के रूप में लिखित इस पुस्तक की आरम्भिक भूमिका में डा० 'रसाल' ने आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य पर जो समीक्षात्मक प्रकाश डाला है, वह निश्चय ही आगे चलकर इस क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों का मार्ग-प्रदर्शन करेगा। इस ग्रन्थ की दो बड़ी कमियाँ यह हैं कि एक तो इसमें भारतेन्दु को सम्मिलित न करके 'प्रेमघन' को प्रथम कवि के रूप में लिया गया है और दूसरे केवल आधी शताब्दी-स्थूलतया संवत् १९४७ से लेकर १९९९ विक्रमी तक की अवधि ही विवेच्य मानी गई है। फिर भी इस क्षेत्र में प्रथम व्यवस्थित प्रयास के रूप में यह संकलन बहुत महत्वपूर्ण है।

[1]आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (कृष्णशंकर शुक्ल) सं० पृष्ठ ३१
[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) दसवां परि० सं० पृष्ठ ५८७

दूसरा प्रयत्न पूरे तेरह वर्ष बाद पंडित कृष्णदत वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'ब्रज का इतिहास' (द्वितीय खंड) नामक ग्रन्थ के 'ब्रज का आधुनिक साहित्य' नामक पांचवें अध्याय में दिखाई पड़ता है, जहां ५२ पृष्ठों में लेखकद्वय-कृष्णदत वाजपेयी तथा रामनारायण अग्रवाल ने अनेक परिचित-अपरिचित, महत्वपूर्ण और महत्वहीन ब्रजभाषा कवियों का सोदाहरण परिचय प्रस्तुत किया है। यह प्रयास अपने आप में स्तुत्य होते हुए भी कई दोषों से युक्त है-यथा कवियों में मुख्यत: ब्रज-प्रदेश के कवियों का समावेश और नामावली के विस्तार की ओर अधिक, पर रचना-समीक्षा की ओर कम ध्यान देना। वास्तव में, ब्रज-साहित्य-मण्डल, मथुरा द्वारा ही कुछ दिन पहले प्रकाशित-'पोदार-अभिनन्दन-ग्रन्थ'-के हेतु श्री राम नारायण अग्रवाल के 'ब्रजभाषा के आधुनिक कवि' लेख का ही यह परिवर्द्धित रूप है। वैसे, पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ के विभिन्न लेखों में आधुनिक ब्रजभाषा काव्य से सम्बन्धित पर्याप्त उपादेय सामग्री है, जिसमें डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा द्वारा लिखित 'आधुनिक ब्रजभाषा के कुछ कवियों का परिचय' शीर्षक लेख ब्रजभाषा के आधुनिक परन्तु उपेक्षित कवियों को प्रकाश में लाने की दिशा में एक अभिनंदनीय प्रयास है।

आधुनिक ब्रजभाषा काव्य के युग-विशेष या अंग-विशेष पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थों में भारतेन्दु के दौहित्र-बाबू ब्रजरत्न दास का 'भारतेन्दु मंडल', डाक्टर रामविलास शर्मा का 'भारतेन्दु-युग', तथा डा० किशोरीलाल गुप्त का 'भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि' विशेष उल्लेखनीय हैं। विषय-वस्तु, प्रतिपादन शैली तथा सामग्री संकलन की दृष्टि से ये पुस्तकें विवेच्य युग पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। इधर कुछ वर्षों पहले श्री अविनाशचन्द्र अग्रवाल को उनके 'भारतेन्दु-युग' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि मिली है। पर यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखक ने बाबू ब्रजरत्नदास की कृपा से डा० अग्रवाल के उक्त शोध-प्रबन्ध की टंकित-प्रति को पढ़कर भी पर्याप्त लाभ उठाया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि इसमें भारतेन्दु-युग के सम्बन्ध में प्राप्त सभी उपलब्ध सामग्री का लाभ उठाकर समीक्षात्मक विवेचन किया गया है।

ब्रजभाषा काव्य पर स्वतन्त्र रूप से लिखित ग्रन्थों में श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा लिखित 'ब्रजभाषा की विभूतियां' और उसी के अनुकरण पर श्री कृष्णकुमार सिन्हा की पुस्तक 'ब्रजभाषा के नवरत्न' में आधुनिक काल के केवल तीन ही कवियों-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' को सम्मिलित कर उनके जीवनवृत तथा कवित्व पर समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार श्री प्रभुदयाल मीतल लिखित 'ब्रजभाषा साहित्य में ऋतु वर्णन' तथा 'ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद' नामक ग्रन्थ भी अपने सीमित क्षेत्र को लेकर अच्छे

बन पड़े हैं। यहाँ, ब्रजभाषा और खड़ी बोली विवाद के विषय में डा० कपिलदेव सिंह और डा० शितिकण्ठ मिश्र के क्रमशः आगरा और काशी विश्वविद्यालयों में प्रस्तुत 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' तथा 'खड़ी बोली का आन्दोलन' नामक शोध-प्रबन्धों की चर्चा भी उल्लेखनीय है। ये दोनों ग्रन्थ आंशिक रूप से आधुनिक ब्रजभाषा कविता के कई महत्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। डा० कपिलदेवसिंह ने इधर हाल ही में 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य की भूमिका' (१९५९ ई०) नामक पुस्तक में ब्रजभाषा के आद्योपान्त साहित्य पर प्रकाश डालने के साथ ही आधुनिक युगीन ब्रज-भाषा काव्य का भी संक्षिप्त परिचय दिया है।

इस प्रकार उपरोक्त सर्वेक्षण से पता चलता है कि आधुनिक ब्रजभाषा काव्य पर अब तक किसी सुव्यवस्थित समीक्षात्मक ग्रन्थ की कमी है। आंशिक रूप से केवल भारतेन्दु युग के विषय में सामग्री उपलब्ध है, अन्यथा प्राक्-भारतेन्दु और उत्तर-भारतेन्दु युग पर समुचित सामग्री का अभाव ही है। हां, यदा कदा पत्र-पत्रिकाओं में आधुनिक ब्रजभाषा-कविता या कवियों के सम्बन्ध में छुट-पुट लेख अवश्य प्रकाशित होते रहते हैं।

यह प्रयास प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध उपरिनिर्दिष्ट कमी को पूर्ण करने की दिशा में ही एक प्रयास है। वस्तुतः कई अधिकारी साहित्यिकों और विद्वानों[1] के प्रमाणिक ग्रन्थों में यह पढ़कर कि ब्रजभाषा के दिन तो अब लद चुके—वह तो इने-गिने दिनों की मेहमान है इत्यादि मुझे ऐसा लगा मानो यह तो ब्रजभाषा के साथ घोर अन्याय है। एक ओर तो मैं यह देखता था कि सन् ३० से ५० तक उत्तर प्रदेश तथा अन्य हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के नगरों में होने वाले कवि-सम्मेलनों में ब्रजभाषा कविता का पूरा रंग जमता था, 'सुकवि' तथा 'काव्य-कलाधर' नामक पत्रों में प्रकाशित ब्रजभाषा की कतिपय प्रबन्धात्मक तथा मुक्तक रचनाएं नवयुग की भावना से स्पंदित होने के साथ-साथ काव्यकला की दृष्टि से श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्राचीन और आधुनिक युग के खड़ी बोली के कवियों से टक्कर लेती थीं-तो मन को गहरी व्यथा होती थी। इधर तीन चार दशकों में ही ब्रज-भारती[2], दुलारे-दोहावली[3], वीर सतसई[4], शवरी[5] तरंगिणी[6], करुण सतसई[7], दैत्यवंश[8], अभिमन्यु वध[9], आदि उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रकाशन से प्रोत्साहित होकर मेरी यह धारणा उत्तरोत्तर परिपुष्ट होती गई कि ब्रजभाषा काव्य परम्परा अभी तक प्राणवन्त तथा समसामयिक जीवन के प्रति जागरूक है। तर्क और विज्ञान के इस नीरस युग में उसका काव्य उस हरीतिमाच्छादित सरस-

---

[1]पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त, पण्डित रामनरेश त्रिपाठी, डा० धीरेन्द्र वर्मा इत्यादि। [2]उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश', [3]दुलारेलाल भार्गव, [4]वियोगी हरि, [5]वचनेश मिश्र, [6]किशोरीदास वाजपेयी, [7]रामेश्वर 'करुण', [8]हरदयालु सिंह, [9]रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'।

शीतल 'ओसिस' के समान है जहां दग्ध मन को शांति एवं सुख की तरल-तरंगिणी के नहीं तो मन्थर गति से प्रवाहित रस-निर्झरिणी के अवश्य दर्शन होते हैं। अतः ऐसी उदार तथा रसदायिनी ब्रजभाषा के प्रति इस युग के अनुरूप अनुदारता न बरतने के उद्देश्य से मैंने प्रस्तुत विषय 'हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में ब्रज-काव्य का विकास' अपने शोध-कार्य के लिये चुना और यह शोध-प्रबन्ध उसी का परिणाम है।

अपने इस शोध-प्रबन्ध में मेरी निम्नलिखित मान्यताएं हैं :—

१—कि ब्रजभाषा की काव्यधारा आज भी निरंतर तथा अजस्र गति से प्रवाहित है और प्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में भी आज सहस्त्रशः कविगण अपनी मार्मिक रचनाओं द्वारा उसकी श्री-वृद्धि में योगदान दे रहे हैं।

२—आधुनिक व्रज-काव्य की भाषा आज अप्रतिम रूप से परिमार्जित, प्रौढ़ तथा व्यवस्थित है और उसमें अभिधा शक्ति के साथ-साथ लक्षणा और व्यजंना का भी प्रचुर समावेश हो चुका है।

३—वह सभी रसों को सफलतापूर्वक व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ है।

४—वह विगत से प्रेरणा ग्रहण करके भी वर्तमान के प्रति सम्यक् जागरूक है।

५—वह वादों के विवाद से प्रथक रहकर स्वस्थ साहित्य के सृजन में लीन है।

६—वह भारतीय साहित्य की प्रमुख विशेषता—समन्वय-साधना की सहज प्रतीक है।

७—उसमें संकीर्णता को त्याग कर व्यापकता की ओर बढ़ने की ओर रूढ़ि के परिष्कार की विपुल क्षमता वर्तमान है।

८—वह मानव-प्रकृति और वाह्य-प्रकृति के सूक्ष्म तत्त्वों को परख कर उन्हें कलात्मक ढँग से व्यक्त करने की सहज शक्ति रखती है।

इस शोध प्रयत्न में मेरा यही प्रयत्न रहा है कि उपर्युक्त मान्यताओं के प्रमाण पुष्ट प्रतिपादन के लिए एक शताब्दी की विपुल काव्य-सम्पदा का सर्वेक्षण करके कुछ निश्चित निष्कर्ष प्रस्तुत किये जायें। इसी प्रयत्न के फलस्वरूप लिखे गये इस शोध-प्रबन्ध में जो कुछेक मौलिक और नूतन स्थापनाएँ प्रस्तुत की जा सकी हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१—ब्रजभाषा-काव्य के संपूर्ण इतिहास का —(अ) प्रेरक-स्रोत (आ) प्रमुख प्रवृत्ति (इ) सापेक्षिक साहित्यिक स्थिति (ई) काल-क्रम आदि चार आधारों पर काल-विभाजन।

२—इसी प्रकार विक्रम की २० वीं शताब्दी अर्थात् आधुनिक काल का तीन

स्पष्ट युगों– (अ) प्राक्-भारतेन्दु (आ) भारतेन्दु (इ) उत्तर-भारतेन्दु – में विभाजन, जो खड़ी बोली कविता के आधुनिक काल- विभाजन से मूलतः भिन्न है।

३– अनेक ऐसे अज्ञात अथवा अल्प-ज्ञात कवियों की साहित्यिक विशेषताओं का उद्‌घाटन, जिनके विषय में हिन्दी साहित्य के प्रचलित इतिहास-ग्रन्थ प्रायः मौन हैं।

४– एक शताब्दी की विपुल काव्य-सम्पदा का अनेक परिप्रेक्ष्यों से निरीक्षण-परीक्षण तथा मूल्यांकन।

५– अनूदित काव्य -साहित्य, पल्लवित काव्य, रूपान्तरित काव्य, समस्यापूर्ति– आदि का काव्य-क्षेत्र में प्रथम बार महत्व-स्थापन।

६– आधुनिक खड़ी बोली कविता के भाव, भाषा तथा शैली पर ब्रजभाषा कविता के प्रभाव का प्रथम बार विस्तृत विवेचन।

इस प्रकार मेरा यह प्रयत्न अपनी मौलिकता के लिये नहीं अपितु नवीनता के लिये सार्थक होगा और इसकी यत्किंचित उपयोगिता उन काव्य-प्रेमियों और अनुसन्धित्सुओं के लिए होगी, जो आगे चलकर इस क्षेत्र में कार्य करने के इच्छुक होंगे। वास्तव में, मेरा यह प्रयत्न उपेक्षितों के उद्धार के इस युग में कोरे ज्ञानार्जन और ज्ञान-वृद्धि का साधन मात्र न होकर, ब्रजभाषा कविता के प्रति मेरी हार्दिक कृतज्ञता का प्रतीक है, और है, मेरे पूर्ववर्ती साहित्यकारों और साहित्य-समीक्षकों द्वारा उसके प्रति किये गये अन्याय का आन्तरिक प्रायश्चित।

यह शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करते हुए मैं विवेच्य विषय की व्यापकता और अपनी सीमाओं से भी पूर्ण-रूपेण अवगत हूँ। यदि सम्पूर्ण शताब्दी के स्थान पर आधी या चौथाई शताब्दी की अवधि में व्याप्त ब्रजभाषा-काव्य की गति-विधि प्रतिपाद्य होती, तो अवश्य विषय का विवेचन अधिक सूक्ष्मता और गहराई से हो सकता। पर एक बार निश्चय किए हुये विषय में परिवर्तन न तो सम्भव ही था और न वाञ्छनीय ही। इसी कारण विवेच्य विषय को लेकर जैसा कुछ भी सम्भव हो सका है, सामने है।

द्वितीय अध्याय

ब्रजभाषा-काव्य का विकास
एवं
विशेषताएँ

मध्यदेशीय भाषा की परम्परा और ब्रजभाषा का विकास

ब्रजभाषा-कविता के विकास की गति-विधि को परखने के लिये सर्व प्रथम ब्रजभाषा के उद्भव और प्रवर्तन का पता लगाना आवश्यक है, क्योंकि भाषा ही वह पहला रूप है, जो कालान्तर में गद्य से विकसित और परिष्कृत होकर पहले पद्य और तत्पश्चात कविता का स्वरूप ग्रहण करता है।

किसी भी भाषा का प्रवर्तन किसी दैवी कारण या आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं होता है। उसके पीछे अनेक मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और साँस्कृतिक तत्व रहते हैं। अतः ब्रजभाषा के उद्भव और विकास का क्रम खोजने के लिये हमें इतिहास और भाषा-शास्त्र के आलोक में देखना होगा।

भारत की सबसे प्राचीन भाषा का रूप हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य का संपादन और नियोजन महर्षि वेदव्यास ने उस मध्यदेश में किया, जो अपनी विशिष्ट भौगोलिक और राजनीतिक स्थिति के कारण सदैव भारतीय संस्कृति का केन्द्र रहा। इसी प्रदेश की भाषा समस्त देश पर छाई रही। कालान्तर में कुछ तो आर्यों की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के भाषा-वैभिन्य के कारण और कुछ आर्येत्तर संस्कृति के मिश्रण से उक्त वैदिक साहित्य को 'क्लासिकल' संस्कृत का स्वरूप प्राप्त हुआ। इसी से आगे चलकर प्राकृत भाषायें उद्भूत हुईं और इनमें भी मध्यदेश की ही शौरसेनी प्राकृत को प्रधानता मिली। कुछ समय पश्चात विभिन्न अपभ्रंशों का युग आया और यहाँ भी मध्यदेशीय भाषा की प्रधानता के परिणाम स्वरूप शौरसेनी अपभ्रंश को सबसे अधिक महत्व मिला। वर्तमान आर्य-भाषायें इन्हीं विभिन्न अपभ्रंशों की प्रत्यक्ष उत्तराधिकारिणी के रूप में सम्मुख आईं और शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित ब्रजभाषा को, अपनी पूर्व परम्परा के अनुसार ही समस्त उत्तर भारत की सबसे महत्वपूर्ण भाषा होने का गौरव मिला।

इस प्रकार मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण परम्परा को स्वाभाविक रूप में ग्रहण कर ब्रजभाषा एक दीर्घव्यापी अवधि तक अपने अनेक भाषा-वैज्ञानिक गुणों क कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत की एकछत्र साहित्यिक भाषा बनी रही। आगे, हम इसी दीर्घकालीन साहित्यिक परम्परा का ऐतिहासिक विवेचन तथा काल-विभाजन करने का प्रयत्न करेंगे।

ऐतिहासिक विवेचन

लगभग १०-१२ शताब्दियों की व्यापक परिधि में फैली हुई ब्रजभाषा काव्यपरम्परा की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि समझने के लिये उसके समग्र रूप को ग्रहण करना न तो सम्भव ही है और न समीचीन ही। अतः सुविधा के लिये उसे विभिन्न कालों में विभक्त करना पड़ेगा। परन्तु काल विभाजन के भी आधार एक न होकर अनेक होते हैं। कुछ लोग प्रमुख रचनाकार या प्रेरक व्यक्तित्व के नाम पर, कुछ साहित्यिक उत्कर्षापकर्ष की स्थिति के आधार पर, कुछ प्रवृत्ति विशेष को दृष्टिपथ में रखकर और कुछ अन्य महानुभाव निरे कालक्रमानुसार काल-विभाजन करना ठीक समझते हैं। ऐसी स्थिति में इन चारों ही आधारों पर किया गया ब्रजभाषा-काव्य के इतिहास का काल-विभाजन बहुत कुछ इस प्रकार होगा :—

१—प्राक्-सूर काल	निर्माण-काल	संक्रान्ति-काल	आदि-काल	(१०००-१५००वि०)
२—सूर-काल	उदय-काल	भक्ति-काल	पूर्वमध्य-काल	(१५००-१७००वि०)
३—केशव-काल	उत्कर्ष-काल	श्रृंगार-काल	उत्तरमध्य-काल	(१७००-१९००वि०)
४—भारतेन्दु-काल	विकास-काल	यथार्थवादी काल	आधुनिक-काल	(१९००......)[1]

उपरोक्त काल-विभाजन में विभिन्न कालों की समयावधि, निश्चय ही, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के काल-विभाजन पर आधारित है, और उसका कारण यह है कि खड़ी बोली और ब्रजभाषा-दोनों में ही विभिन्न कालों की प्रवृत्तियां तो लगभग समान ही हैं। अन्तर केवल यह है कि उपरोक्त कालविभाजन करते समय केवल ब्रजभाषा काव्य की गतिविधि को दृष्टिपथ में रक्खा गया है। अवधी, मैथिली तथा खड़ी बोली आदि अन्य भाषाओं को छोड़ दिया गया है। इसी कारण शुक्ल जी के इतिहास में वीरगाथा काल के नाम से अभिहित युग को प्राक्-सूर काल की संज्ञा दी गई है, क्योंकि तुलसी के पश्चात सूर ही एकमात्र वह आलोक-पुन्ज हैं, जिन से तत्कालीन ब्रजभाषा-कविगण प्रेरणा की ज्योति ग्रहण करते हैं। सूर की भक्तिपरक काव्य-धारा के पश्चात श्रृंगार की काव्य-धारा के दर्शन होते हैं, जिसके प्रेरक-स्रोत के रूप में केशव हमारे सम्मुख आते हैं। उन्हें छोड़कर इस सम्पूर्ण धारा में कोई और ऐसा ज्वलन्त व्यक्तित्व नहीं है, जो कवित्व और आचार्यत्व की पृथक-पृथक शाखाओं का प्रवर्तक माना जा सके। इसी प्रकार आधुनिक काल के प्रवर्तक के रूप में भारतेन्दु का उल्लेख भी अपरिहार्य है।

अनेक भाव-धाराओं की विद्यमानता तथा उनमें भी परस्पर सापेक्षिक दृष्टि

---

[1]इसी संबंध में डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा किये गये काल-विभाजन के लिये उनकी पुस्तक 'ब्रजभाषा' और उसी को आधार मानकर डा० [illegible] द्वारा किये गये काल-विभाजन के लिये देखिये उनकी पुस्तक, 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य की भूमिका'—(पृष्ठ ३५.)

से किसी महत्वपूर्ण विचार-धारा के अभाव में १००० से १५०० विक्रमी तक की दीर्घकालीन अवधि को संक्रान्ति काल की संज्ञा दी गई है। वस्तुतः विभिन्न अपभ्रंशों और आधुनिक भारतीय भाषाओं के उदय के बीच में किसी स्पष्ट विभाजक रेखा के अभाव में तथा परस्पर भिन्न अनेक काव्य-धाराओं के अस्तित्व को ध्यान में रख कर, यह नाम बहुत अंशों में सार्थक ही होगा। भक्ति काल और शृंगार काल हमारे चिर-परिचित नाम हैं, जिनमें से प्रथम तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का ही दिया हुआ है और दूसरा उनके द्वारा दिये गये नाम 'रीतिकाल' का ही अधिक व्यापक तथा अधिकांश लब्ध-प्रतिष्ठ समीक्षकों द्वारा ग्राह्य अभिधान है।

प्रवृत्ति के आधार पर ब्रजभाषा-कविता के आधुनिक काल का नामकरण सबसे कठिन कार्य है। इस काल में शृंगार, भक्ति, वीर, हास्य आदि अनेकानेक रसों की धाराओं के विद्यमान होने ने, इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। पर इन सब परस्पर विभिन्न भाव-धाराओं के बीच एक ही साम्य-सूत्र प्रत्यक्ष दिखाई देता है और वह है यथार्थवादिता का मुखर स्वर। अतः अन्य किसी नाम की अपेक्षा इस काल को 'यथार्थवादीकाल' की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ।

काल क्रमानुसार किये गये विभाजन के नामकरण की सार्थकता स्पष्ट एवं स्वयं सिद्ध है।

काव्यगत उत्कर्षापकर्ष के आधार पर किये गये नामकरण के विषय में भी अधिक मत-वैषम्य की सम्भावना हो सकती है, क्योंकि वहां १००० से १५०० वि० तक के प्रथम काल को निर्माण काल की संज्ञा से अधिकांश को सहमति होगी पर १५०० से १७०० वि० तक के काल को अभ्युदय और १७०० से १९०० की अवधि को उत्कर्ष काल के नाम से सम्बोधित करना विवादास्पद हो सकता है। इसी प्रकार संवत १९०० से आज तक के आधुनिक काल को विकास-काल की संज्ञा देना भी मत-वैभिन्य का कारण बन सकता है। अतः इस सम्बन्ध में निवेदन है कि यह तो नितान्त आरम्भिक प्रयास है। भविष्य में अधिक प्रौढ़ तथा तर्क पुष्ट नामों के सुझाव प्रत्येक स्थिति में अभिनंदनीय होंगे।

उपरोक्त काल-विभाजन के अतिरिक्त एक शताब्दी की व्यापक परिधि में फैले हुये आधुनिक काल को भी उसके समग्र तथा अविभक्त रूप में देखना न तो सम्भव ही होगा और न समीचीन ही। अतः सुविधा के लिये उसे भी प्रवृत्तिगत आधार पर तीन विभिन्न युगों में विभक्त कर देना सुगम रहेगा। यह विभाजन कुछ इस प्रकार होगा:—

१—प्राक्-भारतेन्दु युग—सं० १९००-१९२५ वि० अर्थात सन् १८४३ से १८६८ई० तक

२—भारतेन्दु-युग—सं० १९२५–१९५० वि० अर्थात सन् १८६८ से १८९३ ई० तक

३–उत्तर-भारतेन्दु युग[1]—सं० १९५०-२०००वि० अर्थात सन् १८९३ से १९४३ई० तक

जहाँ तक उक्त युगों के नामकरण का प्रश्न है, प्रथम दो की संज्ञा तो हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के जनक-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाम पर संगत और सर्व-मान्य ही है, पर तीसरे युग का नामकरण–'अमावेशालिचूर्णकम्' की स्थिति में किया गया है। कारण यह कि अर्द्ध-शताब्दी के इस काल में ब्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में ऐसा कोई एक नाम खोजने पर भी नहीं मिलता है जो भारतेन्दु की ही भांति इस युग के कवियों के लिये प्रत्यक्ष प्रेरणा का स्रोत रहा हो। कहने को स्वर्गीय जग-न्नाथदास 'रत्नाकर' तथा सुकवि – सम्पादक – गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' के नाम प्रस्तुत किये जा सकते हैं, पर अपने-अपने व्यक्तिगत कृतित्व में महान होते हुये भी उक्त दोनों महानुभाव क्या सच्चे अर्थों में समसामयिक ब्रजभाषा-कविता के सामूहिक रूप से प्रेरणा स्रोत रह सके हैं—ऐसा मानने में संकोच ही अधिक होता है। ऐसी स्थिति में इस युग को उत्तर-भारतेन्दु-युग का नाम देना ही अधिक निरापद और समीचीन प्रतीत हुआ।

जहाँ तक काल-विभाजन की बात है भारतेन्दु को केन्द्र मानकर उनके जन्म अर्थात संवत् १९०७ (तदनुसार सन् १८५०) से उनकी प्रथम रचना प्रकाशित होने तक के २५ वर्ष के काल को प्राक्-भारतेन्दु युग में समाविष्ट कर दिया गया है। उनके निधन अर्थात् सम्वत् १९४२ (तदनुसार सन् १८८५) में ८ वर्ष का प्रत्यक्ष प्रभावाभि-भूत समय मिलाकर २५ वर्ष अर्थात् सम्वत् १९५० (तदनुसार सन् १८९३) तक भारतेन्दु युग की सीमा मान ली गई है, जबकि खड़ी बोली कविता में इस युग की परिधि को ७ वर्ष और बढ़ाकर सम्वत् १९०० तक स्वीकार किया जाता है। सम्वत् १९०० से अब तक के युग को उत्तर-भारतेन्दु या वर्तमान युग से पुकारना अधिक उपयुक्त रहेगा। कहने को चाहें तो अर्द्ध-शती की व्यापक परिधि में फैले इस युग को भी मुख्यतः भाषा की भिन्नता के आधार पर 'रत्नाकर-सम्प्रदाय' और 'सनेही-सम्प्रदाय' में विभक्त कर सकते हैं। विशुद्धतावादी कविगण—डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', आदि रत्नाकर-सम्प्रदाय के अन्तर्गत और अवधी, खड़ी बोली आदि से प्रभावित ब्रजभाषा लिखने वाले कवि-गण—हरदयालु सिंह, राजेशदयालु, 'शारदरसेन्द्र', डा० जगदीश गुप्त, जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी' आदि को 'सनेही-सम्प्रदाय' के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है।

---

[1]डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने अपनी पुस्तक–'आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य'–के प्राक्-प्रवचन' में इस काल को पूर्वार्द्ध (स्थूलतया सम्वत् १९४७ से १९७२ तक) तथा उत्तरार्द्ध (सम्वत् १९७२ से १९९९ तक) दो भागों में बंटा है।

काल-विभाजन के पश्चात्, इसी प्रसंग में आरम्भिक तीन कालों की ऐतिहासिक स्थिति का विवेचन भी उपयुक्त होगा, क्योंकि साहित्य अथवा कविता के निर्माण के पीछे उसी की पृष्ठ-भूमि विद्यमान रहती है।

प्राक्-सूर या निर्माण काल——ऐतिहासिक दृष्टि से यह समय अस्तव्यस्तता तथा अव्यवस्था का था। केन्द्रीय सत्ता के दुर्बल पड़ जाने के कारण देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। इनके शासक राज्य विस्तार के लिए कम, पर सुन्दरी रमणियों की प्राप्ति के लिए अधिक लड़ते-झगड़ते रहते थे। सामान्य लोक-जीवन असुरक्षित था। किसी भी समय वाह्य या आन्तरिक आक्रमण की आशंका से आन्दोलित जन-मन किसी भी कला की उन्नति में योगदान करने में असमर्थ था। केवल राजदरबारों में रहने वाले कवि अपने आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए रमणी सौंदर्य की अतिरंजित चर्चा तथा उनके अहं की तुष्टि के लिए उनकी अत्युक्ति पूर्ण विरुदावलियां बखानते रहते थे। हाँ, जब कभी कोई छोटा-मोटा युद्ध हो जाता था तो 'मसि के धनी' कविगण भी 'असि के धनी' बन जाते थे और युद्ध की समाप्ति के पश्चात प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उन युद्धों तथा उसमें भाग लेने वाले अपने आश्रयदाताओं की वीरता का वर्णन करते थे। वस्तुतः इन वर्णनों में भी अत्युक्ति का ही पुट अधिक रहता था। इन राज्याश्रित कवियों के अतिरिक्त इस काल में कुछ जैन साधुओं तथा हिन्दू सन्तों ने अपनी नीति-उपदेशमयी रचनायें प्रस्तुत की हैं। इनकी साहित्यिकता के विषय में विभिन्न विद्वान अब तक एकमत नहीं हो पाये हैं। सत्य यह है कि युग की अशान्ति और अव्यवस्था इस समय की रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित है।

ब्रजभाषा-काव्य के दूसरे अर्थात सूर-काल के आते-आते राजनीतिक स्थिति बहुत सुदृढ होगई थी। अकबर की दूरदर्शी नीति के फलस्वरूप मुगल राज्य के विस्तार के साथ-साथ प्रशासनिक व्यवस्था, राजनीतिक सुरक्षा, सामाजिक शान्ति तथा आर्थिक समृद्धि की जड़ें जम चुकी थीं, जिसके परिणामस्वरूप यह समय कला-कौशल के अभ्युदय के अत्यधिक अनुकूल था। राज्याश्रित कवियों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो गई थी तथा स्वान्तःसुखाय रचना करने वालों की अधिकता हो चली थी। दिनों दिन बढ़ती हुई धार्मिक-सहिष्णुता के वातावरण में विभिन्न साधक-सन्तों को अपने-अपने ढंग से उपसना करने की छूट थी, जिसके फलस्वरूप उनकी रचनाओं में व्यक्तिगत निष्ठा के साथ-साथ लोक-हित की भावना के अधिकाधिक दर्शन होते थे। ब्रजभाषा-कविता में इस समय कृष्ण-भक्ति का स्वर सबसे प्रमुख था, जो अत्यधिक कोमल-कान्त-पदावली में संगीत का अवलम्बन लेकर न केवल हिन्दी भाषा-भाषी अपितु अन्य भाषाओं के प्रदेशों में भी द्रुतगति से प्रसरित हो रहा था।

शान्ति और सुव्यवस्था के परिणामस्वरूप राजा और प्रजा दोनों में अकर्म-

ण्यता और तज्जन्य विलासिता का प्राधान्य शृंगार-काल का मूलाधार था। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल की अपार शान्ति और समृद्धि में भक्ति की पावन धारा 'यथा राजा तथा प्रजा'—वाली लोकोक्ति के अनुसार शृंगार का रूप धारण कर सुखी थी और छोटे-बड़े सामन्तों की छत्र-छाया में पलकर कविता लोक-जीवन का स्वस्थ सम्पर्क छोड़ चुकी थी। किन्तु भाव-क्षेत्र की यह संकीर्णता कला-पक्ष में पैर न जमा सकी।। लौकिक वैभव के साथ-साथ कविता में भी काव्य-कला परक तथा रचना-शिल्पगत वैभव के दर्शन होते हैं। इसका अपरिहार्य परिणाम सामान्य जीवन में अतिशय सौन्दर्य-लिप्सा और रूपासक्ति तथा कविता में अतिशय अलङ्करण की प्रवृत्ति के रूप में सामने आया। नारी और उसकी शारीरिक सुन्दरता इन सब की आलम्बन बनी और इस प्रकार कवि-कर्म बहुत दिनों तक एक सीमित परिधि के बाहर न झाँक सका। कवित्व के साथ आचार्यत्व की धुन इस काल की एक अन्य विशेषता थी। संस्कृत कविता की अपकर्ष-कालीन प्रवृत्ति के अनुकरण पर हिन्दी कविता के क्षेत्र में भी यह परम्परा चल पड़ी थी कि लक्ष्य-ग्रन्थों के साथ-साथ लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन के पश्चात ही कोई कवि कविता के क्षेत्र में प्रवेश पाने का अधिकारी हो सकता था। परिणाम यह हुआ कि अधिकांश कवियों को अनिच्छापूर्वक उन लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन करना पड़ा, जिनकी रचना करने में न तो उनकी कोई रुचि थी और न जिसके लिए अपेक्षित प्रतिभा या योग्यता ही उनके पास थी। इस प्रकार शास्त्र कहे जाने वाले ऐसे अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ, जिनमें अप्रौढ़ लक्षणों के लिए उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त उदाहरण गढ़े गये। कालान्तर में यह प्रवृत्ति सहज कवि-कर्म पर इतनी प्रगाढ़ता से छा गई कि प्रकृति-वर्णन, रूप-वर्णन, भाव-चित्रण आदि में भी इसी का समावेश हो गया और कविता स्वानुभूति के आधार पर न लिखी जाकर परम्परा और शास्त्र के आलोक में लिखी जाने लगी।

परन्तु ऐसी परिस्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी। देश की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों में होने वाले परिवर्तन ने समसामयिक जीवन को भूलकर कविता करने वाले कवियों को विवश किया कि वे शीघ्र ही वास्तविकता की धरती पर उतरें। यह कार्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के द्वारा सम्पन्न हुआ। उनके नेतृत्व में केवल काव्य ही नहीं समग्र साहित्य ही विषमताओं भरी धरती पर उतरा और यहीं से—विक्रम की २०वीं शताब्दी के आरम्भ से हिन्दी साहित्य के इतिहास का आधुनिक काल समझना चाहिये।

आधुनिक काल को गद्यकाल की संज्ञा दी जाती है, और पिछली स्थिति को ध्यान में रखकर यह ठीक भी है। देश में नवीन जीवन के आविर्भाव के साथ-साथ साहित्य के क्षेत्र का भी नवीन करण हो चला था, जिसके परिणामस्वरूप अब केवल कविता के द्वारा नूतन युग की आशा-आकांक्षाओं का ठीक ढग से व्यक्त

होना कठिन ही नहीं वरन असम्भव लग रहा था। ऐसी स्थिति में गद्य की व्यापकता के साथ-साथ पद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली का महत्व बढ़ा। कुछ दिनों तो ब्रजभाषा और खड़ी बोली का संघर्ष चलता रहा। पर कालान्तर में युग की परिस्थितियों और समयानुकूल भाषाओं के महत्व-परिवर्तन के अनुसार ब्रजभाषा विस्मृत की जाने लगी। आज भूले-भटके ही समाचार-पत्रों, साहित्य-सम्मेलनों, विद्वत्परिषदों आदि में उसकी चर्चा होती है। पर सत्य यह है कि आज भी अधिकांश स्वान्तः सुखाय रचना करने वालों, श्रद्धालु-जनों, सूक्ष्म-काव्य, शिल्प के अनुरागियों के लिये उसीका माध्यम अधिक अनुकूल पड़ता है। साहित्य का इतिहास साक्षी है कि हिन्दी साहित्य के विगत तीन कालों में उसका एकछत्र साम्राज्य रहा था।

सहज-माधुर्य योरोप की विभिन्न भाषाओं की सापेक्षिक कोमलता और कठोरता के विषय में अंग्रेजी में एक बड़ी मार्मिक उक्ति प्रचलित है—

If you want to sing a song, sing in Italian,
If you want to woo a lady, do it in French
And if you want to abuse a man, do it in English.

अर्थात् यदि आप गाना चाहते हैं तो इटैलियन भाषा में गाइये, यदि किसी स्त्री से प्रेम प्रदर्शित करना चाहते हैं, तो उसके माध्यम के लिये फ्रेंच भाषा को चुनिये और यदि किसी को गाली देना है तो इसके लिये अंग्रेजी भाषा सबसे उपयुक्त रहेगी। यदि इसी तुलनात्मक उक्ति को हम भारत की विभिन्न भाषाओं के विषय में लागू करना चाहें तो कुछ इस प्रकार कहा जा सकेगा कि यदि आपको गीत गाना है, तो ब्रजभाषा या बंगला में गाइये, यदि किसी रमणी से प्रेमालाप करना है तो उर्दू का सहारा लीजिये और यदि किसी को गाली देनी है तो कन्नड भाषा का पल्ला पकड़िये। वस्तुतः भाषा की यह तुलनात्मक कोमलता या कठोरता अनेक कारणों पर अवलम्बित रहती है। भाषा-भाषी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति, वहाँ के निवासियों का स्वभाव और उनकी प्रकृति, भाषा के उद्गम रूप में उसकी पूर्ववर्ती भाषा की पदावली तथा परवर्ती कवियों की शब्द-चयन सम्बन्धी सुरुचि के द्वारा ही किसी भाषा की कोमलता या कठोरता निश्चित होती है। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाषा की धारा भी नदी की धारा के समान निरन्तर प्रवाहित होती रहती है और उद्गम के पास वाले प्रदेश के शत-शत प्रस्तर खंड एक दूसरे से टकराते तथा लुढ़कते पुढ़कते धारा के साथ सैकड़ों-हजारों मील की यात्रा करके समतल भू भाग तक आते-आते बहुत चिकने गोल-मटोल तथा सुन्दर बन जाते हैं। शब्द-समूह का इतिहास भी बहुत कुछ इन प्रस्तर-खण्डों से मिलता जुलता है। सैकड़ों वर्षों के प्रयोग के पश्चात उनकी कर्ण कटुता परोक्ष रूप से दूर होती रहती है और इस प्रकार वे भाषा को अधिकाधिक काव्योपयोगी बना देते हैं। यह कार्य अलक्ष्य रूप से साहित्य-

कारों तथा जस-साधारण-दोनों ही के द्वारा होता है पर इसमें साहित्यकारों का योग इस कारण अपेक्षाकृत अधिक होता है कि विशिष्ट दैवी प्रतिभा से युक्त होने के कारण वे श्रवण और नेत्रेन्द्रिय की विशेष शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

जहां तक ब्रजभाषा का सम्बन्ध है शौरसेनी प्राकृत और तज्जन्य शौरसेनी अपभ्रंश की देन के रूप में उसकी मधुर-प्रवृत्ति सहजात है। यदि संस्कृत को मधुर, शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश को मधुरतर कहा जायगा तो उससे उद्भूत ब्रजभाषा को मधुरतम के अतिरिक्त और कोई विशेषण नहीं दिया जा सकता है। इस प्रकार मूल परम्परा से प्राप्त ब्रजभाषा की सहज माधुरी को बढ़ाने में ब्रज-प्रदेश की प्राकृतिक तथा सामाजिक स्थिति ने गहरा योग दिया है। कलिन्दजा-कूल पर स्थित सुरम्य-कुन्जों तथा गिरि-गोवर्धन के हरे-भरे वन-उपवनों की नैसर्गिक सुषमा से संवलित यह प्रदेश अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध रहा है।[1] यहां के निवासी स्वभाव से ही अत्यधिक भावुक, श्रद्धावान, धार्मिक तथा राजनीतिक प्रपंचों से दूर रहने वाले हैं। कला-प्रेम और सौन्दर्य-वृत्ति उनके जीवन के अभिन्न अङ्ग रहे हैं। अपनी इन भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने भाषा के जिस रूप को अपनाया वह भी परम्परा-प्राप्त निसर्ग-माधुरी से मंडित थी। पर भाषा की इस प्रकृत माधुरी के अतिरिक्त कविता के क्षेत्र में जिन विशिष्ट प्रवृत्तियों ने ब्रजभाषा-काव्य को अतिशय माधुर्य से मंडित किया है, उनमें शृङ्गार-रस की प्रधानता सर्व-प्रमुख थी। कोमल रस होने के कारण शृङ्गार की व्यंजना के लिए तदनुकूल कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग अनिवार्य था। अत: ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और विभिन्न कवियों की रचनाओं के द्वारा साहित्य का भण्डार भरता गया, त्यों-त्यों भाषा अधिकाधिक काव्योचित तथा मधुर से मधुरतर होती चली गई। ब्रजभाषा के ये कविगण शब्द-चयन और विभक्ति-प्रयोग में जो स्वच्छन्दता प्रदर्शित करते थे, वह भी कालान्तर में इस भाषा की मधुरता को बढ़ाने में ही सहायक हुई है। तत्सम के स्थान पर अर्द्ध-तत्सम् तथा तद्भव शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति तथा एक-एक शब्द के कई-कई रूप प्रचलित होने के कारण, उनमें से अतिशय मधुर को चुनकर ही प्रयोग करने की परम्परा ने ब्रजभाषा के माधुर्य गुण को और अधिक बढ़ा दिया।

साहित्य-शास्त्र में भाषा के तीन गुण माने गये हैं :—प्रसाद, माधुर्य और ओज। पर कविता के क्षेत्र में प्रसाद और ओज की अपेक्षा माधुर्य को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा है और यह बात किसी एक देश या काल तक सीमित न रहकर सभी देशों और कालों में समान रूप से लागू होती है। कारण यह है कि

---

[1]पुर दिल्ली अरु ग्वालियर, बीच ब्रजादिक देस।
पिंगल उपनामक गिरा, तिनकी मधुर विसेस ॥ (सूर्यमल्ल)

प्रत्येक भाषा की वर्णमाला में कुछ व्यंजन श्रुति-मधुर और कुछ कर्ण-कटु होते हैं। कविता में और विशेषकर कोमल रसों की व्यजंना करने वाली कविता में उन्हीं वर्णों का विशेष प्रयोग किया जाता है, जो विशेष श्रुति-मधुर होते हैं। शब्द-चयन में कवि की यह जागरूकता ही माधुर्य-गुण को जन्म देती है। साहित्य दर्पण-कार के मत से ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर 'क' से लेकर 'म' तक के वर्ण तथा मूर्धन्य वर्ण और अन्त्य वर्णों के प्रयोग से माधुय गुण का सम्पादन होता है। किन्तु इस प्रकार की रचना समास-रहित या अल्प-समास होने पर ही माधुर्य गुण युक्त हो सकती है। ब्रजभाषा की सहज प्रवृत्ति समास-बहुलता की ओर नहीं है और जो कवि सामासिक शब्दावली के घटाटोप से उसकी सौन्दर्यवृद्धि करना चाहते हैं, वे वास्तव में उसकी मूल प्रकृति को नहीं पहचानते हैं। यही नहीं, ब्रजभाषा को संयुक्ताक्षरों को ग्रहण करने में भी संकोच रहा है और इस कारण उसमें उनको विभक्त करके तथा कोमल रूप में ढालने के पश्चात् ही प्रयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये ब्रजभाषा में शक्ति, भक्त और पद्म क्रमशः सकति, भगत और और पदम बन जाते हैं।

ब्रजभाषा की उकार और ओकार बहुला प्रवृत्ति भी उसकी मधुरता बढ़ाने में सहायक रही है। उदाहरण के लिये 'सांवला' और 'उदित' की अपेक्षा 'सांवरो' और 'उदीतु' निश्चय ही अधिक मधुर हैं। कुछ शब्दों के अन्त में कभी एक आकारान्त अक्षर जोड़ देने अथवा अन्तिम अक्षर को आकारान्त कर देने की प्रवृत्ति भी ब्रज-भाषा में देखी जाती है, जिससे उसके माधुर्य की निश्चय ही बृद्धि हो जाती है, नदी, नींद, जिय, हिय, नैन, बैन, मुख, सुअन, बादर (बादल) आंचर, (आंचल) आदि से इनके नदिया, निदरिया जियरा, हियरा, नैना, बैना, मुखड़ा, सुअना, बदरा, अंचरा आदि रूप निश्चय ही अधिक मधुर हैं।[1]

ब्रजभाषा की निसर्ग माधुरी में बृद्धि करने वाली प्रवृत्तियों में उसके कवियों की शब्द रूपों में यथावसर परिवर्तन कर लेने की प्रकृति भी एक है। आयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने इसे 'तसर्रुफ़ात शायरी' या 'पोइटिक लाइसेन्स' कहा है।[2] इस प्रवृत्ति ने जहां एक ओर अविवेकशील कवियों द्वारा कविता की भाषा में अरा-जकता की भावना को बढ़ावा देने में योग दिया है, वहीं दूसरी ओर विवेकशील तथा रस-सिद्ध कवियों द्वारा कविता की शब्दावली को रसानुकूल बनाने में बहुत सहायता दी है। वैसे तो कवयः निरंकुशाः की लोक प्रचलित उक्ति ही कवियों के उपरोक्त अधिकार का समर्थन करती है, पर कवि-कर्म अपने आप में इतना कठिन है कि गद्यकार की तुलना में थोड़ी बहुत स्वच्छंदता लिये बिना कवि का काम ही

[1]हिन्दी साहित्यः कुछ विचार (डा० प्रेमनरायन टण्डन) में ब्रजभाषा की विशेषतायें नामक लेख। [2]विभूतिमती ब्रजभाषा (हरिऔध) प्र० सं०, पृष्ठ ४२

नहीं चल सकता है। सम्भवत: इसी बात को ध्यान में रखकर रीति-कालीन आचार्यों ने 'गुरु लघु, लघु गुरु होत है, निज इच्छा अनुसार' का सर्वमान्य नियम ही बना डाला था। यह ठीक है कि इसकी अतिशयता काव्य-क्षेत्र में अराजकता को भी जन्म दे सकती है पर साथ ही इस नियम का विवेकशील प्रयोग निश्चय ही भाषा-माधुर्य में वृद्धि करता है।

शब्द-निर्माण की उपरोक्त प्रक्रियाओं के अतिरिक्त ब्रजभाषा कवियों की गेय पदों वाली तथा कवित्त सवैयों वाली मुक्तक-छन्दों की शैलियां भी उसकी मधुरता में वृद्धि करती हैं। प्रबन्ध-काव्यों में तो प्रसंगानुकूल कोमल-कठोर सभी प्रकार के स्थलों का वर्णन करना पड़ता है, पर गीति और मुक्तक काव्य में मुख्य रूप से ललित तथा रमणीय प्रसगों की ही उद्भावना की जाती है। इस प्रकार, इन रचनाओं में कर्कशता और परुषता के लिये कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। आरम्भ से ही ब्रजभाषा में मुक्तक और गीतिकाव्य का प्राधान्य रहा है, और इसी कारण उसकी काव्य-माधुरी निरंतर बढ़ती ही रही है।

ब्रजभाषा की इसी मधुर प्रवृत्ति के कारण द्विवेदी युग की खड़ी बोली कविता को अपनी खड़खड़ाहट दूर करने के लिये ब्रजभाषा का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। आज खड़ी बोली कविता के इतने समुन्नत होजाने पर भी, इसके कवि अपनी काव्य-भाषा की मधुरता बढ़ाने के लिये ब्रजभाषा के शब्दों का आश्रय लेते हैं।[1] इस प्रकार ब्रजभाषा की मधुरता के विषय में कविवर सत्यनारायण कविरत्न लिखित 'मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में' उक्ति शत-प्रतिशत यथार्थ प्रतीत होती है।

विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति की क्षमता

ब्रजभाषा जहाँ अपनी अतिशय मधुरता के लिये प्रसिद्ध रही है और 'सांकरी गली में माय कांकरी गरति है' वाली लोक-विश्रुत पंक्ति तथा तत्सम्बन्धी किसी फ़ारस-निवासी कवि वाली घटना का उल्लेख कर उसकी काव्योपयुक्तता की बार बार प्रशंसा की जाती है, वहीं दूसरी ओर उसकी यह अत्यधिक मधुरता विभिन्न रसों, विशेषकर कठोर रसों—की समुचित व्यंजना करने में अक्षम ठहराई जाती है। कहा जाता है कि शृंगार, करुण, शान्त, हास्य आदि कोमल रसों की अभिव्यक्ति के लिये पूर्ण सक्षम होने के साथ वह अन्य परुष रसों—वीर, रौद्र, भयानक, वीभत्स, अद्भुत आदि की सफल अभिव्यंजना में नितान्त असमर्थ रही है।[2] काव्यभाषा के अनन्य-पारखी-कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने तो ब्रजभाषा को मोम के समान मुलायम और द्रवणशील होने के कारण युग-संघर्ष-जन्य ताप सहने में असमर्थ माना है।[3]

---

[1]इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सातवाँ अध्याय देखिये।

[2]सुमित्रानन्दन पन्त रचित -'पल्लव' (चतुर्थावृत्ति) भूमिका, पृष्ठ ३

[3]वही

परन्तु बात वास्तव में ऐसी नहीं है ! ब्रजभाषा में जहां एक ओर नन्दन की मधु-ऋतु थी, रसिक श्याम के प्रेम की फूंक थी, वहीं दूसरी ओर उसमें पांचजन्य की उद्बोधक ध्वनि तथा सुदर्शन-चक्र की चमत्कार-शक्ति भी विद्यमान थी। हिन्दी साहित्य के विगत तीनों कालों में साहित्यिक भाषा के महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होने के कारण शत-शत कवियों ने उसमें सभी रसों की रचना करके उसे समृद्ध बनाया है। आगे की पंक्तियों में यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि ब्रजभाषा में कोमल रसों के अतिरिक्त परुष रसों की भी सफल अभिव्यक्ति की जा चुकी है।

वीररस :—रस-राज शृंगार के साथ स्पर्धा करने वाला एकमात्र रस वीर ही है। भरतमुनि ने इसकी गणना मूल रसों में की है। इसका स्थाई भाव उत्साह, वर्ण स्वर्ण अथवा गौर तथा देवता इन्द्र हैं। विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में इसे चतुर्विध-दानवीर, युद्धवीर, दयावीर और धर्मवीर बताया है। 'हरिऔध' ने अपने 'रसकलस' में कर्मवीर नामक पांचवां भेद भी उपपादित किया है। प्राचीन हिन्दी कविता में इसका प्रचुर प्रयोग उपलब्ध है। आधुनिक काल के ब्रजभाषा कवियों में महाराज रघुराजसिंह, नाथूराम शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जगन्नाथदास 'रत्नाकर', रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', वियोगीहरि, नाथूराम माहौर, रामलला आदि की रचनाओं में इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। यथा—

युद्धवीर : परम तरंगी रन-रंगी पारथी है वीर,
तीखे-तीर आनि भट-भीरि छांटि देत है।
करि प्रलयङ्कर, भयङ्कर सक्रुद्ध जुद्ध,
रुद्र लौं बरूथिनि समुद्र पाटि देत है।
'सरस' कहै, त्यों बाल-प्रकृति-कुतूहल के,
काहू कौं बिचारि डरपोक डांटि देत है।
नासा-कान काहू कै हंसी ही में निपाटि देत,
कौतुक सौं काहू की कलाई काटि देत है।
(रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'—अभिमन्यु-बध)

दानवीर : बेचि देह दारा सुअन होय दास हू मंद।
रखि हौं निज वच सत्य करि अभिमानी हरिचंद ॥
(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

दयावीर : सुनि 'कमलापति' बिनीत बैन भारी तासु,
आसु चलिबे की लखी गति यों दराज की।
छोड़ि कमलासन पिछोड़ि गरुड़ासन हूं,
कैसे कै बखानों दौर दौरे मृगराज की।

जाय सरसी में यों छुड़ाय गज ग्राह ही तें,
ठाढ़े आय तीर इमि सोभा महाराज की।
पीत पट लै-लै कै अंगौछत शरीर,
कर कंजन ते पौंछत भुसुण्ड गजराज की।।
(जगन्नाथ दास 'रत्नाकर')

रौद्ररस :—काव्यगत रसों में रौद्ररस का महत्वपूर्ण स्थान है। भारत ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स—इन चार रसों को ही प्रधान मानकर इन्हीं से अन्य रसों की उत्पत्ति बताई है।[1] रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध, इसका वर्ण अरुण तथा देवता रुद्र हैं। प्राचीन हिन्दी कविता के रासो ग्रन्थों, रामचरित्र मानस तथा रामचन्द्रिका में इसके अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। आधुनिक हिन्दी कवियों में नाथूराम शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' आदि की रचनाओं में इसके उदाहरण यत्र-तत्र मिलते हैं। यथा—

लोक तिहूं जारौं, सातौं सागर सुखाय डारौं,
गिरिन ढहाय डारौं भूमि उलटाऊं मैं।
रंच में बिदारि डारौं दसौं दिगपालन कौं,
खगन समेत ससि सूरहिं गिराऊं मैं।
नभ ते पताल लैकै कितहूं कहूं जो नैक,
'रसिक बिहारी' प्राण प्यारी सुधि पाऊं मैं।
जानकी न लाऊं तौ पै क्षत्री न कहाऊं,
राम नाम पलटाऊं धनुवान न उठाऊं मैं।
—'रसिक बिहारी'

मन्जुल रसाल-मन्जरीन को बिथोरि दै हौं,
रसना बिहीन कै हौं कोकिलन कारे को।
कुसुम समूह की कुसुमता निवारि दै हौं,
मार दै हौं गुन्जत मिलिन्द मतवारे को।
ए हो 'हरिऔध' जो सतैहै दुख दैहै मोहि,
बिरस बनै हौं तो सरोज रसवारे को।
अन्तक लौं सारे सुख तन्त को निपात कैहौं,
अन्त करि दै हौं या बसन्त बजमारे को।
—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

बीभत्स रस :—काव्य में स्वीकृत नवो रसों में बीभत्स अपना महत्वपूर्ण

[1]हिन्दी साहित्य कोश—पृष्ठ ६७७।

स्थान रखता है। भरत द्वारा इसे भी चार उत्पत्तिहेतुक रसों में एक माना गया है। इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है, भयानक रस के जो स्थायी भाव का मूल प्रेरक रहता है। इसका वर्ण नील और इसके देवता महाकाल हैं। ब्रजभाषा कविता में इसका वर्णन मुख्यत: युद्ध, पौराणिक कथाओं तथा नरक के चित्रण में मिलता है। तुलसी की 'कवितावली' और भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' में इसके सुन्दर उदाहरण उपलब्ध हैं। आधुनिक ब्रजभाषा कवियों ने रसिक बिहारी, नाथूराम शर्मा 'शंकर,' ब्रजचन्द, भारतेन्दु, 'रत्नाकर' तथा 'हरिऔध' ने इसके सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यथा—

भौंड़े मुख लार बहै आंखिन में ढ़ीड़ राधि—
कान में सिनक रेंट भीतिन पै डार देति।
खर्र-खर्र खुरचि खुजावै मटुका सो पेट,
ढूंड़ी लौं लटकते कुचन कों उधार देति॥
लौटि-लौटि चीन घांघरे की बार-बार फिरि,
बीनि-बीनि डींगर नखन धरि मार देति।
लूंगरा गंधात चड़ी चीकट सी गात मुख—
चौवे ना अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देति॥

—नाथूराम शर्मा 'शंकर'

कहुं सुलगति कोउ चिता कहूं कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई।
विविध रंग की उठति ज्वाल दुरगंधनि महकति।
कहु चरबी सों चट चटाति कहुं दह दह दहकति।
कहुं फूंकन हित धरय्यौ मृतक तुरतहि तहं आयो।
परयौ अंग अध जरयौ कहूं कोऊ कर खायो।
कहूं श्वान इक अस्थि खण्ड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारो महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत।

—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

अद्भुत रस :— जब किसी रचना में विस्मय स्थायी भाव इस प्रकार प्रस्फुटित हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियां उसमे अभिभावित होकर निश्चेष्ट बन जायें, तब वहां अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है। भरत मुनि ने इसकी उत्पत्ति वीर रस से बताई है। इसका वर्ण पीला और देवता ब्रह्मा कहे जाते हैं। प्राचीन हिन्दी कविता में विद्यापति और सूरदास के दृष्टिकूटों में इसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। वैसे—तुलसी, जायसी और कुछ रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में भी इसके उदाहरण उपलब्ध हैं। आधुनिक ब्रजभाषा कवियों में राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध', उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश', जयशङ्कर 'प्रसाद' तथा राय कृष्णदास की कविताओं में यत्र-तत्र इसका मार्मिक वर्णन मिलता है। यथा—

गगन–बगीचे बीच बेत के चरत फूल,
मृग–जल पीके लेत प्यास को बुझाई है।
कल्पना-पुरी को 'ग्वाल' गूंगो और पंगु एक,
डोलै संग बोलै बोल करन हटाई है।
हवा के घड़ा में दूध दुहि कै अखंड जाको,
भित्ति बारे चित्रन को देत सब प्याई है।
भावी पुर मांझ देखो प्रात सों लगाय सांझ,
भांति-भांति बछड़े ब्रियाति बांझ गाई है।
—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

भरिबो है समुद्र को शम्बुक में क्षिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बधिबो है मृणाल सों मत करी, जुही फूल सों सैल बिदारिबो है।
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रैनु सों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारिबो है।।
—नाथूराम शर्मा 'शंकर'

भयानक रस:—'भय का परिपोष' अथवा संपूर्ण इन्द्रियों का विक्षोभ भयानक रस है।[1] इसका स्थायी भाव भय है, वर्ण काला तथा देवता कालदेव हैं। कुछ ने इसका वर्ण श्याम तथा देवता यम भी माना है।[2] प्राचीन हिन्दी-कविता के रासो ग्रन्थों, रामचरित मानस तथा भूषण की रचनाओं में इसके प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं। भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक' के श्मसान-वर्णन में भी इसका सजीव चित्रण हुआ है। आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों में 'ग्वाल', 'हरिऔध', 'रत्नाकर', अनूप शर्मा, रामनाथ जोतिसी आदि की रचनाओं में इस रस के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। यथा—

धंस के धरातल में धंसि जै है नाना जीव,
ज्वाल माल जगे गेह धू धू धू धू जरि हैं।
परि परि पावक में विपुल पहार पंक्ति,
प्रलय पटाका ह्वै प्रचण्ड रव करि हैं।।
'हरिऔध' बार बार भू पै वज्रपात ह्वै हैं,
काल पेट दहत भुवन भूरि भरि है।

[1] हिन्दी साहित्य कोश—पृष्ठ ५३३
[2] भानुदत्त : रस मंजरी

कांचे घट तुल्य सारे लोक फूटि-फूटि जै हैं,
टकराय कोटि-कोटि तारे टूटि परि हैं ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हर हरात इक दिसि पीपर को पेड़ पुरातन,
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन ।
वर्षा ऋतु के काज और हू जगत भयानक,
सरिता बहती सवेग करारे गिरत अचानक ।
ररत कहूं मण्डूक कहूं भिल्ली भनकारे,
काक मण्डली कहूं अमंगल मन्त्र उचारें ।
भई आनि तब सांझ घटा आई घिरि कारी,
सनै-सनै सब ओर लगी बाढ़न अंधियारी ।
भए इक्ट्ठे आनि तहां डाकिनि पिसाचगन,
कूदत करत कलोल किलकि दौरत तोरत तन ।
आकृति अति बिकराल धरे कुइला से कारे,
बक्र बदन लघु लाल नयन जुत जीभ निकारे ।

—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

अतः उपरोक्त विवरण से यह ज्ञात होता है ब्रजभाषा-कविता में केवल कोमल रसों की ही नहीं अपितु कठोर रसों की भी मार्मिक व्यंजना पाई जाती है । उपरि लिखित पंक्तियों में तो केवल विवेच्य काल—अर्थात् विक्रम की बीसवीं शताब्दी की परिधि में आने वाले ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं से उदाहरण दिये गये हैं पर यदि उसके विगत काव्य-साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय तो उसमें निश्चय रूप से सभी रसों की सरस तथा मार्मिक व्यंजना मिलेगी । कविता में कोमल और परुष दोनों ही मिलाकर नौ रस तो सर्व स्वीकृत हैं, पर कुछ आचार्यों ने वात्सल्य और भक्ति—इन दो की भी गणना रसों के रूप में की है । शृंगार, शान्त, करुण, हास्य आदि कोमल रसों के अतिरिक्त उपरोक्त दोनों रसों की भी सरस और मार्मिक व्यंजना आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में उपलब्ध है । वात्सल्य रस के वर्णन में सूरदास तुलसीदास, रसखान, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महाराज रघुराजसिंह, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि को अच्छी सफलता मिली है । जहाँ तक भक्ति का सम्बध है, उसका वर्णन तो ब्रजभाषा-कविता की प्रमुख विशेषता रही है । आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों में राय कृष्णदास, राजेशदयालु, वियोगीहरि, वचनेश मिश्र आदि की रचनाओं में इसके सरस उदाहरण प्राप्त हैं ।

हिन्दी साहित्य के विगत तीनों कालों में इसका प्राधान्य

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि समग्र उत्तर-भारत में मध्य-देशीय भाषा की श्रेष्ठता की परम्परा वैदिक-काल से ही दृष्टिगोचर होती है। वैदिक और साहित्यिक संस्कृत तथा प्राकृत और अपभ्रंश के युगों में भी यह परिपाटी यथापूर्व चलती रही और आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास-काल से ब्रजभाषा को जो महत्व मिला, वह इसी के परिणामस्वरूप था। कालान्तर में कृष्ण-भक्ति की मधुर पद्धति, ब्रजप्रदेश के निवासियों की स्वभावगत भावुकता तथा ब्रजभाषा की ग्रहणशील और लचकीली प्रवृत्ति ने इस भाषा की कविता को ऐसा रम्य-रूप प्रदान किया कि हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश के सुकवियों के अतिरिक्त अनेक अहिन्दी भाषा-भाषी कवियों ने अपनी भाषा को भूलकर इसमें काव्य-रचना की। आगे की पंक्तियों से यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि हिन्दी साहित्य के विगत तीनों कालों में किस प्रकार ब्रजभाषा कविता का प्राधान्य रहा।

हिन्दी साहित्य के आदि या वीरगाथा काल का आरम्भ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी अव्यवस्थित और अराजकतापूर्ण परिस्थितियों में हुआ। कामिनी और कलह के उपासक इस युग के राजाओं के साथ साथ पारस्परिक विरोध में रत विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के लोग देश की राजनीतिक तथा धार्मिक स्थिति को बहुत अशान्त बनाये हुये थे। ऐसी दशा में जब सामान्य जनता का शान्तिपूर्वक रहना ही दूभर था, तो साहित्यिक-सृजन का कार्य किस प्रकार निरापद रूप से चलता। फिर भी राज्य दरबारों में रहने वाले कविगणों ने जो कुछ रचनाएं प्रस्तुत कीं, उनमें प्रबन्ध और मुक्तक-काव्य के दोनों ही रूप दृष्टिगोचर होते हैं। इन रचनाओं की भाषा में भी तात्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अव्यवस्था का स्पष्ट प्रतिबिम्ब विद्यमान है। साहित्य की सामान्य भाषा पिंगल थी, जो न्यूनाधिक रूप में ब्रजभाषा का ही वह पूर्ववर्ती रूप था, जिसमें डिंगल (राजस्थानी) के साथ-साथ अपभ्रंश, फ़ारसी, मराठी तथा गुजराती के प्रचलित शब्दों का प्रयोग स्वतन्त्रता से हुआ था। शब्दों की तड़क-भड़क और तोड़-मोड़ भी इस युग की भाषा में पर्याप्त मात्रा में मिलती है। उदाहरण के लिये :—

बज्जिय घोर निशान रान चौहान चहों दिस।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिस॥
उट्ठि राज प्रथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मनवेग लगत मनो बीजु भट्ट घट॥
थकि रहे सूर कौतिक गगन, रंगन मगन भइ शोन घर।
हृदि हरषे वीर जग्गे हुलसि, हुरेउ रंग नव रत वर॥

फिर भी उसमें ब्रजभाषा के शब्दों का इतना मेल है कि हम उसको अन्य

भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत के तत्सम् शब्दों की विरलता, 'नकार' के स्थान पर 'णकार' के प्रयोग का अभाव, तथा 'उड़ि चल्यो', 'आयो', 'करि' आदि क्रियापदों की उपस्थिति यह संकेत करती है कि रासो-काव्य-परम्परा की भाषा न मूल अपभ्रंश है और न मूल राजस्थानी। अपितु वह पूर्वी राजस्थानी का मिश्रित रूप है। बाद की रचनाओं से तो यह बात और अधिक परिपुष्ट हो जाती है।[1]

इस काल की अन्य काव्य परम्पराओं में भी ब्रजभाषा के आरम्भिक रूप के दर्शन होते हैं। भक्ति-परक तथा नीति-प्रधान रचनाओं में भी ब्रजभाषा के ही अपेक्षाकृत प्राचीन रूप के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिये खुसरो तथा विद्यापति की भाषा में भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा की हलकी झलक है।[2]

हिन्दी साहित्य के दूसरे काल-अर्थात् भक्तिकाल तक पहुंचते पहुंचते काव्य-क्षेत्र में भाषा का रूप बहुत कुछ व्यवस्थित हो गया था। अतः कबीर आदि निर्गुनिये, जायसी आदि प्रेममार्गी तथा तुलसी के 'रामचरित मानस' की भाषा को छोड़ कर, इस काल की सभी प्रचलित काव्य धाराओं तथा उप-धाराओं की भाषा मुख्य रूप से ब्रज ही है। जहाँ तक निर्गुनिये सन्तों की भाषा का सम्बन्ध है, पण्डित रामचन्द शुक्ल ने उसे सधुक्कड़ी भाषा का नाम दिया है।[3] पर सत्य यह है कि इन संतों की भाषा अलग-अलग रचनाकारों के हाथों में पड़कर बहुत कुछ उनके जन्म-स्थान या प्रचार-प्रदेश की बोली अथवा बोलियों से अभिभूत होगई है। अतः उसे किसी एक भाषा की कोटि में रखना युक्ति-संगत न होगा। फिर भी, कुछ संतों की रचनाओं में ब्रजभाषा की अपेक्षाकृत अधिकता है। पर इस काल की सबसे अधिक परिपुष्ट, राम तथा कृष्ण भक्ति-शाखाओं में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य दिखाई पड़ता है।

राम-भक्ति-धारा में 'रामचरित मानस' को छोड़कर गोस्वामी जी की अन्य सभी प्रमुख कृतियां ब्रजभाषा में ही हैं। समन्वय-साधना के धनी-तुलसी की रचनाओं में उनके जन्म-स्थान की बुन्देलखण्डी, प्रवास-स्थान काशी की भोजपुरी, उनके आराध्य की प्रिय-अवध की अवधी का जो कुछ सर्वश्रेष्ठ था, वह ब्रजभाषा में आ मिला और संस्कृत का संस्कार पाकर और भी अधिक निखर गया। उधर, सूर के नेतृत्व में अष्टछाप के कविगण साहित्य और संगीत नहीं अपितु संगीतात्मक साहित्य और साहित्यिक संगीत द्वारा ब्रजभाषा की व्यंजना-शक्ति और उसके नाद-सौन्दर्य की सतत वृद्धि करते रहे। जड़िया कवि-नन्ददास, मरुथल की मन्दाकिनी-मीरा, रस की खानि-रसखान, नरों में नहीं अपितु कवियों में भी उत्तम-नरोत्तम तथा असि और

[1]हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (हरिऔध)-१९५८, पृष्ठ ९२

[2]सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (डा० शिवप्रसाद सिंह) पृष्ठ ९७ तथा २२०

[3]हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) दसवाँ परि० पृष्ठ ७०

मसि दोनों के प्रयोग में कुशल-रहीम ने ब्रजभाषा कविता का भण्डार भरा। वस्तुत: इसी कारण इस काल को ब्रजभाषा-कविता का स्वर्ण-युग कहा जाता है। शृंगार, वात्सल्य, वीर, करुण, शान्त आदि कोमल तथा वीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स आदि कठोर रसों की मार्मिक व्यंजना द्वारा कलित कलेवर वाली ललित-मधुर ब्रज-वाणी सुपुष्ट और समृद्ध हो गई। इस प्रकार इस काल में भी ब्रजभाषा की ही प्रधा-नता रही।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के तीसरे अर्थात् रीति या शृंगार-काल में तो भाषा-विकास की यह परम्परा अपने चरम-बिन्दु तक पहुंच गई। ऊपर जिन भक्त-कवियों का उल्लेख किया जा चुका है, उनके हाथों में पड़कर भाषा के जो स्वस्थ और शुभ सँस्कार पड़ चुके थे, इस काल के कवियों ने उन्हें और अधिक परिमार्जित करने का प्रयत्न किया। भले ही भाव-पक्ष की दृष्टि से अत्यधिक विषय-संकोच, पिष्टपेषण, कोरी बात की करामात, अतिशय अलंकरण, निरा चमत्कार-प्रदर्शन, निरे उक्ति-वैचित्र्य के अनेक दोषारोपण इस काल की कविता पर किये जायें पर रीतिकालीन कविता के कट्टर से कट्टर विरोधी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सरसता, प्रौढ़ता और व्यंजकता की दृष्टि से इस काल के कवियों का योगदान अपूर्व है। इस युग की ब्रजभाषा पर सबसे अधिक प्रभाव अवधी का पड़ा, क्योंकि इस काल के अधिकांश रीतिग्रंथ-कार कवि अवध प्रदेश के ही निवासी थे। इसके साथ ही राज-दरबारों में प्रचलित फारसी भाषा का भी तत्कालीन ब्रजभाषा पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। परन्तु रीतिकालीन कवियों का काव्य-कौशल इस बात में निहित है कि उन्होंने इन भाषा-विषयक प्रभावों को इस ढंग से आत्मसात किया कि भाषा में किसी प्रकार की विकृति नहीं आने पाई और भाषा का सहज-स्वाभाविक प्रवाह ज्यों का त्यों बना रहा। हाँ, इस काल के उत्तरार्द्ध में पहुंचकर आवश्यकता से अधिक काव्योचित-स्वच्छंदता (प्वैटिक लायसेन्स) ले लेने के कारण भाषा के क्षेत्र में अत्यधिक अव्यवस्था और अराजकता के दर्शन होने लगे। फिर भी, देव के कवित्तों, मतिराम के सवैयों और बिहारी के दोहों में ब्रजभाषा का जो रम्यरूप इस काल में दृष्टिगोचर होता है, वह प्राचीन काल से चली आ रही मध्य-देशीय भाषा के गौरव के नितान्त अनुरूप था। इस प्रकार उपरोक्त तीनों कालों में हम ब्रजभाषा की ही प्रधानता के दर्शन करते हैं।

इन्हीं तीनों कालों में होकर प्रवाहित होने वाली ब्रजभाषा की सरस-धारा आधुनिक काल को साहित्यिक रिक्थ के रूप में मिली और कालान्तर में उसने सम-सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल जैसे-जैसे मोड़ लिये, उनका विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जायगा।

प्रादेशिक होते हुए भी अन्तर-प्रादेशिक रूप

आरम्भ में सभी बोलियाँ तथा भाषायें किसी विशिष्ट भू-भाग में प्रचलित होने के कारण आंचलिक या प्रादेशिक ही होती हैं और इन्हीं भू-भागों के नाम पर इन बोलियों या भाषाओं का नामकरण भी होता है, जो उनकी इस प्रादेशिक या आँचलिक प्रकृति का स्पष्ट प्रमाण होता है। उदाहरण के लिये ब्रज में बोली जाने वाली भाषा 'ब्रजभाषा', मिथिला में बोली जाने वाली 'मैथिली', महाराष्ट्र में बोली जाने वाली 'महाराष्ट्री'—इत्यादि। पर यदि किसी प्रादेशिक भाषा में कुछ विशिष्ट या असाधारण गुण हुये तो उनके बल पर कालान्तर में वह प्रादेशिक से अन्तर-प्रादेशिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। उदाहरण के लिये उत्तर-भारत में प्राचीन काल से ही मध्य-देश की भाषा को अन्तर-प्रादेशिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त रहा है।[1] वैदिक-संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के काल में भी उक्त परम्परा यथावत चलती रही, जिसके अनुरूप ईसापूर्व की छान्दस् से लेकर विक्रम की २० वीं शताब्दी तक की ब्रजभाषा को वह महत्वपूर्ण पद प्राप्त रहा। सुप्रसिद्ध भाषा-तत्व-विद्-डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में–'ब्रजभाषा बारह सौ से अठारह सौ पचास ईस्वी तक के सुदीर्घ काल के अधिकाँश मात्रा में सारे उत्तरी-भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हद तक पंजाब की सर्व श्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।[2] इसकी इन्हीं विशेषताओं के कारण आचार्य बल्लभ ने इसे 'पुरुषोत्तम भाषा' की आदरास्पद संज्ञा दी, डा० ग्रियर्सन ने इसे हिन्दी के अभिजात साहित्यिक माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित प्रधानतम बोली (डाइलेक्टास प्रेसिपुआ) कहा है[3], साहित्य के प्रेमियों ने इसे भाषा-मणि की प्रतिष्ठा प्रदान की और सबसे बड़ी बात यह हुई कि बोली होते हुये भी कालान्तर में आदरार्थ यह ब्रजभाषा कहकर पुकारी जाने लगी।[4]

अपनी भाषागत विशेषताओं (ग्रहणशीलता, लचीलापन, संगीतमयता, संक्षिप्तता आदि), समृद्ध साहित्यिक परमपराओं तथा मुख्य रूप से कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध होने के कारण हिन्दी भाषा के भक्तिकाल से ही हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेश के अतिरिक्त अहिन्दी प्रदेशों के कवियों द्वारा काव्य-रचना के माध्यम के रूप में प्रचुरता से ग्रहण की जाती रही है। इधर डा० शिवप्रसाद सिंह के शोध-प्रबन्ध 'सूर-पूर्व ब्रज-भाषा और उसका साहित्य' में उल्लिखित सामग्री के आधार पर तो यह परम्परा और भी अधिक प्राचीन ठहरती है। यहाँ संक्षेप में ब्रजभाषा के इसी अन्तर-प्रादेशिक

---

[1] भारतीय आर्य–भाषा और हिन्दी (डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या) द्वि. सं., पृ. १८६

[2] भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी (डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या) द्वि० सं०, पृष्ठ १८६

[3] सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य (डा० शिवप्रसाद सिंह) प्र० सं० पृष्ठ १

[4] हिन्दी भाषा का इतिहास (डा० धीरेन्द्र वर्मा) षष्ठ सं०, पृष्ठ ६४

रूप की चर्चा की जायेगी और यह दिखाने का प्रयास किया जायगा कि पूर्व में बंगाल तथा आसाम, पश्चिम में गुजरात और कच्छ, उत्तर में काश्मीर तथा दक्षिण में सुदूर केरल तक के निवासियों ने उसकी काव्य-सम्पदा की वृद्धि में कितना योगदान दिया है।

जहां तक हिन्दी-प्रदेश की बोलियों का सम्बन्ध है, भगवान राम की जन्म-भूमि के रूप में अवध और कृष्ण की जन्मभूमि के रूप में ब्रज-प्रदेश आरम्भ से ही भक्ति-भावना के साम्य-सूत्र में आबद्ध रहे हैं। इसके अतिरिक्त भाषा-तत्व के अनेक समान उपादान[1] इन दोनों बोलियों को एक दूसरे के बहुत निकट ला देते हैं। इसी कारण भक्तिकाल और रीतिकाल में मलूकदास, टोडरमल, बीरबल, मुबारक, बनारसीदास, नरोत्तमदास, चिन्तामणि, बेनी, भूषण, मतिराम, सुखदेव मिश्र, भिखारीदास, भूपति, तोषनिधि, रसलीन, रघुनाथ, बैरीसाल, थान, बेनीप्रवीन, ठाकुर, चन्द्रशेखर वाजपेयी, 'द्विजदेव' आदि अवधवासी कवियों ने ब्रजभाषा-काव्य को समृद्ध बनाया। आधुनिक काल में भी सेवक, महाराज रघुराज सिंह, बाबा रघुनाथदास रामसनेही, ललित किशोरी, ललितमाधुरी, प्रतापनारायण मिश्र, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' रसिकबिहारी, मुंशी गोकुल प्रसाद 'ब्रज', रंगनारायणपाल 'रंगपाल', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', वचनेश मिश्र, रामनाथ जोतिसी, अनूप शर्मा, मिश्रबन्धु, हरदयालुसिंह, डा० जगदीश गुप्त, राजेश दयालु आदि अवध-प्रदेश के कवि ब्रजभाषा कविता के भण्डार को भर रहे हैं। श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'ब्रज का इतिहास' (द्वितीय खंड) में इन कवियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त है।[2] यहाँ यह उल्लेख कर देना प्रासंगिक ही होगा कि रीतिकाल तथा आधुनिक काल में ब्रज-प्रदेश के कवियों की अपेक्षा अवधनिवासी कवियों ने ब्रजभाषा में गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से अधिक कविता की है और प्रबन्ध-रचना के क्षेत्र में तो वे बहुत आगे बढ़े हुये हैं।

जहाँ तक बुन्देलखण्ड का सम्बंध है, यहाँ की बोली और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज, कन्नौजी तथा बुन्देली एक ही उप-भाषा के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं।[3] वस्तुतः बुन्देलखण्ड ब्रज का निकटतर पड़ौसी है और उसी यमुना नदी की कछार में फैला हुआ है जो ब्रज-भूमि की अनन्य सहेली है। संभवतः यमुना ब्रज के पश्चात जहां गई, थोड़ी बहुत ब्रज-माधुरी अपने साथ लेती गई। इसी कारण ब्रजभाषा और बुन्देली का बहुत गहरा सम्बन्ध उपलब्ध है। बुन्देलखण्ड के गोस्वामी तुलसीदास, व्यास जी, केशवदास, प्रवीणराय, बलभद्र मिश्र, मण्डन, बिहारी, श्रीपति, हरिराम व्यास, प्रतापसाहि, लाल, रसनिधि, गुमान मिश्र,

[1]हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (हरिऔध) १९५८, पृष्ठ १५७

[2]देखिये-पृष्ठ ४०३

[3]हिन्दी भाषा का इतिहास (डा० धीरेन्द्रवर्मा)

बोधा, ठाकुर, खुमान आदि भक्ति तथा रीतिकालीन और घासीराम व्यास, लाला भगवानदीन 'दीन', वियोगीहरि, मुंशी अजमेरी जी, 'द्वारिकेश', शारद-रसेन्द्र, नाथूराम माहौर, 'सेवकेन्द्र', रामचरण हयारण 'मित्र', डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', रामचन्द्र शुक्ल 'सरस', रामाधीन खरे, नबीबक्स 'फ़लक़'-आदि आधुनिक काल के प्रसिद्ध ब्रजभाषा-कवि हैं। इनमें से कुछ का योगदान तो इतना अधिक है कि ब्रजभाषा-कविता में उसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जैसे तुलसी, केशव, बिहारी, पद्माकर आदि।

खड़ी बोली प्रदेश के प्राचीन ब्रजभाषा कवियों में धर्मदास, रसखान, रहीम, सेनापति और घनानन्द के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आधुनिक काल में तो खड़ी बोली प्रदेश के अनेक कवि ब्रजभाषा-कविता की श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

कमायूं और गढ़वाल जैसे पर्वतीय प्रदेशों में भी ब्रजभाषा के अनेक कवि हुये हैं, जिनमें कवि-चित्रकार-मोलाराम का नाम विशेष महत्वपूर्ण है।[1] इन्होंने अपने 'गढ़-राजवंश' काव्य में गढ़वाल के अनेक राजाओं का वर्णन दोहा-चौपाइयों में किया है, जिसका साहित्यिक महत्व होने के साथ-साथ ऐतिहासिक महत्व भी कम नहीं है। सुदूर काश्मीर के किसी ग्राम के रहने वाले ब्रजभाषा कवि का उल्लेख पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में किया है।[2]

भोजपुरी, मैथली और मगही भाषा-भाषी प्रदेशों में भी ब्रजभाषा-कविता करने वाले अनेक कवि हुये हैं। उत्तर प्रदेश ही क्या सम्पूर्ण उत्तर भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक राजधानी के रूप में काशी नगरी का भोजपुरी प्रदेश में सम्मिलित होना इस प्रदेश के महत्व को बहुत बढ़ा देता है। बहुत प्राचीनकाल से ही यह नगरी अपने धार्मिक महत्व के साथ-साथ साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी-प्रदेश की केन्द्र रही है। यहां के कवियों में कबीर, रघुनाथ, सेवक, रामसहायदास, गिरिधर दास उर्फ गोपालचन्द्र, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, दीनदयालगिरि, अम्बिकादत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', रामकृष्ण वर्मा 'बलबीर', आयोध्यासिंह उपाध्याय, 'हरिऔध', लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश', जयशंकर 'प्रसाद' राय कृष्णदास आदि ने ब्रजभाषा काव्य में बड़ा स्तुत्य योग दिया है। बिहार प्रदेश के ब्रजभाषा-कवियों में नकछेदी तिवारी 'अजान', अक्षयवट मित्र 'विप्रचद्र' आदि के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं।

राजस्थान में 'डिंगल' भाषा के विपरीत 'पिंगल' नाम से जो काव्य-भाषा प्रचलित थी वह एक प्रकार से ब्रजभाषा की ही पूर्व रूप थी। डा० सुनीतिकुमार

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (पण्डित रामचन्द्र शुक्ल) दसवाँ परि० सं०, पृष्ठ ५९६

[2] देखिये-पृष्ठ ५७६ [दसवां परिवर्द्धित संस्करण]

चाटुर्ज्या के अनुसार 'पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कही जा सकती है।'[1] सम्भवतः ब्रजभाषा और राजस्थानी के इसी निकटतर सम्बन्ध को ध्यान में रखकर राजस्थान के भाषा-प्रवीणों ने ब्रजभाषा को-'घर की रोटी-रावड़ी' समझा और सबसे अधिक उसी में लिखा और कुछ ने तो अपनी मात्र बोली को भूलकर केवल पिंगल में ही रचना की।[2] वैसे भौगोलिक दृष्टि से भी ब्रज-मण्डल और राजस्थान की सीमायें एक दूसरे से मिलती हैं। इसी कारण वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक राजस्थानी प्रदेश के ब्रजभाषा-कवियों की एक अविच्छिन्न तथा गौरवमयी परम्परा प्राप्त है, जिसमें सुन्दर दास, दादूदयाल, मीराबाई, छीहल, महाराज जसवन्तसिंह, वृन्द, सुन्दरकुंवरि, नागरीदास, जोधराज, चन्द्रकलाबाई (बूंदी निवासिनी) राजा रामसिंह (सीतामऊ नरेश) केशरीसिंह बारहट, राजेन्द्रसिंह 'सुधाकर' (झालावाड़ नरेश) आदि के नाम अग्रगण्य हैं। वस्तुतः, अवध के कवियों के पश्चात ब्रजभाषा के राजस्थानी भाषा-भाषी कवियों की संख्या सबसे अधिक है। भले ही, उत्कृष्टता की दृष्टि से उनका स्थान बुन्देलखण्ड निवासी ब्रज-भाषा-कवियों से थोड़ा बहुत नीचा हो।

आधुनिक पंजाब कभी मध्यदेश या अन्तर्वेद का अंश था। आज भी पंजाब की थोड़ी-बहुत सीमा ब्रजप्रदेश को स्पर्श करती है। यही नहीं, वर्तमान पंजाब का एक जिला अब भी ब्रजभाषा-भाषी है। इस दृष्टि से पंजाब ब्रजभाषा के लिये पराया नहीं कहा जा सकता है। वहाँ प्रभूत मात्रा में ब्रजभाषा की रचनाएं हुई हैं। हाँ इनकी लिपि देवनागरी के स्थान पर प्रायः गुरुमुखी रही है। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक से लेकर गुरु गोविन्दसिंह तक लगभग सभी सिक्ख-गुरुओं के अधिकांश उपदेश इसी भाषा में लिखे गये हैं और ईसाकी १७ वीं शताब्दी में तो ब्रजभाषा वहाँ की एक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होती है। पटियाला और कपूरथला के राजाओं ने प्रान्तीय भाषा पंजाबी को छोड़कर ब्रजभाषा को ही अधिक महत्व दिया, जिसके परिणामस्वरूप अनेक ब्रजभाषा-कवि उनके दरबारों में रहे। भक्तमाल, रामचरित मानस, बिहारी सतसई और रसक प्रिया नामक रचनाएं पंजाब में बहुत लोकप्रिय रही हैं और अंतिम तीन की तो कई कई टीकाएं वहाँ लिखी गईं। जहां तक ब्रजभाषा में कविता करने वाले कवियों का सम्बन्ध है अकेले गुरु गोविन्दसिंह के दरबार में पचास से अधिक ब्रजभाषा कवि वर्तमान थे। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा कविता में गुरु नानक, गुरु अर्जुनदेव, गुरु गोविन्दसिंह, महाराजा रणजीतसिंह, हृदयराम, नवीन कवि, बाबा सुमेरसिंह साहबजादे 'सूमेरहरि' आदि का योगदान विस्मृत करने की वस्तु नहीं है।

---

[1] सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य [डा० शिवप्रसादसिंह) पृष्ठ ६

[2] पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ में श्री पतराम गौड़ का लेख-ब्रज और राजस्थान' पृष्ठ ८२१

गुजरात तथा शूरसेन प्रदेश का सांस्कृतिक सम्बन्ध अज्ञातकाल से रहा है। कृष्ण का यादवों सहित मथुरा छोड़कर गुजरात स्थित द्वारका अथवा द्वारावती को अपनी राजधानी बनाना—एक ऐसी घटना थी जो ब्रज-प्रदेश और गुंजरात को साम्य-सूत्र में ग्रथित करती है। कालान्तर में भगवान कृष्ण से सम्बन्धित तीर्थ के रूप में द्वारका तथा प्रभास क्षेत्र की प्रतिष्ठा तथा गुजरात में कृष्ण भक्ति के व्यापक प्रचार के परिणामस्वरूप ब्रजभाषा-कविता का प्रचार उस प्रदेश में अनिवार्य था। इस प्रकार कृष्ण और कृष्ण-भक्ति के साथ यहाँ के निवासियों में ब्रजभाषा और उसकी कविता के प्रति स्वाभाविक अनुराग बढ़ा, जिसके फलस्वरूप भालण, केशवदास, लक्ष्मीदास, कृष्णदास तथा विष्णुदास आदि भक्त-कवियों द्वारा रचित ब्रजभाषा पद प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। तत्पश्चात् अलकृत काल में दयाराम, रघुराम, केवल राम, किसन, रत्नजित, दलपतिराम और वंशीधर, रत्नपाल, दीनदरवेश, कान्ह आदि की ब्रजभाषा सम्बन्धी रचनायें मिलती हैं। विक्रम की २० वीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में तो कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली का प्रभाव बढ़ने लगा था, पर गुजरात में ब्रजभाषा का ही अच्छा प्रचार रहा। इस काल के कवियों में जेठालाल चारण, कवि रविराज, आदित्यराम, महारमण, गोविन्द गीला-भाई आदि के नाम विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन कवियों के अतिरिक्त यहां के मुसलमान संगीतकारों—यथा—चांदखां, याकूबखां, शेख राहत आदि ने ब्रजभाषा में गायन के लिए अनेक ललित पदों की रचना की है।[1] यहां यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि उत्पत्ति और साहित्यिक विकास—दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा और गुज-राती का विशेष सम्बन्ध है। दोनों एक ही माता—शौरसेनी अपभ्रंश की पुत्रियां हैं और आरम्भ से ही इन दोनों पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ता आया है।[2] यहां तक कि आज जब खड़ी बोली कविता में ब्रजभाषा के शब्दों को अधिकाधिक मात्रा में बहिष्कृत कर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है, गुजराती कविता में इस प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते हैं। गुजरात प्रदेश के निवासियों की ब्रजभाषा-प्रियता का एक सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि कच्छ में १८ वीं शताब्दी के अन्त में जैन कवि कुशल व कुंवर कुशल के सहयोग से भुज के महाराव लखपत ने ब्रजभाषा की शिक्षा देने के लिये एक विद्यालय खोला था।

कृष्ण-भक्ति का ही साम्य-सूत्र बंगाल और आसाम को ब्रज-प्रदेश की संस्कृति

---

[1]देखिये पोदार अभिनन्दन-ग्रन्थ में जवाहरलाल चतुर्वेदी का लेख–'गुजरात के ;जभाषी शुक-पिक'–पृष्ठ ४३१।

[2]विशेष द्रष्टव्य-पोदार अभिनन्दन-ग्रन्थ में डा० जगदीश गुप्त का लेख–'ब्रजभाषा के गुजराती पद-प्रणेता।'

और साहित्य से जोड़ता है। चैतन्य महाप्रभु तथा जयदेव इस सूत्र को दृढ़तर बनाने में विशेष सहायक रहे हैं। मध्यकालीन बंगला कवियों की शब्दावली में ब्रजभाषा-कविता का स्पष्ट-प्रभाव देखा जा सकता है। बंगाल के गोविन्ददास और ज्ञानदास जैसे कवियों ने तो ब्रजभाषा में कवितायें लिखीं ही, परवर्ती काल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसके माधुर्य से आकृष्ट हुये बिना न रहे। उन्होंने 'भानुसिंह ठाकुरेर पदावली' नाम से ब्रजबुलि के पदों का एक संग्रह प्रस्तुत किया।[1] जहां तक आसाम का सम्बन्ध है, असमिया साहित्य के जन्मदाता—शंकरदेव ने अपनी वृन्दावन यात्रा से प्रेरणा प्राप्त कर उस ब्रजभाषा में 'वरगीतों' की रचना की, जिस पर असमिया का स्पष्ट प्रभाव है। शंकरदेव के समसामयिक और शिष्य—माधव देव ने भी उन्हीं की भांति मिश्रित ब्रजभाषा में अनेक वरगीत प्रस्तुत किये।

महाराष्ट्र तथा मध्यदेश का सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। डाक्टर मनमोहन घोष ने तो महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताया है।[2] यहां के ब्रजभाषा कवियों में नामदेव, त्रिलोचन तथा भानुदास के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाद में तो शाहजी भोसले और शिवाजी के दरबारों में ब्रजभाषा के कवियों को बहुत सम्मान मिला।

उक्त प्रदेशों के ब्रजभाषा-कवियों के अतिरिक्त सुदूर ट्रावनकोर के शासक-महाराज रामवर्मा ने ब्रजभाषा में अनेक सरस कवितायें लिखी हैं।[3]

उपरोक्त सर्वेक्षण से यह सिद्ध हो जाता है कि मध्यकाल और आधुनिक काल के भी कुछ भाग में ब्रजभाषा कविता का स्वरूप मुख्यत: अन्तर-प्रादेशिक ही रहा और यह कविता हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में समान रूप से लोकप्रिय रही। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का यह कथन सर्वथा सत्य है कि कविता की भाषा प्राय: एक ही सी थी। नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'ब्रजभाषा' कहलाती थी। पिछले समय में भी हिन्दी कवि संत लोग विनोद के लिये एक-आद पद गुजराती या पंजाबी में लिखकर अपनी वाणियां 'भाखा' में ही लिखते रहे हैं।[4]

---

[1] सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य [डा० शिवप्रसाद सिंह] प्र० सं०—पृष्ठ २।

[2] वही, पृष्ठ २२६।

[3] समालोचक।

[4] सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य [डा० शिवप्रसाद सिंह] में पृष्ठ २२६ पर उद्धृत।

तृतीय अध्याय

ब्रजभाषा-काव्य के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत

तथा

सम-सामयिक प्रभाव

ब्रजभाषा-काव्य के प्रेरक-स्रोत तथा सम-सामयिक प्रभाव

पिछले अध्यायों में ब्रजभाषा और उसकी कविता की दीर्घ-व्यापी परम्परा के इतिहास का सर्वेक्षण करने तथा उसकी विभिन्न विशेषताओं का विवेचन कर लेने के पश्चात, यह आवश्यक हो जाता है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी अर्थात् हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में उसकी गति-विधि का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के पूर्व उसकी रचना के मूल में विद्यमान प्रेरक-स्रोतों पर विचार कर लिया जाय। वस्तुतः केवल कविता ही नहीं अपितु सम्पूर्ण साहित्य ही सम-सामयिक परिस्थितियों का प्रतिफल होता है। जीवन और जगत के व्यापक अनुभव के आधार पर कवि या साहित्यकार के मन पर गहरी-हल्की, कड़वी-मीठी, सुखद-दुखद प्रतिक्रियायें होती हैं, उन्हीं को भाषा का परिधान देकर वह अपनी रचनायें प्रस्तुत करता है। वैसे तो इस नाना घटना-व्यापार पूर्ण जीवन और जगत में आये दिन अगणित घटनायें घटती रहती हैं और उन सबका न्यूनाधिक प्रभाव भी रचनाकार के मन पर पड़ता है, पर कवि का भाव-प्रवण मन कुछ को अधिक तीव्रता से ग्रहण करता है और कुछ से रंच-मात्र प्रभावित होकर कालान्तर में उन्हें विस्मृत कर देता है। देश में आये दिन होने वाले आन्दोलनों तथा समाजमें प्रचलित विभिन्न प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विचार धाराओं से प्रभावित होकर या प्रेरणा पाकर ही कविता की रचना होती है।

वस्तुतः, साहित्य-सृजन के समय साहित्यकार के मन में नाना प्रकार की प्रेरणायें विद्यमान रहती हैं। उनमें कुछ तो ऐसी होती हैं जो अन्य सभी व्यक्तियों के मन की भांति कवि के हृदय में भी वर्तमान रहकर काव्य-सर्जना का आधार बनती हैं। ब्रजभाषा-कविता के उद्भव और विकास पर दृष्टि डालने से हम जिन भावनाओं को उसकी रचना के मूल में निहित देखते हैं, वे निम्नलिखित हैं:—

१—भक्ति-भावना
२—शृंगार-प्रियता
३—संगीत-प्रेम

कालान्तर में राज्याश्रय और समस्यापूर्ति की परम्परा ने उसे और अधिक विकसित तथा परिपुष्ट करने में अपना योग दिया है। जहां तक आधुनिक काल की ब्रजभाषा-कविता का सम्बन्ध है, सम-सामयिक राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृ-

तिक आन्दोलनों और तत्कालीन साहित्यिक विचार-धारा ने उसे भली भांति प्रभावित कर उसकी वर्तमान रूप-रेखा को निर्मित करने में सहायता दी है। इस प्रकार विभिन्न प्रेरक-स्रोतों से जन्म पाकर तथा कालान्तर में सम-सामयिक परिस्थितियों द्वारा प्रभावित होकर आज वह शत-शत हृदयों को सरस करने में समर्थ है।

यहाँ इन्हीं प्रेरक-स्रोतों पर विस्तार से विचार किया जायगा :—

भक्ति—भारत आरम्भ से ही एक धर्म-प्राण देश रहा है। उसके निवासियों के जीवन का प्रत्येक कार्य-क्लाप, उनकी सारी सांसारिक गति-विधि धर्म की धुरी के चारों ओर घूमती है। क्या राजनीति, क्या समाज-नीति, क्या अर्थ-नीति सभी को परिचालित करने में धर्म-भावना ही भारतीय जन-मन का नेतृत्व करती आई है। धर्म के सामान्यतः तीन मार्ग कहे गये हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। समय-समय पर इस देश में इन तीनों का ही न्यूनाधिक प्रभाव परिलक्षित होता रहा है, पर इतिहास साक्षी है कि स्वाधीनता के युग में तो ज्ञान और कर्म ने प्रधानता प्राप्त की, पर परतन्त्रता के लम्बे युग में, विदेशी आक्रमणकारियों के प्रहार से प्रताड़ित होकर पहले मुसलमानों और फिर अंग्रेजों के शासन-काल की दीर्घकालीन अवधि में भक्ति ही भारतीयों की एक मात्र अवलम्ब रही है। सत्य यह है कि ज्ञान से उत्पन्न अहंकार और दम्भ उस समय पराधीन जाति के लिए अभिशाप था, कर्म-जनित सक्रियता के लिये अभीष्ट स्वाधीनता से वे वंचित ही थे, अतः ऐसी स्थिति में भक्ति-भावना ही उनके लिए एकमात्र विकल्प और अपरिहार्य संबल थी। प्रभु के चरणों में समर्पित जीवन, जो भक्ति का प्रमुख अङ्ग हैं, वस्तुतः भक्त को एक प्रकार का ऐसा बल देता है, जो दीनता, हीनता, पराधीनता आदि की स्थिति में उसको आश्वस्त बनाये रखकर जीवित रहने की शक्ति देता है। इस प्रकार यही भक्ति-भावना तत्कालीन भारतीय जीवन और साहित्य को अपने शत-शत स्वरूपों द्वारा अभिभूत करती रही है, और काव्य-साहित्य पर तो उसका सर्वव्यापी प्रभाव रहा। कारण यह है कि साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक भाव-धर्मी होने के कारण कविता की भाव-भूमि, भक्ति की अभिव्यक्ति के लिये सबसे उपयुक्त और अनुकूल ठहरती है। यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जहाँ भक्ति की सगुण और निर्गुण दोनों ही धाराओं ने भारतीय साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है, वहीं भारतीयों के मुख्यतः बहु-देववादी तथा अतिशय भाव-प्रवण होने के कारण सगुण भक्ति का ही अधिक प्रभाव उनके साहित्य पर दिखाई देता है। भक्त-वर सूर ने इसी कारण गाया था :—

"सब बिधि अगम विचारहि तातें 'सूर' सगुन लीला-पद गावै।"

इस सगुण भक्ति की दो शाखायें कालान्तर में सामने आती हैं — राम-

भक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा। राम और कृष्ण दोनों ही भारतीय जन-मन के आराध्य रहे हैं। जहां एक ओर राम के लोक-रक्षक स्वरूप ने, उनके मर्यादा-निष्ठ चरित्र ने जीवन की विकृतियों तथा उसकी मानवोचित दुर्बलताओं का उदात्ती-करण कर, उनके परिष्कार में अपार बल दिया है, वहीं कृष्ण के लोक-रंजक रूप ने जीवन की विरसता को सरसता से आर्द्र करके उसकी वास्तविक कटुताओं को विस्मृत करने की प्रेरणा दी है।

भक्ति और विशेषकर उक्त कृष्णभक्ति आरम्भ से ही ब्रजभाषा-कविता की प्रमुख प्रेरक शक्ति रही है। हृदय की कोमल अनुभूतियों से उत्पन्न भक्ति की अभिव्यक्ति के लिये कविता का तदनुकूल माध्यम निश्चय ही सबसे अधिक उपयुक्त था, और उसमें भी आराध्य के रूप में कृष्ण के लोक-रंजक और प्रेममय रूप की झांकी प्रस्तुत करने की भावना ने तत्सम्बन्धी काव्य-रचना को और अधिक प्रेरणा दी। कृष्णभक्ति में उनके जो तीन रूप (१) बालकृष्ण रूप (२) राधाकृष्ण अथवा गोपीकृष्ण रूप (३) महाभारती कृष्ण रूप—हमारे सामने आते हैं, उनमें ब्रज-भाषा-कविता ने प्रथम दो रूपों को मुख्य रूप से अपनाया। कृष्ण का महाभारत में प्राप्त रूप उसे विशेष नहीं रुचा, यद्यपि ब्रजभाषा-कविता की अनेक रचनाओं में इस रूप के भी दर्शन उपलब्ध हैं।

कृष्णभक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों—बल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय, निम्बार्क सम्प्रदाय, हरिदासी सम्प्रदाय, राधा वल्लभीय सम्प्रदाय तथा श्री सम्प्रदाय ने अपने-अपने ढंग से जहां एक ओर कृष्णभक्ति के प्रचार और प्रसार में योग दिया, वहीं उनके द्वारा ब्रजभाषा-कविता की भी प्रचुर मात्रा में वृद्धि हुई। वस्तुतः, कृष्ण की लीला-भूमि के रूप में ब्रज-भूमि और उस ब्रज-भूमि की बोली के रूप में ब्रजभाषा कृष्णभक्ति के साथ अनिवार्य रूप से सम्बद्ध थी। ऐसी दशा में भक्ति-भावना के प्रचार और प्रसार के साथ-साथ ब्रजभाषा-कविता का प्रचार भी स्वाभाविक था। इसी के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के प्रथम तीनों कालों में ब्रजभाषा को प्रधानता मिली और वह प्रादेशिक बोली या भाषा के संकुचित स्वरूप को त्याग कर एक अन्तर-प्रादेशिक स्वरूप प्राप्त कर सकी। सुभाव से तो वह पहले ही मधुर थी, पर कृष्णभक्ति में प्राप्त मधुर रूप के गायन की मधुरता से वह और भी अधिक ललित-मधुर बनकर सम्पूर्ण उत्तर में ही नहीं अपितु सुदूर दक्षिण में भी व्याप्त हो गई। राजस्थान का पिंगल साहित्य कृष्णभक्ति की मधुरता से प्लावित हो गया, और आज तक भी राजस्थान के अनेक कवि ब्रजभाषा में कविता करके उसके भण्डार को भर रहे हैं। चैतन्य महाप्रभु द्वारा भक्ति की यह लहर जब बंगाल में पहुँची तो वहां के वैष्णव भक्तों ने कुछ रचनायें तो ब्रजभाषा में और अधिकांश 'ब्रजबुलि' के गेयपदों के रूप में प्रस्तुत कीं। पंजाब प्रान्त भी इस प्रभाव से नहीं बच पाया, और कृष्ण-

भक्ति तथा विशेषकर वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग की प्रबलता के कारण गुजरात में भी ब्रजभाषा में कविता करने की परिपाटी पर्याप्त रूप से प्रचलित रही। वस्तुतः, कृष्णभक्तों को, चाहे वह किसी भी प्रान्त के क्यों न हों, तब तक सन्तोष ही न होता था, जब तक कि वे उनका लीला-गान ब्रज-वाणी में न कर लेते थे। स्वर्गीय डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है—'सहृदय भक्तमात्र बिना किसी प्रान्त के भेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा में ही भगवान के सामने आत्म-निवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसी मेहता, चण्डीदास आदि सब मराठी, गुजराती, बंगाली वैष्णव सन्तों ने ब्रजभाषा में अपने उदगारों को प्रकट किया है।[1]

इस प्रकार ब्रजभाषा-कविता के प्रचार और प्रसार में कृष्णभक्ति का प्रमुख योग रहा है। कहा भी है:—

ब्रजभाषा भाषा ललित कलित कृष्ण की केलि।
या ब्रजमंडल में उगी ताकी घर-घर बेलि॥
ह्यीं से चहुंदिसि विस्तरी पूरब पच्छिम देस।
उत्तर दक्षिण लों गई ताकी छटा असेस॥
—श्री राधाचरण गोस्वामी

हिन्दी साहित्य के इतिहास के सभी कालों में भक्ति की यह भावना काव्य-सृजन और विशेषकर ब्रजभाषा-कविता की प्रेरक शक्ति रही है। आदिकाल या वीरगाथा-काल में तत्वतः वीर रस की भावनाओं की अपेक्षा भक्ति-भावना का ही प्राधान्य रहा। इसी कारण अब अधिकांश विद्वान उस काल के वीरगाथा-काल नाम पर आपत्ति करते हुये, उसके लिये आदि-काल का अपेक्षाकृत अधिक व्यापक नाम प्रयोग करने लगे हैं। जो हो, इस काल के अनेक भक्त-कवियों ने ब्रजभाषा और उसके यत्किंचित परिवर्तित परवर्ती स्वरूप में अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। आगे चलकर भक्तिकाल तो भक्ति-भावना और ब्रजभाषा-काव्य का स्वर्ण-काल ही है। तुलसी (मुख्यतः रामचरित मानस को छोड़कर), सूर, नंददास, मीरा, रसखान आदि ने उसकी अनुपम श्री-वृद्धि की और भक्ति के विभिन्न रूपों-सख्य, दास्य, वात्सल्य, दाम्पत्य के द्वारा उपासना की बहुमुखी पद्धति प्रस्तुत की।

रीतिकाल या शृंगार काल में भी शृंगार की प्रत्यक्ष धारा के अन्तराल में जो धारा गतिमयी दिखाई देती है, वह भक्ति की ही है। वस्तुतः, परिस्थितियों के संदर्भ में, समसामयिक शासकों की विलासी मनोवृत्ति के फलस्वरूप 'यथा राजा तथा प्रजा' वाली नीति का अवलम्बन कर भक्ति की धारा ही शृंगार के आवर्त्त में भटक कर

[1]मकरंद (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ११७

'रीति' का रूप पागई। फिर भी इस काल के अनेक शृंगारी कवियों की रचनाओं में, विशेषकर उनके साहित्यिक जीवन की सन्ध्या-बेला में लिखित कविताओं में भक्ति-भावना के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिये देव, बिहारी और केशव की रचनायें ली जा सकती हैं। यथा—

कोऊ कोटिक संग्रहै, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, विपति विदारन हार ।।

—बिहारी

भारी गरे पाथर नगारे दै गरे ते बाँधि,
राधा—बर—बिरद के बारिधि में बोरती ।

—देव

इसके अतिरिक्त, इसी काल के कुछ कवियों की वाणी में तो भक्ति और शृंगार की धारायें इतनी घुल-मिल गई हैं कि उनमें कौन प्रधान है और कौन गौण-यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। महाकवि देव ने तो यहाँ तक लिखा है :—

बानी को सार बखान्यो सिंगार,
सिंगार को सार किसोर-किसोरी।

रीति-युगीन रीति-मुक्त कवियों की अधिकाँश रचनायें इसी कोटि में आती हैं।

रीतिकाल के पश्चात आधुनिक काल के प्रथम युग-प्राक्-भारतेन्दु-युग में भक्ति की धारा पुनः प्रबल दिखाई देती है, यद्यपि रीतिकालीन प्रभाव के कारण उसमें शृंगार का प्रत्यक्ष पुट वर्तमान है। इस युग के ऐसे कवियों में रींवा-नरेश महाराज रघुराजसिंह, बाबा रघुनाथदास रामसनेही, दीनदयाल गिरि, ललित किशोरी, ललित माधुरी, नारायण स्वामी, रत्नसिंह 'नटनागर', गोकुल निवासी गोपभट्ट के नाम स्मरणीय हैं। इन काव्य-साधकों ने मुख्यतः भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही काव्य-रचना की, तथा प्रबन्ध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाओं द्वारा ब्रजभाषा को समृद्ध किया। भारतेन्दु-युग में यद्यपि परिवर्तन की गति तीव्रतर होने तथा आधुनिकता के अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव ने कविता को वस्तुगत जीवन के अधिक निकट ला दिया था, तथापि भक्ति-प्रेरित ब्रजभाषा—काव्य की धारा पूर्णतया अवरुद्ध न हो सकी। यथार्थ जीवन के कटु सत्य रूपी ऊबड़-खाबड़ प्रस्तर—खण्डों से लड़—झगड़ कर, वह अब भी अपना पथ प्रशस्त करने में संलग्न थी। उस युग के प्रेरक तथा प्रवर्तक, भारतेन्दु स्वयं कृष्ण—भक्त थे, और उन्होंने स्वयं ही अपने को 'सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधारानी के' कहा है। अतः उनकी रचनाओं में भी भक्ति की यह धारा बहुत प्रबल दिखाई देती है, और उनकी देखा-देखी उस युग का संपूर्ण काव्य-साहित्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत मिलता है। भारतेन्दु के अतिरिक्त

इस युग के भक्त-कवियों में बाबा सुमेरसिंह साहबजादे, अम्बिकादत्त व्यास, गोस्वामी राधाचरण, गोविंद गीलाभाई, नवनीत चतुर्वेदी विशेष उल्लेखनीय हैं। उत्तर-भारतेन्दु-युग में जीवन-संघर्ष की गति के तीव्रतर हो जाने, पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रत्यक्ष प्रभाव, वैज्ञानिक उन्नति के चमत्कार तथा साहित्य में गद्य की बहुमुखी उन्नति के कारण भक्ति की सहज लजीली तथा सरस धारा लुकती-छिपती प्रतीत होती है, पर समय-समय पर विभिन्न कवियों तथा उनकी कृतियों के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति इस बात की ओर संकेत करती है कि भारतीय जन-मन में निहित यह प्रवृत्ति विज्ञान के विरस और तथ्यपरक वातावरण में भी अपना अस्तित्व सुरक्षित किये हुये है। इस युग के प्रमुख ब्रजभाषा-कवियों की रचनाओं में भक्ति का प्रेरक प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिये—जगन्नाथदास 'रत्नाकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', वियोगी हरि, सत्यनारायण कविरत्न, वचनेश मित्र, रामलला आदि की कृतियों में तो उसका प्राधान्य ही है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भक्ति-भावना से प्रेरित होकर जहां अनेक हिन्दू कवियों ने ब्रजभाषा में काव्य-रचनाएं प्रस्तुत की हैं, वहीं अनेक मुसलमान कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति से प्रेरित होकर ब्रजभाषा-काव्य का भण्डार भरा है। कृष्ण-भक्ति के साथ-साथ राम-भक्ति ने भी ब्रजभाषा-काव्य को पर्याप्त प्रेरणा प्रदान की है। जिन भक्त-कवियों ने इस प्रेरणा के आधार पर काव्य-सृजन किया है, उनमें तुलसी, स्वामी अग्रदास, हृदयराम, रहीम, गंग, केशव और सेनापति प्रमुख हैं। आधुनिक युग में भी महाराज रघुराजसिंह, रसिकबिहारी, अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध', शिवरत्न शुक्ल 'सिरस', तथा वचनेश मिश्र के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार भक्ति, और विशेषकर कृष्ण-भक्ति आरम्भ से ही ब्रजभाषा-काव्य की प्रमुख प्रेरक-शक्ति रही है, और आज भी अनेक कविगण इसी प्रेरणा का आधार लेकर ब्रजभाषा-काव्य के सृजन में लीन हैं।

शृङ्गार :— भक्ति के साथ-साथ शृङ्गार की भावना भी ब्रजभाषा-काव्य की प्रमुख प्रेरक-शक्ति रही है। वस्तुतः, साहित्य की आत्मा रस है। रस-शून्य भाव साहित्य की परिधि में प्रवेश नहीं पा सकता है, और रसों में भी जो रस विशेष प्रभावशाली तथा मनोरम होते हैं, साहित्य-रसिक उन्हें ही विशेष रूप से अपनाते हैं। वस्तुतः, जिस प्रकार एक सहज-स्वाभाविक वस्तु से शृङ्गार-युक्त वस्तु अधिक मोहक लगती है, उसी प्रकार साहित्य में भी शृङ्गार रस की उपयोगिता अन्य रसों की अपेक्षा अधिक है। इसी कारण संसार की सभी भाषाओं के साहित्य में इस रस की प्रधानता रही है, और ब्रजभाषा में तो इसकी प्रधानता उसके प्रादुर्भाव काल से ही दिखाई देती है। शृङ्गार, माधुर्य और भक्ति का घनिष्ट संयोग है। भक्ति का आश्रय पाकर, और विशेषकर कृष्ण की रसमयी लीलाओं से संसिक्त होकर ब्रज-

भाषा-काव्य में शृङ्गार की भावना को विशेष प्रश्रय मिला। वास्तव में, ब्रजभाषा-कवियों ने दो दृष्टियों से शृंगार को विशेष रूप में अपनाया। प्रथम तो यह कि भगवान की ललित-लीलाओं का वर्णन उन्हें शृंगारमय ही करना पड़ता था, दूसरे शृंगार रस को केन्द्र मानकर वे अपनी काव्यकला को अधिक सरसता से प्रदर्शित कर सकते थे। ऐसी स्थिति में आरम्भ से ही शृंगार के दो रूप दिखाई देते हैं—अलौकिक या दिव्य शृंगार और लौकिक शृंगार। दिव्य शृंगार, वस्तुतः, शृंगार के किसी भेद का नाम नहीं है, पर वह शृंगार रस की उस उच्चावस्था का द्योतक है, जहाँ स्वार्थ का सम्यक् अभाव तथा तन्मयता की पराकाष्ठा रहती है। जहाँ आराध्य के बीच किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रह जाती है। यथा—

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंद-नंदन अछत कैसे, आनिये उर और।। (सूरदास)

अथवा

कान्ह भए प्रान-मय, प्रान भये कान्ह-मय,
हिय में न जान परै कान्ह हैं कि प्रान हैं। (भारतेन्दु हरिश्चंद्र)

लौकिक शृंगार के अन्तर्गत नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद, अष्टयाम, षट्ऋतु वर्णन, बारहमासा आदि समाविष्ट दिखाई देते हैं और सत्य यह है कि ब्रजभाषा-काव्य में इसके समावेश के प्रमुख कारण कृष्ण-भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश, राधा के रूप में परकीया की भक्ति और प्रीति की प्रधानता तथा कालान्तर में मुस्लिम शासन और तत्कालीन शासकों की विलासमयी प्रवृत्ति आदि थे। वैसे भी ब्रजभाषा में शृंगार रस की अधिकता के कुछ और कारण भी थे, जैसे संस्कृत और प्राकृत में शृंगार रस की अधिकता तथा इन दोनों का ब्रजभाषा-काव्य, विशेषकर रीतिकालीन ब्रजभाषा-कविता पर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव। इसके साथ ही फारसी तथा उर्दू भाषाओं में शृंगार रस सम्बन्धी विपुल काव्य-राशि ने समसामयिक ब्रज-भाषा-कविता पर न्यूनाधिक प्रभाव डाला, और क्योंकि इन दोनों भाषाओं में इश्क़-हकीकी (दिव्य-शृंगार) और इश्क़-मजाजी (लौकिक शृंगार) की प्रवृत्ति वर्तमान थी, अतः ब्रजभाषा-काव्य के लौकिक और अलौकिक शृंगार को दूनी स्फूर्ति मिली। यहां यह उल्लेखनीय है कि जहाँ एक ओर कृष्ण-भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों में दाम्पत्य भाव से उपासना की प्रवृत्ति ने शृंगारिक प्रेरणा को बल दिया, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन शासकों की कला-प्रेमी रुचि, ऐश्वर्य-जन्य विलासता के साधनों की प्रचुरता और जीवन का पूरा-पूरा रस लेकर आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति ने शृंगार प्रियता को अधिकाधिक बढ़ावा दिया। मुग़लों के शासन काल में उपलब्ध आन्तरिक और वाह्य शान्ति तथा सुख-समृद्धि की प्रचुरता ने शृंगारिक भावना को प्रखर से प्रखर करने में कोई कोर-कसर न शेष रखी। परिणाम यह हुआ

कि रसों में श्रृंगार को न केवल 'रस-राज' ही स्वीकार किया गया, अपितु सम्पूर्ण रसों के नाम पर केवल उसका विस्तृत विवेचन कर देना ही पर्याप्त समझा जाने लगा। ब्रजभाषा के रीति-काव्य में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है।

जहां तक ब्रजभाषा-काव्य में श्रृंगार से प्रेरित रचनाओं का सम्बन्ध है, वे जयदेव और विद्यापति के प्रभाव से कृष्ण-भक्त कवियों में परोक्ष रूप से वर्तमान दिखाई पड़ती हैं और रीतिकाल में तो अपने चरम-उत्कर्ष पर पहुंच जाती हैं। आधुनिक काल तक आते-आते भी ब्रजभाषा-काव्य में श्रृंगारिकता का प्राधान्य पाया जाता है। पूर्व-भारतेन्दु-युग तथा भारतेन्दु-युग में तो इसकी प्रचुरता ही है, उत्तर-भरतेन्दु-युग में भी इसका प्रभाव कम नहीं पड़ पाया है। इधर तथा-कथित नैतिकता तथा सुधारवादिता के झोंक में आकर श्रृंगार के प्रति नाक-भौं सिकोड़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है, और उस पर अनैतिकता, कामुकता, अश्लीलता आदि की वृद्धि के अनेकानेक आरोप किये जाते हैं। श्रृंगार-प्रधान होने के कारण ब्रजभाषा-काव्य को भी युग-विरोधी, समाज-विरोधी तथा प्रगति-विरोधी तत्वों से युक्त कहा जाता है, पर सत्य यह है कि ब्रजभाषा की श्रृंगारिक काव्य-धारा लौकिकता और अलौकिकता के जिन उभय कूलों को स्पर्श कर बहती है, उसमें कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़कर गर्हित और निन्दनीय जैसी कोई वस्तु नहीं है। वस्तुतः, ब्रजभाषा काव्य के विषय में ऐसी धारणा उन्हीं लोगों की है, जिन्होंने श्रृंगार के दिव्य और शरीरी, लौकिक और अलौकिक पक्षों को पृथक-पृथक कर देखा है। यह ठीक है कि सामान्य व्यक्ति का ध्यान शरीरी या मांसल रूप ही की ओर अधिक जाता है, पर संपूर्ण साहित्य का मूल्यांकन करते समय दोनों के सापेक्षिक अध्ययन की आवश्यकता है। श्रृंगार आदिम काल से ही मानव और मानव-रचित साहित्य की मूलभूत प्रेरक-शक्ति रहा है, और आज भी उसका प्रभाव कम नहीं हुआ है। जहां तक ब्रजभाषा-काव्य का सम्बन्ध है, उसके प्रेरक-स्रोतों में श्रृंगार प्रियता का प्रमुख स्थान है।

संगीत-प्रेम:—भक्ति और श्रृंगार की भांति संगीत-प्रेम भी ब्रजभाषा-काव्य का प्रेरक-स्रोत रहा है। साहित्य और संगीत का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, और साहित्य की अधिष्ठात्री देवी-सरस्वती के एक हाथ में पुस्तक और दूसरे में वीणा की उपस्थिति[1], इनके अटूट सम्बन्ध की प्रत्यक्ष परिचायक है। पर, साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा काव्य का उससे अधिक निकट का सम्बन्ध है। काव्य में लय और छन्द के रूप में उसकी परोक्ष उपस्थिति सर्व विदित है। जहां तक ब्रजभाषा का सम्बन्ध है, उसकी स्वाभाविक सरसता, कोमलता और मधुरता ने प्राचीन

[1]वीणा-पुस्तक-धारिणी —

काल से ही संगीतज्ञों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट कर रक्खा है। चतुर्वेद का अध्ययन करने वाले ब्रज-प्रदेश के चतुर्वेदियों में अन्य वेदों के साथ-साथ संगीत के प्रेरणास्रोत-सामवेद के अध्ययन की परम्परा भी विद्यमान रही होगी और वल्लभाचार्य के समय में तो इस प्रदेश में अनेक संगीतज्ञ वर्तमान थे। आचार्य वल्लभ द्वारा चलाई गई उपासना-पद्धति में संगीत का प्राधान्य इस ओर संकेत करता है। इसी के साथ अमीर खुशरो द्वारा ईरानी और भारतीय पद्धतियों के मिश्रण से निर्मित विविध प्रकार के गीतों यथा, ख्याल, कव्वाली, तराना आदि का भी काफी प्रचार हो चुका था, जिसका उल्लेख 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' (कृष्णदास की वार्ता, प्रसंग संख्या ५) में मिलता है।[1] ब्रज के अनेक कवि इस परिपाटी से परिचित थे और सूरसागर में ढांड़ा-ढांड़ी द्वारा गाये गये जिस 'सोहोले' का वर्णन मिलता है, वह अमीर खुशरो के ही द्वारा निर्मित एक राग है।

सोलहवीं शताब्दी में महान संगीतज्ञ हरिदास के अतिरिक्त गोविन्द स्वामी, कृष्णदास, सूरदास, नंददास आदि की रचनाओं में संगीत-तत्व की प्रचुरता है। कहना न होगा कि इस काल का सपूर्ण ब्रजभाषा-काव्य राग-रागनियों में ही रचा गया है यथा—

जुगल वर सहज रसीले लाल।
मधुर माधुरी पीतम प्रेमी रसिक रसील रसाल॥
ललिता कुंज ललित लीलाधर ललित लड़ीली बाल।
लिपटी प्रीति-बेलि पुलकित अति सुन्दरि प्रेम तमाल॥
प्यारी पीतम कंठमालिका पीतम प्यारी माल।
प्रिया सखी लखि ललिता सहचरि निजरस कुंज निहाल॥

—ब्रह्मगोपाल (हरि-लीला)

आगे चलकर अन्य मुस्लिम शासकों का आश्रय पाकर संगीत के साथ-साथ ब्रजभाषा-काव्य को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा गोपाल-नायक, अकबर द्वारा तानसेन, बैरमखां द्वारा रामदास तथा शाहजहाँ द्वारा पंडित जगन्नाथ राय त्रिशूली का जो सम्मान किया गया था, वह संगीत के साथ-साथ काव्य का भी सम्मान था। वस्तुतः, इस युग में साहित्य और संगीत, विशेषकर ब्रजभाषा-कविता और संगीत का इतना अटूट सम्बन्ध दिखाई देता है कि अनेक संगीतकारों ने सफलता के साथ काव्य-रचना की, और अनेक कवियों की रचनाओं में संगीत को महत्वपूर्ण स्थान मिला।

कालान्तर में मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर तथा उसके सूबे-

[1] ब्रज का इतिहास (सम्पादक—श्री कृष्णदत्त वाजपेयी) खण्ड २ पृष्ठ ६६

दारों द्वारा स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेने पर भी, उनके दरबारों में कवियों और संगीतज्ञों को पूर्ववत आश्रय मिला, जिसके द्वारा काव्य और संगीत की साथ-साथ उन्नति हुई। यह दरबारी कवि तो ब्रजभाषा में कविता करते ही थे, दरबारी गायक भी ब्रजभाषा की पदावली में गीतों की रचना करते थे। आधुनिक काल तक आते-आते ये राज-दरबार तो उजड़ने लगे, आश्रयदाताओं की परम्परा भी टूटने लगी, परन्तु ब्रजभाषा-कविता और संगीत का सम्बन्ध अधिक शिथिल न हो पाया। आधुनिक काल के प्रवर्तक, भारतेन्दु श्रेष्ठ कवि होने के साथ-साथ संगीत-शास्त्र के अच्छे जानकार थे, और उनकी साहित्यिक मण्डली के अन्य कविगण भी संगीत में पर्याप्त रुचि रखते थे। अतः इनकी ब्रजभाषा-कविताओं में संगीत का सुन्दर पुट विद्यमान है। भारतेन्दु के अतिरिक्त 'प्रेमधन', प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, ललितकिशोरी, ललितमाधुरी आदि की रचनाओं में संगीत का प्रत्यक्ष प्रभाव वर्तमान है। वर्तमान काल में भी 'रंगपाल', 'वचनेश' मिश्र, विश्वम्भरसहाय 'व्याकुल,' वल्लभसखा, उत्तमराम शुक्ल नागर की ब्रजभाषा-कविताओं में संगीत का गहरा पुट दिखाई देता है।

यहां यह उल्लेख कर देना समीचीन ही होगा कि हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रान्तों के निवासी संगीतज्ञों ने गायन के लिये रचे गये पदों में अपनी भाषा के अतिरिक्त ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। उदाहरण के लिये राजस्थान के दरबारों के अनेक संगीतज्ञों तथा गुजरात प्रदेश के अनेक हिन्दू-मुस्लिम संगीतकारों ने ब्रजभाषा में शत-शत गेय–पद लिखे हैं[1]। ब्रजभाषा और संगीत के साहचर्य का आज भी सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि शास्त्रीय पद्धति के संगीतज्ञ, भले ही वे हिन्दू हों अथवा मुसलमान, ब्रजभाषा में ही राग-रागनियों की रचना करते हैं। इस प्रकार, संगीत-प्रियता के सहारे ब्रजभाषा-काव्य को अनुपम प्रेरणा मिली।

भक्ति-भावना, शृंगार-प्रियता और संगीत-प्रेम के अतिरिक्त राज्याश्रय और समस्यापूर्ति–दो ऐसे सहायक तत्व थे, जिनके सहारे ब्रजभाषा-काव्य की उन्नति में पर्याप्त योग मिला।

राज्याश्रय अन्य देशों की अपेक्षा भारत में तत्कालीन शासकों का अधिक महत्व रहा है। गीता में भगवान कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुये स्वयं कहा है कि मनुष्यों में मैं राजा हूं।[2] यही नहीं, लोक-प्रचलित संस्कृत-सूक्ति 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' में भी यही ध्वनि मिलती है। वस्तुतः, भारतीय राजनीति

---

[1]द्रष्टव्य, पोद्दार अभिनंदन-ग्रंथ में जवाहरलाल चतुर्वेदी लिखित- 'गुजरात के ब्रजभाषी शुक-पिक'-नामक लेख।

[2]नराणां च नराधिपम्-गीता, अध्याय १०, श्लोक २७

के धर्म-प्रधान, नीति-नियन्त्रित, और न्याय-परिचालित होने के कारण यहां के राजा जहां एक ओर आदर्श प्रजा-पालक होते थे, वहीं दूसरी ओर विभिन्न ललित कलाओं के मर्मज्ञ तथा संरक्षक भी। ऐसी स्थिति में उनके दरबारों में साहित्य-साधकों और कवियों को यथेष्ठ सम्मान मिलना स्वाभाविक ही था। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उसके प्रथम काल अर्थात वीरगाथा-काल से ही कवियों को राज्याश्रय प्राप्त होता था, और दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की ओर से पूर्ण-रूपेण निश्चिन्त होकर वे पूरी तरह से काव्य-रचना में लीन रहते थे। उस काल के ये कवि मसि के साथ असि के भी धनी होते थे, और अवसर आने पर युद्ध क्षेत्र में जाकर अपनी ओजमयी वाणी के द्वारा सैनिकों का उत्साह वर्धन करने के साथ-साथ तलवार के भी जौहर दिखाते थे। पर, अशान्ति और अव्यवस्था के उस युग में काव्य-साधना के लिये वह अभीष्ट वातावरण न मिला, जो भक्ति-काल और रीतिकाल में मुगलों के सुख-शान्तिमय शासन-काल में उपलब्ध था। उस समय के राज्य दरबारों में केवल प्रतिभ शाली कवियों की ही पूछ थी। वस्तुतः, स्थिति यह थी कि एक ओर तो प्रतिभाशाली कवि राज्य-दरबारों का आश्रय पाकर शान-शौकत से जीवन-यापन करना चाहते थे, और दूसरी ओर गुण-ग्राहक शासकगण भी प्रतिभाशाली कवियों को आदरपूर्वक आमन्त्रित कर तथा उनको राजसी ठाठ-बाठ और सुविधायें प्रदान कर अपने दरबारों का गौरव बढ़ाना चाहते थे। ऐसी दशा में साहित्य और कविता की चरम उन्नति अनिवार्य थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये राजा लोग इन कवियों को अपने योग्य से योग्य सेनापति और कुशल से कुशल मन्त्री के बराबर सम्मान देते थे, और कभी-कभी इनके कहने पर बड़े-बड़े अपराध तथा अर्थ दण्ड तक क्षमा कर देते थे।

जैसा कि स्पष्ट है, इन राज-दरबारों में वाणी-विलास का प्राधान्य था। अतएव कविता भी मनोविनोद के अनेक साधनों में से एक हो गई थी, और कविगण अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा (कभी-कभी सच, पर बहुधा झूठ) के द्वारा निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक काव्य-रचना करते हुये सुख से जीवन व्यतीत करते थे। भक्ति काल में अकबर का दरबार एक ऐसा ही दरबार था, जो अनेक प्रतिभाशाली कवियों से सुशोभित था।[1] गंग, रहीम और बीरबल इनमें प्रमुख थे। अकबर के उत्तराधिकारियों में भी यह परम्परा अबाध रूप से चलती रही और रीतिकाल तक आते-आते तो यह स्थिति होगई कि उस काल के प्रायः सभी प्रमुख कवि राज्याश्रित ही थे। उदाहरण के लिये जयपुर दरबार के बिहारी, बूंदी दरबार के मतिराम, पन्ना और रायगढ़ दरबार के भूषण, ओड़छा दरबार के केशव इत्यादि। इस प्रकार उस समय की सम्पूर्ण ब्रजभाषा-कविता मानों राज्याश्रय के शीतल अक्षयवट की सघन

[1]विशेष दृष्टव्य : अकबरी दरबार के हिन्दी-कवि (डा०सरयूप्रसाद अग्रवाल)

छाया में सुख की साँस ले रही थी। उस समय के दरबारी कवियों का भी एक निश्चित आदर्श और प्रतिभा सम्बन्धी विशिष्ट स्तर होता था, जिसके सम्बन्ध में 'गुलाल' कवि ने जो युक्ति दी है, वह इस प्रकार है :—

'उकति अनूठी आवे ललित नवीन पद,
आखर जमावै आछे अमल सुढार में।
अरथ अनूप रूप रस दरसावै पर,
वाद ना बनावै विश्व विविध विचार में।।
कहत 'गुलाल' छंद आमरण राखै और,
अति रस भखि पति बनिता बिहार में।
पूछे कहि आवै औ कहे पै गहि आवै बेगि,
सो कवि कहावै छबि पावै दरबार में।।'[1]

परन्तु, आधुनिक काल तक आते-आते यह स्थिति समाप्त होने लगी। पहले ईस्ट इन्डिया कम्पनी और फिर ब्रिटिश सरकार के हाथों में शासन-सूत्र आते ही, राज्य-दरबारों का वैभव उजड़ने लगा तथा राजनीति और जीवन-संघर्ष के वात्याचक्र में पड़कर उनका वह विगत वैभव, कलानुराग तथा साहित्य-सँरक्षण धीरे-धीरे समाप्त होने को आगया। फिर भी, प्राक्-भारतेन्दु और भारतेन्दु-युग में अनेक राजा, ताल्लुकेदार और यहां तक कि छोटे-मोटे जमीदार तक भी अपने यहाँ कवियों को आश्रय देते थे, और इस प्रकार काव्य सृजन की उन्नति में योगदान करते थे। पूर्व-भारतेन्दु युग के सरदार, ग्वाल, रघुनाथ, हनुमान, लछिराम ब्रह्मभट्ट और सेवक तथा भारतेन्दु-युग के द्विज बलदेव, द्विज गङ्ग, अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध', गोकुल प्रसाद 'ब्रज' आदि विभिन्न राज्य-दरबारों में ही रहकर काव्य-साधना करते थे।

वर्तमान काल में भी 'अम्बिकेश', 'ब्रजेश', रामाधीन खरे, बिहारी ब्रह्मभट्ट, रामनाथ जोतिसी आदि सुप्रसिद्ध ब्रजभाषा-कवि विभिन्न राज्यदरबारों में ही रहकर काव्य रचना करते रहे हैं।

यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जहां ये राजा लोग एक ओर ब्रजभाषा-कवियों के संरक्षक तथा आश्रयदाता थे, वहीं दूसरी ओर उनमें से कुछ स्वयं भी ब्रजभाषा में बहुत श्रेष्ठ रचनायें करते थे। यहां तक कि कुछ राज्यों के शासक तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी काव्य-साधना करते आये हैं। इनमें रींवा और अयोध्या के राजाओं के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वैसे भी, रींवा के महाराजा विश्वनाथ सिंह और उनके सुपुत्र महाराज रघुराज सिंह, अयोध्या-नरेश मानसिंह 'द्विजदेव' तथा महा-

[1]पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ, कार्य विवरण, दूसरा भाग, पृष्ठ २८

राज प्रतापनारायण सिंह, किशनगढ़-नरेश नागरीदास, सीतामऊ-नरेश महाराज रामसिंह तथा झालावाड़-नरेश राजेन्द्रसिंह 'सुधाकर' आदि की ब्रजभाषा में लिखी गई कवितायें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार ब्रजभाषा-कविता के संवर्धन में राज्याश्रय से भी बड़ी सहायता मिली है।

समस्या-पूर्ति:—ब्रजभाषा-कविता की प्रेरक-शक्तियों में समस्यापूर्ति की प्रणाली भी महत्वपूर्ण रही है, और विशेषकर रीतिकाल तथा वर्तमान काल में ब्रजभाषा-काव्य परम्परा को अक्षुण्ण रखने में तो उसका व्यापक योग रहा है। समस्यापूर्ति की प्रथा साहित्य में कब आरम्भ हुई—यह तो निश्चित रूप से कहना बहुत कठिन है। परन्तु, इतना निश्चित है कि उसका मूल विद्वानों में पाई जाने वाली एक दूसरे की पद्य-रचना सम्बन्धी योग्यता को परखने की प्रवृत्ति रही होगी। संस्कृत के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में केवल राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में कवि-परीक्षा की परम्परा का वर्णन किया है, जो सम्भवतः आगे चलकर विद्वन्मण्डली से राज-दरबारों तक पहुंचकर इस रूप में विकसित हो गई होगी। हिन्दी के काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी इस विषय में मौन ही हैं। केवल जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने अपने 'काव्य-प्रभाकर' नामक ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। जो कुछ हो, समस्यापूर्ति की प्रणाली को लेकर संस्कृत में ऐसी अनेक किंबदन्तियां अवश्य मिलती हैं, जिनसे उसकी प्राचीनता का बोध होता है। विशेष कर विक्रमादित्य और भोज के विषय में ऐसी अनेक कथायें उपलब्ध हैं, जहां राजा ने कवियों को सफल समस्यापूर्ति के लिये प्रभूत मान तथा पुरस्कार दिया था।

जहां तक हिन्दी-कविता का सम्बन्ध है, मुग़ल शासन-काल में जब राजा तथा नवाबों के दरबार वाणी-विलास के केन्द्र तथा ललित-कलाओं के संरक्षण-सदन बन गये थे, तब समस्यापूर्ति की प्रणाली को अवश्य प्रोत्साहन मिला होगा। गोस्वामी तुलसीदास, अब्दुलरहीम खानखाना, आचार्य केशवदास, प्रवीण राय आदि के विषय में ऐसी अनेक कथायें प्रचलित हैं, जिनमें समस्यापूर्ति की प्रथा और उसके महत्व का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः, इस प्रणाली को अपना चरम उत्कर्ष रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में प्राप्त हुआ, जब कवि और उनके आश्रयदाता, असि-प्रयोग की परिस्थितियों के सम्यक् अभाव में, कोरे मसि के वीर रह गये थे, और वाणी-विलास ही उनका एकमात्र सात्विक मनोरजन रह गया था।

सत्य यह है, कि इस प्रणाली द्वारा दी गई समस्या पर विभिन्न कवियों का रचना-कौशल देखने को मिलता है, और यद्यपि उन पर समस्या का बन्धन वर्तमान

रहता है, फिर भी अपनी सीमित परिधि में उन्हें अपनी उर्वर प्रतिभा तथा कल्पना की ऊंची उड़ान दिखाने का पूरा अवसर प्राप्त होता है। यही नहीं, समस्यापूर्ति के द्वारा अपने को कवि कहलाने वाले व्यक्ति की थोड़े से ही समय में परीक्षा हो जाती है। अतः, राज-दरबारों में यह प्रणाली खूब पनपी, और इस क्षेत्र में आशुकवित्व तथा एक ही समस्या की विभिन्न रसों और अनेकानेक विषयों को लेकर पूर्ति करने वाले व्क्तिगण प्रभूत धन और सम्मान के अधिकारी हो गये। वास्तव में, मुक्तक-काव्य का तात्कालिक स्वरूप इस परम्परा द्वारा खूब निखरा। यही नहीं, समस्यापूर्ति करने वाले इन कवियों ने कलापक्ष की ओर अधिक ध्यान देते हुये ब्रजभाषा को बहुत मांजा। भावों की कसावट और भाषा की सजावट-उस समय की समस्यापूर्ति परम्परा की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। कभी-कभी ये समस्यायें भी बड़ी टेढ़ी होती थीं। यथा:—

केहि कारन फूली फली न चमेली।
हिय फाटि गयौ पै दरार न आई।
केहि कारन संभु कहावत भोला।
जम्बुक जाय अकास में रोयो।

और इनकी पूर्ति के लिये यश तथा मान के इच्छुक कविगणों को पर्याप्त मानसिक परिश्रम के अतिरिक्त सतत अभ्यास की भी आवश्यकता पड़ती थी। इस प्रकार, रीतिकाल में दरबारी मुक्तकों के रूप में ब्रजभाषा-कविता को लेकर समस्या-पूर्ति की प्रणाली पूरी तरह फूली-फली।

रीतिकाल की समाप्ति तक आते-आते, परिस्थितियों के प्रभाव से राज्य-दरबार तो उजड़ने लगे, पर उनका स्थान, स्थान-स्थान पर स्थापित कवि-समाजों ने ले लिया। काशी, बिसवां (जिला सीतापुर) कानपुर, आरा, वृन्दावन, कांकरौली आदि स्थानों पर कवि-मण्डल स्थापित हो गये, जिनकी नियमित रूप से होने वाली बैठकों में केवल समस्यापूर्तियों का ही प्राधान्य रहता था। यही नहीं, इस समय 'समस्यापूर्ति', 'कवि-वचन-सुधा', 'काव्य-सुधाधर', रसिक-वाटिका', आदि अनेक ऐसे पत्र भी निकले, जिनमें केवल समस्यापूर्तियां ही छपती थीं। भारतेन्दु स्वयं इस क्षेत्र में बड़ी रुचि रखते थे, तथा उनके मण्डल में 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिका-दत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राव कृष्णदेव शरण आदि कविगण समस्यापूर्ति करने में बड़े कुशल थे। वस्ततुः, उस समय ब्रजभाषा-कविता के व्यापक प्रचार और प्रसार में इस प्रणाली से बहुत बल मिला। यहां यह उल्लेखनीय है कि इन कवि-समाजों में कविगण केवल उपस्थित होकर ही अपनी पूर्तियां नहीं पढ़ते थे, अपितु दूर-दूर से, यहाँ तक कि अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों से भी डांक द्वारा अपनी पूर्तियाँ भेजा करते थे। ऐसे कवियों में गुजरात निवासी गोविंद गीलाभाई का नाम

बहुत प्रसिद्ध था। इन कवियों ने भाषा के परिष्कार, रस-वर्णन, शब्द-चयन आदि के क्षेत्रों में विशेष सफलता प्राप्त की थी।

उत्तर-भारतेन्दु-युग में, यद्यपि खड़ी बोली का प्राधान्य हो चला था, तथापि समस्यापूर्ति की प्रणाली यथावत ज़ोर पकड़ती चली गई। अन्तर केवल यह आया कि अब ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली में भी समस्यायें दी जाने लगीं। कुछ समस्यायें तो ऐसी भी होती थीं, जिनकी पूर्ति खड़ी–बोली या ब्रजभाषा में करना, कवि के लिये वैकल्पिक होता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऐसी दशा में अस्सी प्रतिशत से अधिक कविगण ब्रजभाषा में ही पूर्ति किया करते थे। कारण यह था कि एक तो ब्रजभाषा में शब्द-माधुर्य की अधिकता थी और दूसरे उसमें रचनाकार को भाषागत स्वतन्त्रता भी अधिक प्राप्त थी। इस समय तक आते-आते कवि-समाजों का स्थान कवि-सम्मेलनों ने ग्रहण कर लिया था। इनमें भाग लेने वाले कवियों तथा श्रोताओं, दोनों की ही संख्या कवि-समाजों की अपेक्षा कहीं अधिक होती थी। कुछ नगरों में तो कवि–सम्मेलनों के नियमित रूप से पाक्षिक, मासिक या त्रैमासिक अधिवेशन होते थे, और कहीं-कहीं विभिन्न सभा-समितियों के वार्षिक अधिवेशनों में इनका आयोजन किया जाता था। साहित्यिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं में तो आये दिन कवि-सम्मेलन होते रहते थे, और इनमें भी समस्यापूर्तियों की ही धूम रहती थी। समस्यापूर्ति की परम्परा को आगे बढ़ाने तथा उसके द्वारा ब्रजभाषा-काव्य की उन्नति में कानपुर से गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' द्वारा सम्पादित 'सुकवि' तथा कलकत्ता से रमाकान्त त्रिपाठी 'प्रकाश' द्वारा संपादित 'काव्य-कलाधर' नामक मासिक पत्रों ने विशेष योग दिया है। इधर ब्रज-साहित्य मण्डल, मथुरा द्वारा प्रकाशित 'ब्रज भारती' नामक मासिक पत्रिका में भी यदा-कदा समस्यापूर्तियों के दर्शन हो जाते हैं। इस प्रकार आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य की गति-विधि में समस्यापूर्ति प्रणाली का महत्वपूर्ण सहयोग रहा है।

ऊपर ब्रजभाषा-काव्य के जिन प्रेरक-स्रोतों तथा सहायक उपादानों का उल्लेख हो चुका है, उनके अतिरिक्त उसकी वर्तमान गति-विधि पर व्यापक प्रभाव डालने वाले कुछ ऐसे तत्व भी उपलब्ध हैं, जिन्होंने उसके अर्वाचीन स्वरूप को उसके प्राचीन रूप से पर्याप्त भिन्न बना दिया है। ये, वस्तुतः, वे सम-सामयिक आन्दोलन तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव हैं, जिनके द्वारा केवल ब्रजभाषा-कविता ही नहीं अपितु इस युग का सम्पूर्ण साहित्य ही न्यूनाधिक रूप में प्रभावित है। मुख्य रूप से ये निम्नलिखित हैं :—

१—साँस्कृतिक चेतना

२—वैज्ञानिक आविष्कार

३–राष्ट्रीय आन्दोलन

४–साम्यवाद

सांस्कृतिक चेतना :—आधुनिक कविता पर सांस्कृतिक जागरण का पर्याप्त प्रभाव है। ईसा की १९ वीं शताब्दी में देश के भीतर एक साँस्कृतिक उत्थान की लहर उठी। ऋषि दयानन्द ने आर्य-समाज को जन्म दिया, जिसने वैदिक संस्कृति के प्रचार और प्रसार को अपना मुख्य ध्येय बनाया। इसके अतिरिक्त ब्रह्म-समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसायटी, सर्वेन्टस आफ इण्डिया सोसायटी आदि संस्थाओं ने भी अपने-अपने ढंग से देश के साँस्कृतिक उत्थान में योग दिया। साँस्कृतिक गौरव की इस भावना ने आदर्शवाद को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप आदर्श व्यक्ति, आदर्श समाज, आदर्श राष्ट्र, आदर्श जीवन आदि को चित्रित करने की प्रवृत्ति सम-सामयिक कविता में दिखाई पड़ी। वर्तमान काल में मध्यकालीन धर्म का स्थान संस्कृति की इसी उदात्त तथा व्यापक भावना ने ग्रहण कर लिया है। साँस्कृतिक चेतना के फलस्वरूप काव्य में आत्मगौरव, प्रेम, सेवा, त्याग, सहानुभूति, करुणा आदि सद्वृत्तियों को जागृत करने वाले विषयों को स्थान मिला है। भारतेन्दु-युग से लेकर वर्तमान काल तक की पूरी एक शताब्दी की ब्रजभाषा-कविता पर यह प्रभाव बड़ी स्पष्टता से परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिये भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', वियोगी हरि, अनूप शर्मा, वचनेश मिश्र, किशोरी दास वाजपेयी आदि की कविताओं में उक्त प्रभाव बहुत प्रत्यक्ष रूप में मिलता है।

वैज्ञानिक आविष्कार—योरूप के देशों में पहले वैज्ञानिक आविष्कारों की धूम रही, जिसके फलस्वरूप वहाँ औद्योगिक क्रान्ति का जन्म हुआ। इसका प्रभाव वहाँ के निवासियों के जीवन, उनके चिन्तन तथा दृष्टिकोण पर बड़े व्यापक रूप से पड़ा। विज्ञान की दृष्टि, वस्तुतः, तथ्यानुसंधान की ओर रहती है। वह युक्ति, प्रमाण एवं तर्क पर आश्रित होता है। वस्तु की सत्ता को प्रधान मानने के कारण विज्ञान की दृष्टि मुख्य रूप से यथार्थवाद की ओर उन्मुख होती है।

अतः, अलौकिक चमत्कार, अन्ध-विश्वास, कोरे वाणी-विलास और थोथी कल्पना से उसका स्वाभाविक विरोध है। अंग्रेजी राज्य स्थापित होने पर भारत में भी यान्त्रिक सभ्यता की प्रतिष्ठा हुई, जिसने अन्ततोगत्वा कवियों और लेखकों को बहुत प्रभावित किया। आधुनिक कविता में बौद्धिकता, तर्क, विवेचन, सिद्धान्त-निरूपण आदि उसी के परिणामस्वरूप दिखाई देते हैं। प्राचीन काव्य जहाँ धर्म प्रेरित था, आज का काव्य तर्क और तथ्य प्रेरित है। धर्म ने मानव बुद्धि को पारलौकिक विषयों की ओर मोड़ा था, पर विज्ञान ने उसे सांसारिक विषयों की ओर

उन्मुख कर दिया। धर्म आदर्शवादी था, जबकि विज्ञान का झुकाव मुख्य रूप से यथार्थवाद की ओर है। धर्म की जिज्ञासा ने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के माध्यम जीव एवं ब्रह्म के रहस्य का उद्घाटन किया था, पर विज्ञान ने पंच-तत्वों, जड़-चेतन, कल-पुर्जे, कला-कौशल तथा अणु-परमाणु जैसे नूतन विषयों की ओर मानव-बुद्धि को मोड़ा। आधुनिक ब्रजभाषा-कविता पर यह प्रभाव अपेक्षाकृत कम ही दिखाई देता है, क्योंकि वह आरम्भ से ही भक्ति और धर्म प्रधान रही है। फिर भी, नये-नये विषयों (जैसे—मोटर, रेल, वायुयान, साइकिल, बिजली, रेडियो, अणुबम) को ग्रहण करने तथा प्राचीन कथानकों को नये तर्कवादी परिवेश में उपस्थित करना वैज्ञानिक प्रभाव के ही परिणामस्वरूप दिखाई देता है।

राष्ट्रीय आन्दोलन :—तीसरा प्रमुख प्रभाव राष्ट्रीय आन्दोलन का है। वस्तुतः, १८५७ ई० के आन्दोलन को ही प्रथम राष्ट्रीय आन्दोलन मानना चाहिये। यह दूसरी बात है कि वह विफल हो गया, पर उसकी विफलता ने भी साहित्य और काव्य के क्षेत्र में अनेक सफलताओं के दर्शन कराये, जिनके परिणामस्वरूप अनेक कवियों ने अपनी कविताओं में स्वाधीनता का महत्व पहचान कर राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता के विरुद्ध कभी धीमी और कभी तीव्र वाणी गुंजित की। दूसरे राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में गाँधी जी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन और सत्याग्रह का जन्म हुआ। इससे देश में क्रान्ति की एक सशक्त लहर उठी, जिसने जन-मन में देश-भक्ति की भावना भरदी। उधर अंग्रेजी साहित्य में देश-भक्ति का स्वर बहुत मुखर था। उसका भी प्रभाव हिन्दी कवियों पर पड़ा, जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। परिणामतः कविता में अनेक राष्ट्रीय विषय, जैसे—चरखा, तकली, तिरंगा झन्डा, असहयोग आन्दोलन, खादी, स्वराज्य आदि समाविष्ट होने लगे। उत्तर-भारतेन्दु-युग के ब्रजभाषा-कवियों पर इस सबका बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ा। इन कवियों में से कुछ तो ऐसे थे, जिन्होंने स्वयं ही राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था, और कारागार की कठोर यातनायें भुगती थीं। कुछ के परिवार-जनों ने भाग लिया था। अतएव, इन कवियों की कविताओं में राष्ट्रवाद का स्वर मुखर होना नितान्त स्वाभाविक था। ऐसे कवियों में गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी', ठाकुर उलफतसिंह 'निर्भय', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', वियोगी हरि आदि प्रमुख हैं।

साम्यवाद—यह एक राजनैतिक-दर्शन है, जिसके प्रवर्तक कार्लमार्क्स थे। मार्क्स के दर्शन ने संसार को एक नितान्त नई दृष्टि प्रदान की, जिसका प्रमुख आधार भौतिक जगत है। इसके अनुसार वस्तु-जगत की सारी बातें अर्थ पर आश्रित हैं। मानवसमाज की सम्पूर्ण प्रगति समुचित अर्थ-व्यवस्था पर ही अवलम्बित है। अर्थ पर पूंजीपतियों का अधिकार है, जिसके द्वारा वे निर्धनों का शोषण करते हैं। इस

प्रकार साम्यवादी दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण समाज दो वर्गों में विभक्त दिखाई देता है—एक है शोषकों का वर्ग और दूसरा शोषितों का। मार्क्स का दर्शन पूंजीपति वर्ग का अन्त करके आर्थिक साम्य की स्थापना करना चाहता है, जिसके लिये अन्य कोई विकल्प न होकर केवल संघर्ष का ही मार्ग सामने आता है। यह दर्शन पूर्णतः वैज्ञानिक दर्शन है, और समाज के वैज्ञानिक विकास में विश्वास करता है। इसी कारण यह प्राचीन रूढ़ियों तथा परम्पराओं का प्रबल विरोधी है। प्राचीन समाज-व्यवस्था मुख्यतः सामन्तवादी रही थी, जो अनेक अनाचारों की जड़ थी। साम्यवाद को ईश्वर, धर्म तथा आदर्शवाद में रंचमात्र विश्वास नहीं है, क्योंकि ये पूंजीवादी युग की देन रहे हैं। वह इन्हें प्रगति के मार्ग में बाधक मानता है।' जहाँ तक आधुनिक ब्रजभाषा-कविता का सम्बन्ध है, उस पर इस विचार धारा का प्रभाव बहुत ही कम पड़ा है। कारण यह है कि वह मूलतः धर्म-प्रेरित तथा भक्ति भावमय रही है। फिर भी, सम-सामयिक प्रवृतियों के फलस्वरूप कुछ कवियों पर इसका थोड़ा बहुत प्रभाव दिखाई देता है। सबसे स्पष्ट प्रभाव अध्यापक रामेश्वर 'करुण' रचित 'करुण-सतसई' पर दिखाई देता है, जिसमें कवि ने आज के वैषम्य पूर्ण समाज को बदलने के लिये पूर्ण रूपेण साम्यवादी विचार-धारा का आश्रय ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त, अछूतोद्धार, कृषक-दुर्दशा, महाजनों के अत्याचार आदि विषयों पर लिखी गई कविताओं में भी इस विचार धारा का परोक्ष प्रभाव उपलब्ध है।

उपरिलिखित विचार-धाराओं के अतिरिक्त स्वच्छंदतावादी तथा यथार्थ-वादी विचार धाराओं का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव आधुनिक ब्रजभाषा-कविता पर दिखाई देता है। छन्दों के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग तथा मुक्त-छन्द का प्रवर्तन जहां स्वच्छंदतावादी प्रभाव का प्रतिफल है, वहीं जीवन को अपने वास्तविक स्वरूप में ग्रहण कर उसे कविता में यथार्थ रूप से चित्रित करने की प्रवृत्ति यथार्थवाद के प्रभाव से आई हुई दिखाई देती है। इस प्रकार आधुनिक कविता पर विभिन्न सम-सामयिक आन्दोलनों तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचार धाराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

चतुर्थ अध्याय

प्रमुख रचनाकार

उपक्रम

आधुनिक काल में ब्रजभाषा-कविता के विकास की गति-विधि को परखने के लिए जिन तीन आधारों को अपनाया गया है, वे हैं—(१) प्रमुख रचनाकार (२) प्रमुख रचनायें (३) प्रमुख प्रवृत्तियाँ या विकास के विभिन्न आयाम। वस्तुतः इन्हीं मूर्त आधारों के सहारे विवेच्य-काल में ब्रजभाषा-कविता के विकास-क्रम का आकलन सम्भव है।

जहां तक इस अध्याय में दिये गये प्रमुख रचनाकारों के परिचय का सम्बन्ध है, उनका चुनाव करते समय मुख्यतः यह विचार दृष्टिपथ में रखा गया है कि इन में प्राक्-भारतेन्दु, भारतेन्दु तथा उत्तर-भारतेन्दु आदि तीनों युगों के कवियों का यथा सम्भव प्रतिनिधित्व हो जाय। दूसरे, यह कि जिन कवियों की केवल एक ही कृति उपलब्ध है, उन पर प्रमुख रचनाओं वाले अध्याय के अन्तर्गत ही विचार कर लिया जाय, और उन्हें प्रमुख रचनाकारों वाले अध्याय में न सम्मिलित किया जाय। उदाहरण के लिए 'ब्रज-भारती' के लेखक—उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' को प्रमुख रचनाकारों के अन्तर्गत न लेकर, उनकी इस कृति पर ही विचार कर लिया गया है। तीसरे, यह कि विवेच्य-काल के ब्रजभाषा-काव्य को विकास या प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करने वाली किसी विशिष्ट प्रतिभा को छोड़ न दिया जाय। उदाहरण के लिये प्राक्-भारतेन्दु-युग में दीनदयाल गिरि, भारतेन्दु-युग में 'औध' तथा ठा० जगमोहनसिंह और उत्तर-भारतेन्दु-युग में जयशंकर 'प्रसाद' तथा डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के समावेश का यही कारण है। गोविन्द गीलाभाई, अहिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त के ब्रज-भाषा-कवियों के प्रतिनिधि के रूप में तथा सैयद अमीरअली 'मीर' को ब्रजभाषा के प्रमुख मुसलमान कवि होने के नाते सम्मिलित कर लिया गया है।

एक शताब्दी की विस्तृत परिधि में फैली हुई ब्रजभाषा-काव्य-धारा में जिन अनेकानेक कवियों ने अपना योग-दान दिया है, उन सब का समावेश न तो इस शोध-प्रबन्ध की सीमित परिधि में सम्भव ही था और न समीचीन ही। अतः चयन की उक्त प्रणाली को अपनाकर विवेच्य विषय के दिग्दर्शन का प्रयास किया गया है। आवश्यकता यह है कि भविष्य में इन कवियों पर पृथक-पृथक रूप में सविस्तार विचार किया जाय, तथा जिस प्रकार खड़ी बोली के विभिन्न कवियों पर कई-कई आलोचनात्मक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उसी प्रकार आधुनिक काल के ब्रजभाषा-कवियों पर भी

अधिक नहीं तो परिचयात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके उनकी काव्य-गत विशेषताओं को प्रकाश में लाया जाय। इसी में हिन्दी साहित्य का वास्तविक हित निहित है।

"ग्वाल"

जन्म—सं० १८५९ निधन—सं० १९२४

वृन्दावन-निवासी 'ग्वाल' कवि ने मथुरा तथा काशी में रहकर काव्य-शास्त्र का अध्ययन किया था, और तदनन्तर काव्य-रचना को ही जीविकोपार्जन के रूप में अपनाकर ये विभिन्न राज-दरबारों तथा अनेक राजाओं के आश्रय में रहे।

इनकी रचनाओं से इनके कवि और आचार्य, दोनों ही रूप उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक इनके कबि-रूप का सम्बन्ध है, ये अनेक भाषाओं के ज्ञाता, मनमौजी जीव तथा अत्यंत बहुरंगी कवि थे। इसी कारण इनकी कृतियों में अनेक विषयों और विभिन्न शैलियों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। अपने पूर्ववर्ती कवियों की शैली के अनुकरण पर इन्होंने कई रचनायें प्रस्तुत की हैं, जिनमें 'नेह-निबाह' में ठाकुर तथा घनानन्द की स्वच्छन्दतावादी शैली, 'यमुना-लहरी' में पद्माकर की 'गंगा-लहरी' तथा 'हम्मीर-हठ' में चन्द्रशेखर वाजपेयी का अनुगमन उपलब्ध है। अनेक स्थानों में रहने के कारण इनका, मानव-जीवन विषयक ज्ञान तथा अनुभव बहुत व्यापक था, जिसका बहुत अच्छा उपयोग इन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। राज्याश्रित कवि होने के कारण इनकी कृतियों में चमत्कार के प्रति अधिक आग्रह स्पष्ट दिखाई देता है—चाहे वह अलङ्कारों के क्षेत्र में हो, चाहे उक्ति-वैचित्र्य के प्रसङ्ग में और चाहे दृश्य-योजना के अन्तर्गत। भक्ति-विषयक रचनायें करने के कारण इन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भक्त-सुलभ दीनता और विनम्रता के स्थान पर इनकी कृतियों में वैभव-प्रदर्शन व राजसी ठाठ बाठ के प्रति बड़ा व्यापक आकर्षण पाया जाता है। वैसे, अपने समय में ये बड़े लोकप्रिय कवि थे और आज भी उनके अनेक छन्द काव्य-प्रेमियों को कण्ठस्थ हैं।

पर, 'ग्वाल' का आचार्य-रूप उनके कवि-रूप की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। संस्कृत काव्य-शास्त्र का इन्हें अच्छा ज्ञान था, जिसके बल पर इन्होंने अनेक रीति-ग्रन्थों का निर्माण किया है, और अनेक स्थानों पर कई मौलिक उद्भावनायें भी प्रस्तुत की हैं। वैसे रीति-ग्रन्थ-रचना के लिए प्राचीन ग्रन्थों का आलोढ़न कर प्रौढ़ शास्त्रीय स्तर की रचनायें प्रस्तुत करने वाले आचार्यों में इनका विशेष स्थान है।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध नहीं कही जा सकती है। उसमें कहीं-कहीं पंजाबी, राजस्थानी और उर्दू का बड़ा व्यापक प्रयोग दिखाई देता है, जिसका कारण निश्चय ही उनका व्यापक देशाटन है। अलकार-प्रयोग के

क्षेत्र में ये स्वाभाविकता की ओर अधिक झुकते दिखाई देते हैं, और कुछ रचनाओं को छोड़कर, उनमें कहीं भी बलपूर्वक अलंकारों को प्रयोग करने की प्रवृत्ति नहीं परिलक्षित होती है।

इनकी कुछ कवितायें उदाहरण स्वरूप उपस्थित की जाती हैं :—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम-धाम,
गरमी झुकी है जाम-जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥
'ग्वाल' कवि कहै कोरे कुंभन तें कूपन तें,
लै लै जलधार बार-बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेरि अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

————

चाहिये जरूर इनसानियत मानस को,
नौबत बजे पै फेर मेर बजनी कहा।
जाति औ अजाति कहा हिंदू औ मुसलमान,
जाते कियो नेह ताते फेर भजनो कहा॥
'ग्वाल' कवि जाके लिये सीस पै बुराई लई,
लाजहूँ गँवाई ताते फेर लजनो कहा।
या तो रंग काहू के न रंगिये सुजान प्यारे,
रंगे तो रंगेई-रहे, फेर तजनो कहा॥

————

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो 'ग्वाल' कवि,
खाव पियो, देव लेव, यहीं रह जाना है।
राजा राव उमराव, केते पादसाह भए,
कहां ते कहां को गए, लग्यो न ठिकाना है॥
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसो,
देस-देस घूमि-घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहां—
नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है॥

दीनदयाल गिरि

जन्म—सं० १८५६ निधन—सं० १९१३

अपने समय में प्रचलित काव्य-धारा से पृथक रहकर अपनी साहित्य-साधना के लिये एक नितान्त नवीन क्षेत्र चुनने के कारण बाबा दीनदयाल गिरि आधुनिक

ब्रजभाषा-कविता में सदा स्मरणीय रहेंगे। ये दशनामी सम्प्रदाय के सन्यासी थे, और हिन्दी तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान। साहित्य-शास्त्र के विधिवत अध्ययन के फलस्वरूप काव्य-रचना की विविध प्रणालियों पर इनका अच्छा अधिकार देखा जाता है।

अन्योक्ति-लेखन के जिस क्षेत्र में इन्होंने विशेष सफलता प्राप्त की है, उसमें यद्यपि कवि की मार्मिकता और सौन्दर्य-भावना के स्फुरण का अच्छा क्षेत्र रहता है, तथा इसमें भी प्रतिभाशाली और भावुक कवि ही अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण अपने व्यापक अनुभव के बल पर इन्होंने दैनिक जीवन से गृहीत साधारण से साधारण और उपेक्षित से अपेक्षित विषयों पर सरस तथा भावमयी अन्योक्तियाँ लिखी हैं। लौकिक विषयों के अतिरिक्त कहीं-कहीं आध्यात्म-पक्ष पर भी दो चार अन्योक्तियां मिलती हैं, जो साधारण नीति-काव्य के अन्तर्गत परिगणित होने पर भी अपनी परोक्ष ध्वनि तथा जीवन सम्बन्धी अनुभव के सार-संकलन के रूप में महत्वपूर्ण हैं।

भाव-पक्ष के अतिरिक्त कविता के कलापक्ष पर भी इनका अच्छा अधिकार था। संस्कृत के मर्मज्ञ होते हुए भी इनकी भाषा में तत्सम-गर्भित पदावली तथा समास-बहुल पद-रचना के दर्शन नहीं होते हैं, और इसके स्थान पर तद्भव-प्रधान शब्द-विन्यास की गतिमयता तथा सरलता ही अधिक दिखाई देती है। वैसे, नीति काव्य की सफलता के लिये प्रसाद-गुण की अनिवार्यता सर्व मान्य ही है, पर इनकी कुछ ऐसी भी रचनायें उपलब्ध हैं, जिनमें कला प्रियता का प्राधान्य है। इन कृतियों में काव्य का भाव-पक्ष प्रायः दुर्बल पड़ गया है, और उक्ति-चमत्कार, कथन की वक्रता और अभ्यास-जन्य पद्य-रचना के उदाहरण देखने को मिल जाते हैं, यथा-अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका, दृष्टकूट इत्यादि।

अन्योक्तियों के अतिरिक्त कृष्ण-लीला, षट्ऋतु-वर्णन आदि के विषय में भी इनकी कुछ रचनायें उपलब्ध हैं, जो प्रचलित परम्परा के अनुसार लिखित होने के कारण सरस कवित और सवैयों में रची गई हैं। कुण्डलियां, कवित, सवैया, दोहा आदि के अतिरिक्त संस्कृत के कई वृत्तों, विशेपकर मालिनी छन्द के प्रयोग में इन्हें यथेष्ठ सफलता मिली है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

नाहीं भूलि गुलाब तू गुनि मधूकर गुंजार,
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार।
बहुरि कटीली डार होहिगी ग्रीष्म आये,
लुवैं चलेंगी संग अंग सब जैहैं ताये।

बरनै 'दीनदयाल' फूल जौ लौं तौ पाहीं,
रहे घेरि चहुं फेर फेरि अलि ऐहैं नाहीं।

चारौं दिसि सूझै नहीं यह नद धार अपार,
नाव जर्जरी भार बहु खेवनहार गंवार।
खेवनहार गंवार ताहि पै है मतवारो,
लिये भंवर में जाय जहां जल जंतु अखारो।
बरनै 'दीनदयाल' पथी बहु पौन प्रचारो,
पाहि पाहि रघुबीर नाम धरि धीर उबारो।

बहु छुद्रन के मिलन तें हानि बली की नाहिं,
जूथ जंबुकन तें नहीं केहरि कहु नसि जाहिं।

पराधीनता दुख महा, सुखी जगत स्वाधीन,
सुखी रमत सुक बन विषै, कनक पींजरे दीन।

छाड्यो गृहकाज कुललाज को समाज सबै,
एक ब्रजराज सौ कियो री प्रीतिपन है।
रहत सदाई सुखदाई पद पंकज में,
चंचरीक नाई भई छौड़े नाहिं छन है।
रति-पति मूरति विमोहन को नेमधरि,
विषै प्रेमरंग भरि मति को सदन है।
कुंवर कन्हाई की लुनाई लखि माई मेरो,
चेरो भयो चित्ता औचितेरो भयो मन है।

अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध'

जन्म—सं० १८६० निधन—सं० १९४२

'औध' जी एक नहीं अनेक दृष्टियों से अपने समसामयिक ब्रजभाषा-कवियों से भिन्न दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि उन्होंने रीतिकाल के उत्तरार्द्ध अपनी काव्य-साधना आरम्भ की थी, तथापि लम्बी आयु प्राप्त करने के कारण वे प्राक्-भारतेन्दु और भारतेन्दु युग तक में भी काव्य-रचना में संलग्न रहे। इस प्रकार उनकी कविताओं में इन तीन भिन्न-भिन्न युगों की काव्य-प्रवृत्तियां स्पष्ट दिखाई देती हैं।

साहित्य-शास्त्र का गुरु-परम्परा से विधिवत अध्ययन करके उन्होंने तात्कालीन कवियों की भांति काव्य-रचना को ही जीविकोपार्जन का साधन बनाया था, और इसी प्रसंग वे कई राज-दरबारों में भी रहे थे, पर उनकी रचनाओं में कहीं भी आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा, अतिशय अलंकार-प्रियता और उक्ति-वैचित्र्य

के दर्शन नहीं होते हैं। यही कारण है कि उनकी कवितायें परिपाटी-मुक्त मार्ग पर चलने के स्थान पर स्वच्छंद कवित्व की ओर ही अधिक झुकती दिखाई देती हैं। वस्तुतः, इसीलिये जहां उनकी रचनायें तत्कालीन रीति-ग्रन्थों में कम उद्धृत हुई हैं, वहीं वे समसामयिक जनता की कण्ठहार बनी रही हैं।

वैसे, उन्होंने प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्य दोनों ही क्षेत्रों में रचनायें की हैं, पर यहां पर भी उन्होंने प्राचीन भावनाओं को नितान्त नूतन ढंग से प्रस्तुत किया है। प्रबन्ध-काव्यों में मुख्यतः प्राचीन धार्मिक कथाओं को नये ढंग से प्रस्तुत करने की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है और मुक्तक-कविता में भी समस्यापूर्ति, षट्ऋतु-वर्णन, नख-शिख आदि परम्परागत विषयों को लेकर उन्हें नये ढंग से अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है।

भावपक्ष की भांति भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने बिलकुल स्वच्छंद दृष्टिकोण ही अपनाया है। शब्द-चयन में अत्यधिक पटु होते हुये भी वे विशुद्धतावादी प्रवृत्ति को आद्योपान्त त्यागे रहे हैं। इसी कारण उनकी कविताओं में उर्दू और फारसी के अनेक व्यंजक शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। रीतिकालीन कवि ठाकुर के पश्चात् आधुनिक काल के आरम्भ में वे ही पहले कवि थे, जिन्होंने मुहावरों और लोकोक्तियों की घनीभूत व्यंजना-शक्ति पहचानी थी, और कविता में उनका प्रचुर प्रयोग किया था। उनके अनेक छन्दों के अन्तिम चरण लोकोक्ति-परक हैं, जिसके कारण छन्द पढ़ लेने के बाद भी उसकी अनुध्वनि मन में गूँजती रहती है। जहां तक अलंकार-प्रयोग का सम्बन्ध है, वे अनुप्रास और शब्द-मैत्री के परम भक्त दिखाई देते हैं। ऐसा लगता है मानों ये दोनों अलंकार निष्प्रयास ही उनकी शब्दावली में गुथते चले जाते हैं। वैसे, अन्य अलंकारों में साम्य-मूलक अलंकारों का ही प्राधान्य है। छन्दों के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी और संस्कृत के अनेक वृत्तों का प्रयोग किया है।

उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

कूबरी की यारी को न सोच हमें भारी ऊधौ,
यही अफसोस सांवरे की निठुरान को।
जोग जो लै आये सो हमारे सिर-आंखिन पै,
राखन को ठौर तन-तनकौ न आन को।
अंग-अंग व्रती है वियोग ब्रजचंद जू के,
'औध' हिये तान वा रसीली मुसकान को।
आंखें असुवान को, करेजो मैन-बान को,
जबान गुन-गान को औ कान बंसी-तान को।

चंदन चीन्हि कै त्यागि हमें दियो, आदर कूबरी कूर को काठक ।
ऐसी अनीति सही न परै या वियोग मे जोग कही अंग आठक ।।
चाहिए ऐसी न 'औध' उन्हैं, हम हू सुनि आपन औसर गाठक ।
नंदललै तो भलै मसलै कियो—'डोम को डोली औ पैंदर पाठक' ।।

———

क्रूर अक्रूर के साथ गये मथुरा के नहीं अब फूले समाते ।
पाछिली 'औध' सबै बिसराये, जियाये हमारे ही दूध औ भाते ।।
आप प्रमानिक, कूबरी कानिक, पाय बने हमैं जोग सिखाते ।
मौन गहौ जनि ऊधौ कहौ अब—'नाना के आगे नेनौरे की बातें' ।।

———

लानत गाज परे यहि रीझिपै, न्यामति छांड़ि कै बांधी मलामति ।
क्या जबां शीरी, फकीरी कहै 'औध' आखिर ऊधौ जले पै जलामति ।।
... ...
थुकथूआ हूआ तौ हुआ पै हुआ करौ, कूबरी-कान्ह की जोड़ी सलामति ।।

'द्विजदेव' (महाराज मानसिंह)

जन्म—सं० १८७५ निधन—सं० १९३०

अयोध्या-नरेश महाराज मानसिंह स्वयं एक परम भावुक कवि, काव्य के मर्मज्ञ, और कवियों तथा विद्वानों के आदरकर्ता थे। साहित्य-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता तथा रीतिकालीन काव्य-परम्परा से पूर्ण रूपेण अवगत होते हुये भी इनकी रचनाओं में इनके कवि-हृदय के ही अधिक दर्शन होते हैं, और कविता के कलापक्ष के प्रसाधन की अपेक्षा भावपक्ष की महत्ता और उसकी सरसता की ओर अधिक आग्रह दिखाई देता है। वस्तुतः, ये उन कवियों में से थे, जो परम्परा-पालन के लिये ही काव्य-रचना की ओर नहीं झुकते हैं, अपितु हृदय की तरंग और उमंग में आकर काव्य-रचना की ओर प्रवृत होते हैं। इसी कारण इनकी कृतियों में सर्वत्र ही स्वानुभूति की सजीवता और ताज़गी मिलेगी, रूढ़ि-प्रियता और परिपाटी-पालन का निर्जीव बासीपन नहीं। सत्य यह है कि आधुनिक काल में अन्तरानुभूति-प्रेरित काव्य-रचना की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसके यथार्थ अंकुर सर्व प्रथम 'द्विजदेव' की कविताओं में ही प्राप्त होते हैं, यद्यपि उनके विकास और परिवर्द्धन का कार्य आगे चल कर भारतेन्दु और उनके सहयोगियों द्वारा सम्पन्न हुआ।

कविता के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा प्रकृति वर्णन, और रूप-चित्रण के क्षेत्र में इन्हें अधिक सफलता मिली है। खुली आंखों व्यापक प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करके उसका तदनुरूप चित्रमयी भाषा में प्रत्यक्षीकरण—इनकी कविताओं की प्रमुख विशेषता रही है। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा अंकित रूप-चित्र भी बहुत मर्म-

स्पर्शी बन पड़े हैं, जिनकी व्यंजना में इनकी नाद-सौंदर्यमयी भाषा बहुत सहायक रही है।

आचार्यत्व के प्रति इनमें रंचमात्र आग्रह नहीं दिखाई देता है, पर युग की समसामयिक प्रवृत्ति के अनुरूप इनकी अनुभूति, जन्य कविताओं में भी शास्त्रीय परम्परा और लक्षण-उदाहरणों की परिपाटी का परोक्ष आभास खोजा जा सकता है।

अवधी की गोद में पलकर भी इनकी भाषा टकसाली ब्रज है, जिसमें सर्वत्र ही माधुर्य और प्रसाद गुण का परिपाक हुआ है। सरस पद-विन्यास के साथ-साथ भाषा की चित्रमयता, ध्वन्यार्थ-व्यंजना तथा लाक्षणिक-वक्रता के प्रति भी विशेष अनुराग इनकी कविताओं में परिलक्षित होता है। वस्तुतः, सम्पूर्ण प्राक्-भारतेन्दु युग में इनकी जैसी स्वच्छ, सरस, सजीव और मधुर भाषा लिखने वाला अन्य कोई कवि नहीं दिखाई पड़ता है। भावपक्ष-प्रधान होने के कारण इनकी रचनाओं में अलंकार-प्रियता के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखाई देती है, पर जहाँ कहीं अलंकारों का प्रयोग हुआ है वहां वे वर्ण्य-विषय को साकार करने में पूर्ण सहायक प्रतीत होते हैं।

उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिरन त्यागि करें अनत कहूं न गौन।
'द्विजदेव' त्यौं ही मधुभारन अपारन सों,
नेकु झुकि झूमि रहै मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारों कहा?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति मौन मौन।
चांदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

———

आजु सुभायन ही गई बाग, बिलोकि प्रसून की पांति रही पगि।
ताहि समै तहं आए गोपाल, तिन्हैं लखि औरो गयो हियरो ठगि॥
पै 'द्विजदेव' न जानि परयो धौं कहा तेहि काल परे अंसुवा जगि।
तू जो कही, सखि! लोनो सरूप, सो मो अंखियान को लोनी गई लगि॥

———

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकीगन,
सिखै हारी सखी सब जुगुति नई नई।
'द्विजदेव' की सौं लाज-बैरिन कुसंग इन,
अंगन हू आपने अनीति इतनी ठई॥

हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समै में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं में चल पलन दगा दई॥

———

मिलि माधवी आदिक फूल के व्याज बिनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तान बितान, सबै विधि चित्त चुरायो करैं॥
'द्विजदेव' जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, बसंत, सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

राजा लक्ष्मण सिंह

जन्म—सं० १८८३ निधन—सं० १९५३

उमर-खैयाम की रुबाइयों के अनुवाद के लिये विश्व-विख्यात अंग्रेजी कवि-एडवर्ड फिट्जेराल्ड की भांति राजा साहब भी अपने सरस और मधुर अनुवादों के लिये स्मरणीय रहेंगे। इन्होंने कालिदास के शकुन्तला नाटक तथा मेघदूत और रघुवंश नामक काव्यों के ऐसे सरस तथा मधुर अनुवाद प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें पढ़कर मूल-रचना जैसा आनंद प्राप्त होता है।

ब्रज-प्रदेश के निवासी होने के कारण इनकी भाषा में ब्रजवाणी की जो स्वाभाविक मधुरता और सरसता मिलती है, वह ब्रज-मण्डल से दूर रहकर ब्रजभाषा में काव्य-रचना करने वाले कवियों की भाषा में दुर्लभ है। इनके अनुवादों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें मूलकृति के भावों को यथासम्भव सुरक्षित रखकर उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि अनुवाद की भाषा के प्रवाह में रंचमात्र बाधा नहीं पड़ती है। वैसे, इनकी वृत्ति मुख्यतः मार्मिक और रमणीय प्रसंगों के अनुवाद में ही विशेष रूप से रमी है और इसके लिये इन्होंने कवित और सवैया का माध्यम ग्रहण किया है। अन्यत्र, जहां कोरी कथा-मात्र विद्यमान है, वहां इन्होंने भीं चलताऊ ढंग से अनुवाद कर दिया है।

इनका अलंकार-प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक तथा निष्प्रयास है और सर्वत्र ही भाव-सौन्दर्य की वृद्धि में सहायक रहा है। मुख्य रूप से साम्य-मूलक अलंकारों के प्रयोग में इनकी निपुणता दर्शनीय है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

शिला पै गेरू ते कुपित ललना तोहिं लिखि के।
धरथी जौ लौं चाहों सिर अपन तेरे पगन में॥

चलैं आंसू तौ लौं उमगि मग रोकैं दृगन कौ।
नहीं घाता घाती चहत हम याहू विधि मिलैं॥
—मेघदूत से अनूदित

———

हांसी बिन-हेत, मांहि दीखति बतीसी कछु, निकसी मनो है
पांति ओछी कलिकान की।
बोलन चहत बात निकसति तोतरि सी, लागति अनूठी
मीठी बानी तुतलान की॥
गोद ते न प्यारौ और भावै मन कोऊ ठांव, दौरि-दौरि बैठें
छोडि भूमि अंगनान की।
धन्य-धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात, कनिया लगाय धूरि ऐसे सुबनान की॥
—शकुन्तला से अनूदित

गोविन्द गीलाभाई

जन्म—सं० १९०५ निधन—सं० १९८३

ब्रजभाषा के अहिन्दी-भाषी काव्य-साधकों में गोविन्द जी का नाम आदर के साथ स्मरण किया जायगा। जन्म से गुजराती भाषा-भाषी होते हुये भी वे पूर्व-भारतेन्दु युग से ही काव्याराधन में प्रवृत्त होकर एक लम्बी अवधि तक अबोध रूप से ब्रजभाषा-कविता का भंडार भरते रहे। उनकी रचनायें मात्रा और गुण दोनों ही दृष्टियों से महत्व पूर्ण हैं।

इनकी रचनाओं में इनके कवि और आचार्य–दोनों ही रूपों के दर्शन होते हैं। कवि के रूप में इनकी प्रतिभा समस्यापूर्तियों, कृष्ण–लीला–गान तथा धार्मिक कथाओं के पुनराख्यान में अधिक रमी है। काशी के कवि समाज में कभी इनकी समस्यापूर्तियों की बड़ी धूम थी। आचार्यत्व के क्षेत्र में रस, अलंकार, पिंगल और नायिका-भेद पर इनकी अनेक कवितायें उपलब्ध हैं, पर परिपाटी-मुक्त होने के कारण इनमें किसी नई उपलब्धि के दर्शन नहीं होते हैं। इस प्रकार इनका कवि रूप ही अधिक महत्वपूर्ण है। स्वभाव से अध्ययन शील होने के कारण इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र गम्भीरता तथा भावों की जटिलता भी मिलती है, पर काव्य की सरसता का संस्पर्श पाकर उस का प्रभाव क्षीण पड़ जाता है।

इनकी भाषा साहित्यिक ब्रज होते हुये भी कहीं-कहीं प्रान्तीय प्रयोगों से प्रभावित दिखाई देती है। उसमें प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण का पर्याप्त समावेश होने के कारण वह सर्वत्र भावानुकूल रही है। आरम्भिक रचनाओं में अलंकार-प्रियता का आधिक्य दिखाई देता है, पर कालान्तर में वह घटता गया है।

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

वारिद के बुंद मंद-मंद बरसत, अरु मंद-मंद बोलत मयूर मन-भावनों।
चचला चमक चहुं ओर लसे मंद-मंद, मंद-मंद मारुत सुहात सुख छावनों।।
मंद-मंद झूलत हिंडोरे नर-नारी सबै, मंद-मंद पपिहा पुकार पियआवनों।
'गोविंद' अनेक ऐसे कौतुक उपावन को, आयो मनभावन ये सावन सुहावनों।।

————

अजर अमर अज अकथ अगम यह, बरन करन सब सघन अघन हर।
भगत भजत तब तजत सहस भय, अभय करत मन परम धरम धर।।
जनम मरन जग हरन सबल जन, करन कमन वह कमल नयन घर।
अभर भरत भव अचल धरन यह, कर समरन मन महत लछन वर।।

(मात्रा-विहीन छन्द)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जन्म— सं० १९०७ निधन— सं० १९४२

बहुमुखी प्रतिभा के धनी—'भारतेन्दु' ने साहित्य की जिन–जिन विधाओं को अपने कृतित्व से समृद्ध किया था, व्रजभाषा-कविता उनमें सर्वोपरि है। कविता की जो परम्परा उन्हें रिक्थ के रूप में रीतिकाल से मिली थी, वह अत्यन्त घिसी-पिटी, और निर्जीव थी। यह उन्हीं की अल्पकालीन पर अनवरत साहित्य-साधना का फल था कि अपने पश्चात वे जो रिक्थ परवर्ती युग को दे गये, वह पाये हुये की अपेक्षा शत-शत रूप में श्रेष्ठतर और विपुलतर था।

संक्रान्ति-युग की संधि-रेखा पर खड़े हुये भारतेन्दु की कविता में प्राचीन और नवीन, आदर्श और यथार्थ, शिष्ट और लोक,की दो पृथक-पृथक धारायें दृष्टिगोचर होती हैं। एक ओर तो उनकी कविता में प्राचीन परम्परा की प्रायः सभी शैलियों का अनुगमन ही नहीं अपितु उत्कर्ष पाया जाता है, वहीं दूसरी ओर आधुनिक युग के प्रवर्तक होने के नाते उनकी कविता को यथार्थ जीवन के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त है। विषयों का जैसा वैविध्य उनकी कविता में उपलब्ध है, वैसा पूरी एक शताब्दी की परिधि में पाये जाने वाले किसी अन्य कवि की कविता में प्राप्त नहीं है। हास्य, श्रृंगार, भक्ति, प्रकृति-चित्रण आदि सभी क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियां अनुपम हैं।

भारतेन्दु की भाषा एक साथ ही शुद्ध, सरस, प्रांजल तथा मधुर है। परवर्ती निर्जीव भाषा का परिष्कार करके उसको सजीव और स्वाभाविक बनाने का गुरुतर कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ था। उनकी भाषा तत्सम, तद्भव, देशी, विदेशी

लोक और शिष्ट-सभी शब्दों को अपनाती चलती है, शर्त केवल यह है कि वे अपने आप में व्यंजक और चित्रमय हों। व्यंजकता के साथ-साथ प्रसाद गुण का भी पूरा परिपाक उनकी भाषा में दिखाई देता है। वह कहीं भी क्लिष्ट नहीं है।

मुख्यतः भाव-धर्मी कवि होने के कारण उन में अलंकारों का आग्रह नाम-मात्र को नहीं दिखाई देता है। चित्र-काव्य या कौतुक-काव्य की रचना उन्होंने केवल विनोदार्थ की थी। अतः जो कुछ अलंकार यत्र-तत्र सहज रूप में आगये हैं, वे अत्यन्त स्पष्ट और भाव-सौंन्दर्य के साधक हैं। फिर भी, उनकी उक्तियों में जो अलंकृति है, वह विरल है।

छन्द की दृष्टि से रचना की जितनी भी शैलियां हैं, उन सभी का प्रयोग उनकी कविताओं में उपलब्ध है। गेयपद, सवैया, कवित्त, छप्पय, कुण्डलिया आदि से लेकर उर्दू की गज़लें और लावनी, होली, दादरा, कजली आदि का न्यूनाधिक प्रयोग उनकी कविताओं में मिलता है।

उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

खुटाई पोरहिं पोर भरी।
हमहिं छांड़ि मधुबन में बैठे, बरी कूर कुबरी॥
स्वारथ लोभी मुंह देखे की हमसों प्रीति करी।
'हरीचंद' दूजेन के ह्वै कै हा हा हम निबरी॥

————

सोई लिया अरसाय कै सेज पै, सो छबि लाल बिचारत ही रहे।
पोंछि रुमालन सों श्रम-सीकर, भौंरन कौं निरुवारत ही रहे॥
त्यों छवि देखिबे कौं मुखतैं, अलकैं 'हरिचंद जू' टारत ही रहे।
द्वैक घरी लौं जके से खरे, वृषभानु कुमारि निहारत ही रहे॥

————

कहं गए विक्रम भोज राम बलि कर्ण युधिष्ठिर,
चंद्रगुप्त चाणक्य कहां नासे करिकै थिर।
कहं क्षत्री सब मरे जरे सब गए कितै गिर,
कहां राज को तौन साज जेहि जानत है चिर।
कहं दुर्ग-सैन-धन-बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
जागो अब तौ खल-बल दलत, रक्षहु अपुनो आर्य मग॥

————

पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीओ सदा विक्टोरिया रानी।
सूरज चंद प्रकाश करैं जब लौं रहै सातहू सिंधु मैं पानी॥

राज करौ सुख सों तब लौं जिनि पुत्र औ पौत्र समेत सयानी ।
पालौ प्रजाजन कों सुख सों जग कीरति-गान करैं गुन जानी ।।

———

परत चन्द्र प्रतिबिंब कहूं जलमधि चमकायो ।
लोल लहर लहि नचत कबहुं सोई मन भायो ।।
कबहुं होत सत चंद, कबहुं प्रगटत, दुरि भाजत ।
पवन गवन बस बिंब रूप जल में बहु साजत ।।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'

जन्म–सं० १९१२ निधन सं० १९७९

साहित्य के क्षेत्र में 'प्रेमधन' को भारतेन्दु का सटीक संस्करण ही समझना चाहिये। वे भारतेन्दु के अनन्य मित्र होने के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन और काव्य-साधना दोनों में ही उनसे प्रेरणा ग्रहण करते दिखाई पड़ते हैं। परन्तु, अपनी दीर्घकालीन साहित्य-साधना के उतरांश में वे उतर-भारतेन्दु-युग का भी प्रतिनिधित्व करते हैं।

उनके काव्य में प्राचीनता का तत्व कम और नवीनता का अधिक है। प्राचीन पद्धति के अनुसार रचित कविताओं में कृष्ण-लीला-गायन के कुछ पद, एक अपूर्ण प्रबन्ध-काव्य तथा सरस समस्यापूर्तियां हो आती हैं, जो मात्रा की दृष्टि से अधिक न होते हुये भी साहित्यिक उत्कृष्टता की दृष्टि से बहुत सफल बन पड़ी हैं। शेष, नई धारा की रचनाओं में देश-भक्ति, राज-भक्ति समाज-सुधार तथा हास्य-व्यंग्य सम्बन्धी कवितायें सम्मिलित की जा सकती हैं, जो कविता को धरती पर उतारकर उसे समसामयिक जीवन की प्रतिच्छवि बना देने की प्रवृत्ति की प्रतिफल हैं। सामाजिक विषयों में बाल-विवाह, बृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह तक की चर्चा दिखाई देती है, और राजनीतिक विषयों में जहाँ एक ओर विक्टोरिया की हीरक-जयन्ती का उल्लेख हुआ है, वहीं दूसरी ओर कचहरियों में हिन्दी के प्रवेश पाने तथा दादा-भाई नौरोजी के पार्लियामेंट के मेम्बर चुने जाने पर भी पद्य-रचना की गई है।

उनमें, भारतेन्दु की भांति, सभी रसों पर लिखने की प्रवृत्ति देखी जाती है। श्रृंगार, करुण और हास्य में उन्हें विशेष सफलता मिली है। अत्यधिक ज़िन्दा-दिल होने के कारण वे संगीत से भी दूर न थे, अत: उन्होंने कजली, गज़ल, ठुमरी, खेमटा, लावनी आदि में भी रचनायें प्रस्तुत की हैं।

जहां तक प्रकृति-वर्णन का सम्बन्ध है, उनका हिन्दी-उपनाम 'प्रेमधन', उर्दू उपनाम 'अब्र' (बादल) तथा उनके द्वारा संचालित पत्रों के–'नागरी-नीरद',

'आनंद-कादंबिनी' आदि नाम उनके प्रकृति-प्रेम के प्रतीक हैं। ऋतुओं में वे वर्षा को सर्व-श्रेष्ठ मानते थे, अतः उनके पावस-वर्णन बहुत सरस बन पड़े हैं। बिन्ध्याचल की प्राकृतिक-छटा के निरीक्षण का प्रभाव इन रचनाओं पर स्पष्ट दिखाई देता है।

वे मुख्यतः ब्रजभाषा के कवि हैं, यद्यपि मौज में आकर उन्होंने खड़ी बोली और उर्दू में भी कवितायें लिखी हैं। उनकी भाषा में साहित्यिक विशुद्धता के स्थान पर प्रवाह और सजीवता के अधिक दर्शन होते हैं, और यदा-कदा भोजपुरी का प्रवाह भी स्पष्ट दिखाई देता है। संस्कृत-गर्भित पदावली के स्थान पर चलताऊ भाषा का आधिक्य देखा जाता है, जिससे कविता की सरसता में विशेष वृद्धि हुई है।

अलंकार-प्रयोग की ओर इनका विशेष झुकाव नहीं देखा जाता है। केवल सानुप्रास-पदावली तथा साम्य-मूलक अलंकार ही इस क्षेत्र में इनकी रचानाओं का प्रसाधन करते हैं। अन्य छन्दों की अपेक्षा इनके सवैये अधिक सरस बन पड़े हैं।

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

मदमाते भिरे भंवरे भंवरीन, प्रसून मरन्द चुचातन सों,
किलकारत कोइलैं मंजु रसालन-मंजरी सोर सुहात न सों।
'धनप्रेम'—भरी तरु तैं लपटी, लतिका लदि नूतन पातन सों,
मन बौरैं न कैसे सुगन्ध-सने, इन बौरे बसन्त की बातन सों।

———

पै भागनि सों जब भारत के सुख दिन आए।
अङ्गरेजी अधिकार अमित अन्याय नसाए॥
लह्यों न्याय सबही छीने निज स्वत्वहिं पाई।
दुरभागिनि बचि रही यही अन्याय सताई॥
लह्यो देस भाषा अधिकार सबै निज देसन।
राजकाज आलय विद्यालय बीच ततच्छन॥

———

भाई पुरवाई की चलनि, चहंकार चारु,
चातक-चमू की निसि-द्यौस चारौ पहरन।
अम्बर उड़त बगुलान की अवलि, कुंज,
नाचि-नाचि मुदित मयूर लागे लहरन॥
कलित कदम्बन सों लिपटी लवंग-लता,
छिति छन-छन छन-छबि-छबि छहरन।
'प्रेमधन' मन उपजाय, सरसाय हिय,
घेरि घन सघन घनेरे लागे घहरन॥
—(पावस-वर्णन)

प्रतापनारायण मिश्र

जन्म—सं० १९१३ निधन—सं० १९५१

भारतेन्दु-युग की सभी काव्य-प्रवृत्तियों के समवेत दर्शन जिन दो कवियों—('प्रेमधन' और प्रतापनारायण मिश्र) में उपलब्ध होते हैं, प्रतापनारायण मिश्र उन में अन्यतम हैं, और नूतन प्रवृत्तियों को अपनाने में तो वे स्वयं भारतेन्दु और प्रेमधन दोनों से ही आगे हैं। यद्यपि प्राचीन परम्परा का पालन करते हुये भी उन्होंने कुछ काव्य-कृतियां प्रस्तुत की हैं, तथापि मात्रा में वे बहुत अधिक और मौलिकता की दृष्टि से वे बहुत उत्कृष्ट नहीं हैं। हां, इनकी समस्यापूर्तियों में चारों चरणों की समान स्थापना के साथ-साथ वर्ण्य-वस्तु या दृश्य को मूर्त कर देने की क्षमता अवश्य दिखाई पड़ती है। प्राचीन काव्य-परम्परा के अनुसार लिखित कविताओं में मुख्यतः ईश्वर और धर्म, तथा प्रार्थना और विनय के विषय ही ग्रहण किये गये हैं। पर, नवीन प्रवृत्तियों के अनुरूप लिखित रचनाओं में सामयिक जीवन को छूने के ही नहीं, वरन् उसे आत्मसात कर लेने की भावना भी परिलक्षित होती है। तभी तो, देश-प्रेम, जाति-गौरव और भाषानुराग की तरल त्रिवेणी इन कविताओं में तरंगायित दीखती है।

वे स्वयं बड़ी स्वतन्त्र और मनमौजी प्रवृत्ति के जीव थे। अतएव इसी स्वच्छदता और मस्ती का प्रतिबिम्ब इनकी पंक्ति-पंक्ति में दिखाई पड़ता है। इसी के परिणामस्वरूप इन्होंने साहित्य में स्वीकृत काव्य-विधाओं के साथ-साथ लोक-स्वीकृत शैलियों में भी प्रचुर रचनायें प्रस्तुत की हैं।

गद्य की भांति पद्य के क्षेत्र में भी हास्य और व्यंग्य-इनके अचूक अस्त्र हैं, जिनके सहारे इन्होंने समसामयिक जीवन की विकृतियों के मूलोच्छेदन का प्रयत्न किया है, और ऐसा करने में प्रयाप्त सफलता प्राप्त की है।

जहां तक इनकी कविता के कलापक्ष का सम्बन्ध है, यहां भी ये परम्परा के दास नहीं रहे हैं। इनकी ब्रजभाषा पर पूर्वीपन, विशेषकर बैसवाणी का स्पष्ट प्रभाव है। कहीं-कहीं अनेक भाषाओं में रचना करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है, और इनके कुछ छन्द तो ऐसे हैं जिनका आधा भाग ब्रजभाषा तथा आधा फारसी या सस्कृत में रचित है। वैसे, भाषा की सरसता और गतिशीलता इनकी रचनाओं में आरम्भ से अन्त तक दर्शनीय है। संस्कृत-गर्भित पदावली के स्थान पर तद्भव-बहुल-पदावली और उसमें भी लोक-जीवन से गृहीत व्यंजक शब्दों का प्रयोग, इनकी कविताओं को अधिकाधिक लोक-प्रिय बनाने में सहायक हुआ है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग भी इनकी भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि का प्रमुख कारण है।

अलंकार प्रियता की ओर इनकी अत्यल्प रुचि देखी जाती है तथा जहां-जहां उनका प्रयोग मिलता है वहां वे अपने स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुये हैं। छन्दों में इन्होंने कवित, सवैया, कुण्डलिया, छप्पय आदि के अतिरिक्त लावनी, कज़ली, दादरा, आल्हा, होली आदि को भी अपनाकर उनमें प्रभूत रचनायें की हैं।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:–

बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोले न 'नाहीं', न 'हां'।
तुमही मनुहारि के हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहां॥
बरसा है 'प्रताप जू' धीर धरौ, अबलों मन को समझायो जहां।
यह व्यारि तबै बदलैगी कछू, 'पपिहा जब पूछिहै पीव कहां'॥

———

(समस्यापूर्ति)

आजु फगुवानों डोलै छैल
रंग-राते रसिया के मारे, चलि न सकै कोउ गैल॥
जैसो आप सखा संग तैसो काहू को न दबैल।
आवत लखि कै कुल जुबतिन को, लगै मचावन फैल॥
सबकी लाज लेन में दैया, गिनै सधारन सेल।
'प्रेमदास' धौं काह करैगो, जसुमति को बिगरैल॥

———

(होली)

छोडि नागरी, सुगुन आगरी, उर्दू के रंग राते।
देसी वस्तु बिहाय, विदेसिन सों सर्वस्व ठगाते॥
मूरख हिंदू, कस न लहैं दुख, जिनकर यह ढ़ंग दीठा।
'घर की खांड खुरखुरी लागै, चोरी का गुड़ मीठा'॥

(लोकोक्तिशतक)

———

आगे रहे गनिका गज गीध सुतौ जब कोऊ दिखात नहीं है।
पाप-परायन ताप भरे 'परताप' समान न आन कहीं है॥
है सुखदायक प्रेमनिधे जग यों तौ भले और बुरे सबहीं हैं।
दीन दयाल औ दीन प्रभो तुमसे तुमहीं हमसे हमहीं हैं॥

ठाकुर जगमोहनसिंह

जन्म––सं० १९१४

निधन––सं० १९५५

भारतेन्दु-युगीन काव्य-धारा में सभी समसामयिक कवियों से पृथक रहकर प्रेम और प्रकृति के गायक-ठाकुर जगमोहनसिंह रसखान, घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि की परम्परा के स्वच्छंदतावादी कवि थे। यदि कविता को परखने की

कसौटी यही मानली जाय कि उसमें कवि के जीवन का वास्तविक प्रतिबिम्ब विद्यमान हो, तो इस दृष्टि से इनकी कवितायें इनके जीवन की झांकी प्रस्तुत करने के कारण, निश्चय ही सच्ची कविता कही जाने की अधिकारिणी होंगी।

भारतेन्दु से काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त कर भी ये बाह्य जगत और देश के राष्ट्रीय जीवन में प्रतिदिन घटित होने वाली घटनाओं की ओर ध्यान नहीं दे पाये और अपनी अनुरागमयी प्रकृति के कारण स्वयं अपने ही जीवन के अनुभवों और उसमें घटी घटनाओं को काव्य-बद्ध करते रहे। इनका व्यक्तिगत जीवन अत्यधिक भावुकतापूर्ण और प्रेममय था। अतः इनकी कविताओं में यही अनुराग प्रतिफलित दिखाई पड़ता है, जो आगे चलकर सामान्य लौकिक-प्रेम से उठकर अलौकिक प्रेम और भक्ति-भावना के सीमान्तों को स्पर्श करता दिखाई देता है। मानवीय प्रेम के अतिरिक्त प्रकृति के क्षेत्र में भी इस प्रेम की अभिव्यक्ति बड़े सरस और सूक्ष्म ढंग से हुई है। इस क्षेत्र में इन्होंने रूढ़िगत उद्दीपन या अलंकरण रीति से प्रकृति-वर्णन को त्याग कर स्वकीय निरीक्षण के बल पर ऐसे सरस-मधुर चित्र उपस्थित किये हैं, जो पाठकों के हृदय पर वर्ण्य-दृश्यों की सजीव झांकी उपस्थित कर देते हैं। मध्यप्रदेश के निवासी होने के कारण इन्हें उस प्रदेश की प्राकृतिक छटा के निरीक्षण के अनेक अवसर मिले थे और इनकी रचनाओं में उसके अनेक सुन्दर चित्र मिलते हैं।

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत के अनेक काव्यों का पद्यानुवाद भी किया है, जिनमें मूल रचना जैसा आनन्द आता है। वैसे, समस्यापूर्ति की ओर भी इनकी रुचि थी और ये बड़ी सरसपूर्तियां करते थे।

भावों की अकृत्रिमता के साथ-साथ इनकी भाषा में भी स्वाभाविकता, सरलता और सरसता का प्राचुर्य है। सरल, सुबोध और श्रुतिमधुर शब्दावली का प्रयोग इनकी रचनाओं को हृदयाग्राह्य बनाने में बहुत सहायक हुआ है। इनकी कविता में अलंकारों के प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत कम देखी जाती है। यदि कहीं अलंकारों का प्रयोग हुआ भी है तो केवल साम्य-मूलक अलंकारों, जैसे--उपमा, रूपक, उतप्रेक्षा आदि का ही और ये भी अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त होने के कारण भाव-पक्ष की वृद्धि ही करते हैं।

अन्य छन्दों की अपेक्षा इन्हें सवैया के प्रयोग में विशेष सफलता मिली है। इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :--

> अम्बर में जल में थल में जहां देखो तहां तरु की पतियान में।
> कानन की सरितान, सरोज, सरोवर, सौरभ मैन--कमान में॥
> मोर में, मीन में, किंसुक में, सुक में, ससि श्रीफल में, सुतियान में।
> झूलती है वह झूलनहार, अजी हिय में, जिय में, अखियान में॥

———

पंचमी चारु-सुचाव भरी यह धन्य घरी परदोष अरी।
जेहिं पांचहूं बानन कानन तान कै मारे मनोज ने केतिकरी।।
घनि आजु की कारी निसा सजनी, रजनी तुअ आनि कै पीर हरी।
लगि कंठ करेजहि चम्पक माल-सी, कीन्हीं कपूर लौ मो जियरी।।

———

सौदा कियो हम नेह-बजार, अजार लियौ सब भाँति ठगावै।
लाद के पूंजी नफा न भई, अब टोटी परी कछु हाथ न आवै।।
प्यारी वियोग-चटान सो आइ भई टुक टुक सो कौन बचावै।
खेवनहार भयो मतवार, निरास जहाज को पार लगावै।।

———

जलनिधि जल गहि जलधर धारन धरनीधर घर आए।
पटल पयोधर नवल सुहावन इत उत नभ घन छाए।।
फरफरात चंचल चपला मनु घन अवली दृग राजै।
गरजत घूमि भूमि छवै बादर घूम घूसरे साजै।।
बारिद वृन्द बीच बिजुरी वलि चंचल चारु सुहानी।
छिन उवरत, छिपि जात छिनक छिन, छटा छकित सुखदानी।।

———

निसि चन्द बसंत बहार हूं मंद, मनोहरता कहं सो धरती।
धरती जब नूतन साजती साज, पपी पिक तान जबै भरती।।
'जगमोहन' अमृतधाम कहाय गले विष पावक लौ जरती।
नहिं हां तो पतंग तो बापुरे इन्दु की जोतहूं जोर कहा करती।।

अम्बिकादत्त व्यास

जन्म—सं० १९१५ निधन—सं० १९५७

भारतेन्दु मण्डल के कवियों में व्यास जी सबसे अधिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। हिन्दी और संस्कृत में समान सफलता से काव्य-रचना करने के कारण वे भारतेन्दु द्वारा 'सुकवि' तथा काशी की पंडित-मण्डली द्वारा 'घटिका-शतक' की उपाधि से विभूषित किये गये थे। वस्तुतः, काव्य-कला उन्हें बाल्यावस्था से ही सिद्ध थी, जिसका परिचय उन्होंने अनेक अवसरों पर आशु-कवित्व द्वारा दिया था।

संस्कृत के परम विद्वान होते हुये भी ब्रज-भाषा में उनका केवल कवि रूप ही दृष्टिगोचर होता है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी में अतुकान्त छन्दों के प्रयोग का प्रयत्न किया था[1], यद्यपि इस प्रयत्न में उन्हें अभीष्ट सफलता न मिली।

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) दसवां परि० सं०, पुष्ठ ५८३

सरस और सत्वर समस्यापूर्ति की ओर उनकी अधिक रुचि थी। ऐसी स्थिति में उन पर रीतिकालीन प्रभाव होना अपरिहार्य था। पर, इसी के साथ उन्होंने अनेक नये विषयों पर स्फुट कवितायें भी लिखी हैं, जो उनके परिवर्तित दृष्टिकोण की प्रतीक हैं। उन्होंने बिहारी के दोहों पर कुण्डलियां भी रची हैं, तथा प्रचलित कवित-सवैया की शैली के साथ-साथ लोक-गीतों की शैली में कजरी, धमार, होली आदि की भी रचना की है।

उनकी भाषा में प्रवाह,प्रसाद और माधुर्य का प्राधान्य है, तथा संस्कृत के ज्ञाता होने पर भी उनकी पदावली में तत्सम-गर्भित शब्दावली के दर्शन नहीं होते हैं। उनका अलंकार-प्रयोग भावपक्ष की वृद्धि में सहायक तथा निष्प्रयास है।

उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

गई आजु हुती ब्रज-बाट सखी, सु कहा कहूं साध धरी की धरी रही।
हरि आय अचानक धौं कित सों, मुहिं अंक भरी मैं खरी की खरी रही।।
कवि 'अंबिकादत्त' के हाथ परी, भरी झोरी अबीर परी की परी रही।
लरकी लरी हार, चुरी कर की करकी, पिचकारी भरी की भरी रही।।

———

इन दुखिया अंखियान कों सुख सिरजाई नांहि।
देखे बनै न देखते, अनदेखे अकुलांहि।।
अनदेखे अकुलांहि, हाय आंसू बरसावत।
नेह भरेहू रूखे ह्वै अति जिय तरसावत।।
'सुकवि' लखतहू पलक कलप सत सरिस सुहाइ न।
प्रान जाइ जो तांउ, दोउ दृग को दुख जाइ न।।

नवनीत चतुर्वेदी

जन्म– सं० १९१५ निधन–सं० १९७६

आधुनिक ब्रजभाषा-कविता के सम्मान्य प्रतिनिधि तथा स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के काव्य-गुरु के रूप में स्मरणीय नवनीत जी उन ब्रजभाषानुरागियों में से थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ब्रजभाषा-काव्य की साधना तथा ब्रज-वाणी की गौरव-वृद्धि में लगाया, और आज भी उनके पुत्र—गोविन्द चतुर्वेदी इसी कार्य में संलग्न हैं।

इन्होंने प्राचीन परम्परानुसार साहित्य-शास्त्र की विधिवत शिक्षा प्राप्त की थी, और आरम्भ में उनकी रचनायें नख-शिख-वर्णन, रस-रसांग-विवेचन, षट्ऋतु-वर्णन तथा इसी प्रकार के अन्य परिपाटी-मुक्त विषयों को लेकर हुई हैं। परन्तु बाद

में ये भक्ति-रस की ओर मुड़े और कालान्तर में उनकी यह भक्ति ईश्वर-भक्ति के साथ-साथ देश-भक्ति, भाषा-भक्ति तथा संस्कृति-भक्ति में परिणत हो गई।

वस्तुत: इनकी प्रतिभा प्राचीन भाव-भूमि पर नवीन भावों की सृष्टि करने में विशेष रमती दिखाई देती है। इसी प्रसंग में इन्होंने 'कुब्जा-पच्चीसी' लिखकर चिर-प्रताड़िता कुब्जा के साहित्यिक समुद्धार का कार्य किया है।

वैसे, तो प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में इन्होंने कुछ छोटी-मोटी रचनायें प्रस्तुत की हैं पर इनकी कीर्ति का वास्तविक आधार वे सैकड़ों छन्द हैं, जो आज भी ब्रजभाषा प्रेमियों द्वारा सुने जा सकते हैं। उक्ति-वैचित्र्य, शब्द-शिल्प, रूपकों का सम्यक निर्वाह तथा सरस मधुर भाषा, इन फुटकर छन्दों की इतनी अधिक लोकप्रियता में सहायक रही है। इनकी भाषा साहित्यिक होने के साथ-साथ ब्रज-प्रदेश में प्रचलित प्रान्तीय शब्दों से संवलित है, और इसी कारण उसमें एक अपूर्व प्रवाह, गति-मयता, सजीवता तथा विशिष्ट माधुर्य के दर्शन होते हैं।

इनकी आरम्भिक रचनाओं में अलंकार-प्रियता के अतिरिक्त विशेष रुझान देखा जाता है, पर बाद की रचनाओं में अलंकारिकता की प्रवृत्ति धीरे-धीरे कम होती चली गई है। वैसे, उक्त रचनाओं के अतिरिक्त समस्यापूर्ति करने में भी इनकी विशेष गति थी, और ये कठिन से कठिन समस्याओं की अविलम्ब तथा सफलतापूर्वक पूर्ति करने में बहुत निपुण थे।

कवि-रूप के अतिरिक्त आचार्य-रूप में भी इनकी कुछ कृतियां उपलब्ध हैं, पर उस दिशा में परम्परानुसरण की प्रवृत्ति ही मुख्य रूप से पाई जाती है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :–

अच्छत आनन्द, फूल के फूल, सुचाह की चंदन चौप चढावन।
त्यों 'नवनीत' जू लाग की लौंग, उमंग सिन्दूर को रंग रचावन॥
धावन धूप संयोग-सुगंध लै, केलि-कपूर की जोति जुरावन।
कान्ह दिवारी की रैन चलै, बरसाने मनोज के मंत्र जगावन॥

———

कुंज के मंजु महारस रंग में अंग उमंग भरे रससामी।
त्यों 'नवनीत' जू गोपिन को अभिमान लख्यो हरि अंतरयामी॥
छोडि गए बन में बहकाय कै, आय कै आप बने सुखधामी।
कौन सो दोष हमारो रह्यो, उन नाहक मोहि दई बदनामी॥

———

पल पल प्यादेन के जोर दुंहु ओरन ते,
चोट हिम हाथिन की ओट बहने परे।

नैन तुरकीन की दिसान में डकैती देखि,
सुरति सुतुर भागे कौन गहने परै।
मन फरजीन की वकालती तगादी किस्त,
तख्त बादसाह छोड़ि मौन रहने परे।
हाय, अब कौन तें फिराद करबे को 'नीत'
प्यारी के वियोग सतरंज सहने परे।।

———

कमला थिर न 'रहीम' कह, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चंचला होय।।
क्यों न चंचला होय, जोय बूढ़े कूं ब्याही।
परस नेह संपन्न लता ज्यों तरु अवगाही।।
कहै 'नीत' करि प्रीति मीतहूं चाहत बिमला।
पर-तीया को धर्म साधि थिर रहै न कमला।।
(रहीम के दोहे पर 'नवनीत' कृत कुण्डलिया)

श्रीधर पाठक

जन्म–सं० १९१६ निधन–सं० १९८५

उत्तर--भारतेन्दु--युग के कवियों में पाठक जी की प्रतिभा सबसे अधिक नूतनता-विधायिनी थी। यद्यपि उन्होंने खड़ीबोली में भी कवितायें लिखी हैं, पर उनकी वृत्ति ब्रज-वाणी में ही रमती थी। वे यद्यपि पुरानी परम्परा में पले और पनपे थे, तथापि उनकी दृष्टि सर्वथा नवीन थी। इसी कारण, इनकी कविता न तो रूढ़ियों में जकड़ी दिखाई देती है, और न इनकी वृत्ति समस्यापूर्ति जैसे मानसिक–व्यायाम में ही रम पाती है। कविता के लिये नवीन विषय खोजने के हेतु साहित्य-शास्त्र के पन्ने पलटने के स्थान पर, अपनी रागात्मिका वृत्ति के कारण ये उन्हें अपने जीवन और चारों ओर फैले हुये जगत में से ही अनायास प्राप्त कर लेते थे।

प्रकृति के प्रति तो इनका असीम अनुराग दिखाई देता है, जो उसके साधारण से साधारण और उपेक्षित अंग को भी नहीं भुला पाता है। इसी हेतु, इनकी कवि–ताओं में प्रथम बार खेत-खलिहान, जौ-गेहूँ, सोया-पालक, लहलहाती फसल और लहराते ताल-पोखरों को स्थान मिला है। परन्तु, इसके साथ ही प्रकृति के अपेक्षाकृत गरिमा-मय अंगों को भी बिसराया नहीं गया है। काश्मीर-सुषमा, हिमालय-वर्णन आदि कवितायें इसकी प्रमाण हैं।

प्रकृति–चित्रण के साथ–साथ राष्ट्र और समाज के प्रति भी ये पर्याप्त जागरूक दिखते हैं, जिसके फलस्वरूप इनकी भारतोत्थान, बाल-विधवा, भारत-प्रशंसा

आदि कवितायें लिखी गई हैं। हां, भारतेन्दु-युग के कवियों की भांति इनकी देश-भक्ति भी राज-भक्ति के समानान्तर ही चलती दिखाई देती है।

भाषा के क्षेत्र में भी इन्होंने परम्परागत भाषा को पूर्णतः स्वीकार न कर के उसे जीवन के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया है। अतः इनकी ब्रजभाषा बहुत अंशों में खड़ी बोली से प्रभावित है। फिर भी, उसमें जिस सजीवता और सरसता के दर्शन होते हैं, वह समसामयिक कवियों की भाषा में कठिनतापूर्वक ही दिखाई देती है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में तो इनकी जैसी मधुर और रसभरी ब्रजभाषा पुराने कवियों में भी किसी-किसी की ही मिलती है। इनकी भाषा में अलंकारों का बहुत कम प्रयोग मिलता है। केवल अनुप्रास, सन्देह उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक आदि कहीं-कहीं मिल जाते हैं। कवित्त-सवैयों के अतिरिक्त बरवै छन्द के प्रयोग में भी इन्हें विशेष सफलता मिली है।

मूल-रचनाओं के अतिरिक्त इनके द्वारा किये गए अनुवाद भी बहुत सरस बन पड़े हैं, जिनमें मूल-भावों की रक्षा के साथ-साथ भाषा का प्रवाह भी दर्शनीय है। साथ ही, इनके पढ़ने में स्वतन्त्र रचना जैसा आनन्द आता है।

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

सूखे जरे बिरवा पुनिहुं हरिजू के प्रताप सबै हरि ऐहैं।
मालती चारु चमेली, गुलाब की सौरभ फेरि समीर समैहैं ॥
ते नलिनी हरविन्द के बृन्द, सरोवर-वारि में शोभा सजैहैं।
कीजै न सोच कछू अलि बावरे, बीते दिना सुख के पुनि ऐहैं ॥ (भ्रमराष्टक)

———

हे घन, किन देसन मह छाये, वर्षा बीति गई।
फिरहु कहां भरमाये, क्या यह रीति नई ॥
सावन परम सुहावन, पावन सोभा जोय।
सो बिन तुम्हारे आवन, रह्यो भयावन होय ॥
गयो सलूनो सूनो, तुम बिन निपट उदास।
दुख बाढ़ै दिन दूनो, चहुं दिसि परि रह्यो त्रास ॥
सरवर सरित सुखानी, रजमय मलिन अकास ॥
ऊबि अवनि अकुलानी, खग मृग मरि रहे प्यास ॥ (घन-विनय)

———

सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी ॥
विहरति बिबिध-बिलास भरी जोबन के मद-सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि-बनि ॥
(काश्मीर-सुषमा)

नीले सरोजन के दल की कहुं लीनी मनोहर गाढ़ी लिलाई।
कीनी कहूं कजरा के कलाप की सोभा-सनी रमनीक निकाई ।।
गर्भवती अबलान की त्यों छतियान की छीनी कहूं कमनाई।
घेरि रही है घटना नभ में चहुं ओर अनोखी छटा छबि छाई ।।
(ऋतु-संहार से अनूदित)

नाथू राम शर्मा 'शंकर'

जन्म—सं० १९१६ निधन—सं०१९८९

भारतेन्दु-युग से ही ब्रजभाषा—कविता की श्री-वृद्धि में संलग्न 'कविता—कामिनि-कान्त', 'शंकर' जी उन काव्य-साधकों में से थे, जो प्राचीनता और नवीनता के संधि-स्थल पर खड़े होने के कारण ब्रजभाषा-कविता की नई और पुरानी दोनों ही धाराओं का यथार्थ प्रतिनिधित्व करते हैं। कार्य-व्यवसाय से कवि नहीं, कविराज, धर्म की दृष्टि से आर्य-समाजी और हृदय से कवि, 'शंकर' जी कवि और काव्याचार्य दोनों ही रूपों में हमारे सम्मुख आते हैं।

इनकी आरम्भिक कविताओं में समसामयिक प्रभाव के फलस्वरूप षट्ऋतु—वर्णन, नख-शिख, रस-रसांग-विवेचन, समस्यापूर्ति आदि की ही प्रवृत्ति पाई जाती है। पर, आगे चलकर कुछ तो आर्य-समाज आन्दोलन से प्रभावित होकर, और कुछ खुली आंखों जीवन और जगत पर दृष्टिपात करने के कारण, ये नवीन और समयोपयोगी विषयों की ओर मुड़े। इनकी इन कविताओं में सुधार और उपदेश का स्वर कहीं-कहीं तो इतना प्रखर हो गया है, कि वह कवि के स्थान पर उपदेशक के कंठ से निकला हुआ ज्ञात होता है। हां, ब्रजभाषा-कविताओं में ऐसी रचनाओं की संख्या बहुत कम है।

समस्यापूर्ति के क्षेत्र में इनकी प्रतिभा अपने चरम उत्कर्ष पर दिखाई देती है। एक ही समस्या की अनेक रसों में और वह भी अविलम्ब पूर्ति करने में ये अप्रतिम थे। इसी के साथ इनका आशु-कवित्व भी दर्शनीय था। नये-नये छन्दों के निर्माण तथा पिंगल-शास्त्र के नियमों को अक्षरशः पालन करने में इनकी प्रतिभा विशेष रूप से प्रवृत्त हुई है।

हिन्दी के साथ-साथ उर्दू और ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ीबोली में कविता करने के कारण इनकी ब्रजभाषा विशुद्ध नहीं रह पाई है, और यदा-कदा तो वह अपने सीमान्तों को लांघती हुई खड़ीबोली के साथ साधर्म्य स्थापित करती हुई दीखती है। फिर भी उसमें सरसता, प्रसाद-गुण और सजीवता की कमी नहीं है।

इनकी आरम्भिक रचानाओं में अलंकारों के प्रति व्यापक मोह देखा जाता

है, पर बाद में वह अपेक्षाकृत कम होता गया है। ब्रजभाषा-कविता के नितान्त अपने अलंकारों-अनुप्रास और शब्द-मैत्री के अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति और सन्देह के प्रति ये अधिक अनुरक्त प्रतीत होते हैं। छन्द प्रयोग के क्षेत्र में इन के जैसी विविधता सम्पूर्ण उत्तर-भारतेन्दु-युग में अन्यत्र नहीं दिखाई देती है।

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : —

आनन की ओर चले आवत चकोर, मोर,
दौरि-दौरि, बार-बार बेनी झटकत हैं।
झूमि-झूमि चखन को चूमन को चंचरीक,
लट की लटन में लपट लटकत हैं॥
'शंकर' उरोजन पै राजहंस बैठि-बैठि,
हारन के तार तोरि-तोरि पटकत हैं।
आजु इन बैरिन सौं बन में बचावे कौन,
अबला अकेली मैं अनेक अटकत हैं॥ (रूप-गर्विता)

———

भरिबो है समुद्र को शम्बुक में, छिति को छिगुनी पर धारिबो है।
बंधिबो है मृणाल सों मत्त करी, जुही फूल सों सैल बिदारिबो है॥
गनिबो है सितारन को कवि 'शंकर' रेनु सों तेल निकारिबो है।
कविता समुझाइबो मूढ़न को, सविता गहि भूमि पै डारिबो है॥

———

'शंकर' नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अम्बर तें ऊंची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघल कर,
घूम-घूम धरनी घुरी सी बढ़ जायगी॥
झारेंगे अंगारे ये तरनि, तारे, तारापति,
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि बिधि की बनावट बचैगी नाहिं,
जो पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायगी॥

———

मुंदे न राखति दीठ त्यों, खुले न राखति लाज।
पलक-कपाट दुहून के, पलपल साधत काज॥

महाराजकुमार रंगनारायण पाल 'रंगपाल'

जन्म—सं० १६२१ निधन—सं० १६६३

भारतेन्दु द्वारा 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित, बस्ती जिले में हरिहरपुर

के ताल्लुकेदार 'रङ्गपाल' ब्रजभाषा के सामन्तों-साधकों की प्राचीन परम्परा के यथार्थ प्रतिनिधि थे। वे कवि होने के साथ-साथ कवियों के संरक्षक तथा आश्रय-दाता भी थे। उनके मतानुसार काव्य-रचना अन्तर से उद्भूत वस्तु-मात्र न होकर सतत साधना की वस्तु थी। अतः उनकी रचनाओं में उनके विशद अध्ययन का स्पष्ट प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है। उन्होंने काव्य-शास्त्र तथा पिंगल शास्त्र का विधिवत अध्ययन किया था, और वे सत्कवि होने के लिए अध्ययन की उपयोगिता को अपरिहार्य मानते थे। परन्तु, यह सब होते हुये भी उनकी रचनाओं में कहीं भी बौद्धिकता का प्राबल्य नहीं दिखाई देता है, वरन् रसात्मकता का ही प्राचुर्य है।

इनकी समस्त रचनाओं में प्राचीन तथा नवीन काव्य-प्रवृत्तियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जहां एक ओर उन्होंने अपने को 'राधा-माधव-चरण-कमल-मधुकर' लिखकर भक्ति-रस में ओत-प्रोत अतिशय अलंकारिक रचनायें प्रस्तुत की हैं, वहीं दूसरी ओर हास्य, करुण, शान्त और वीर रस की कविताओं में समसामयिक विषयों पर भी लेखनी चलाई है, जिसमें देश-दशा, गौ सेवा, नया फैशन, भाषा-प्रेम आदि समाविष्ट दिखाई पड़ते हैं।

साहित्य के साथ-साथ संगीत-शास्त्र तथा राग-ताल आदि के अच्छे ज्ञाता होने के कारण इन्होंने अनेक गेय-पदों की भी रचना की है, जिन में भावों की सरसता के साथ नाद-सौंदर्य तथा माधुर्य की यथेष्ट व्यंजना दिखाई देती है। इनकी बाद की रचनाओं में विषाद और असतोष का गहरा स्वर ध्वनित दिखाई देता है, जो सम्भवतः देश की दयनीय दशा का प्रतिफल है।

जहां तक कविता के कलापक्ष का सम्बन्ध है, इनकी भाषा में ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल तद्भव-प्रधान पदावली ही मुख्य रूप से प्रयुक्त हुई है। आरम्भिक रचनाओं में अलंकृत-शैली और बाद की रचनाओं में सहज, स्वाभाविक भाषा-शैली ही प्रमुख दिखाई देती है। वैसे, भाषा पर इनका अपूर्व अधिकार था और इसी कारण विभिन्न रसों की योजना करते समय वह तदनुरूप ओज, माधुर्य या प्रसाद गुण से युक्त दिखाई देती है। शब्दालंकारों में श्लेष, यमक और अनुप्रास तथा अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उदाहरण, तद्गुण आदि इन्हें विशेष प्रिय रहे हैं। छन्दों में इन्होंने हिन्दी और संस्कृत के सभी प्रचलित वृत्तों को ग्रहण किया है, तथा कुछ गेय पद और लोक-गीत भी लिखे हैं।

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

मोगरे की कहि तूने दई, परखी महू तौ रही माल उही की।
पै अब तौ चकि सी रही मालिनि, कै जदुआगुन तूने गुही की॥
'रङ्गजूपाल' सुकौतुक के मिस, काहू बनावटी रङ्ग छुही की।
क्यों भई मो कर दोपहरी, गले मेलति हुये गई सोनजुही की॥

सम्पति ते सब काज सरैं, सुख भूरि भरै जस आदर होई ।
ता बिन कोउ न पूछत बात, लहै दुख त्यों अपमान खरोई ।।
'रङ्गजूपाल' मनै कहनावति, सांच परै जग जाहिर जोई ।
गांठ में दाम तौ नाम निजाम, नहीं तौ कहै निजमा सब कोई ।।

———

गोरी लै गुलाल मूठ मेलिबे पिया पै चली,
तौलौं प्राणप्यारे तकि कुंकुम चलायो है ।
ओढि कर नीचो नारि सिमिट पिछौहै चली,
'रङ्गपाल' हेरि छवि आनन्द अघायो है ।।
पाटी सो पिछलि सीसफूल मुकुतान युत,
पद्मराग-जड़ित उरोज यों सुहायो है ।
त्यागि तमतोमहिं, तरैयन को लीने सङ्ग,
मानों सूर सरकि सुमेरु पर आयो है ।

———

मो हिय में बसैं राधा के पांय, कहौं तुम सों, यह भूलि न जैहौ ।
'रङ्गजूपाल' मनै एहि भांति सो, देखिबो है कब लौ इतरैहौ ।।
रावरे प्राण की प्राण जवै, वह मान करैगी तो कैसे करैहौ ।
केशव सांची कहो तो भला, उत पाँय पलोटन हू नहिं पैहौ ।।

———

पी कहाँ, पी कहाँ पीकि रह्यो, सुनि लै पपिहा रस प्रेम प्रवाहक ।
बेतुकी कूक उलूकन की रही छाय चहू दिसि वाही के चाहक ।।
माधुरी आदरै कौन ? रही चुप 'रङ्गजूपाल' करै श्रम नाहक ।
कांच बेसाहनहारे रहे अब, हेरे मिलैं नहिं हीरा के गाहक ।।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जन्म–सं० १९२२ निधन–सं० २००३

खड़ीबोली के सर्व प्रथम महाकाव्य, 'प्रिय-प्रवास' के प्रणेता 'हरिऔध' ने अपनी साहित्य-साधना ब्रजभाषा के माध्यम से ही आरम्भ की थी और जब तक वे जीवित रहे, खड़ी बोली के साथ-साथ ब्रजभाषा-काव्य को अपनी रचनाओं द्वारा समृद्ध करते रहे। वस्तुतः, उनका हृदय ब्रजभाषा-कविता के प्रति अधिक अनुरक्त था। इसी कारण उनकी ब्रजभाषा-कविताओं में जिस सरसता और मधुरता के दर्शन होते हैं, वह उनकी खड़ीबोली की रचनाओं में दुर्लभ है।

उनकी आरम्भिक रचनाएं मुख्यतः समस्यापूर्तियों के रूप में उपलब्ध हैं, जिनमें कल्पना की ऊंची उड़ानें ही मुख्य रूप से देखी जाती हैं। पर, बाद में अनेक नूतन तथा समसामयिक विषयों को भी लेकर काव्य-रचना की प्रवृत्ति परि-

लक्षित होती है। वास्तव में, उनकी ब्रजभाषा-रचनाओं में उनके दो रूप—(१) कवि रूप (२) आचार्य रूप दिखाई देते हैं और दोनों ने ही ब्रजभाषा-काव्य को आगे बढ़ाने में पर्याप्त योग दिया है।

जहां तक उनके कविरूप का सम्बन्ध है, उसमें समाज-सुधार, देश प्रेम, धार्मिक-सहिष्णुता आदि के स्वर अत्यन्त मुखर हैं। प्राचीन संस्कृति के प्रबल समर्थक होते हुए भी उनमें राष्ट्र की प्रगति के मार्ग में बाधक सभी प्रकार की रूढ़ियों के प्रति घृणा दिखाई देती है, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में सर्वत्र उपलब्ध है। जहां तक प्रकृति चित्रण का सम्बन्ध है, उन्होंने उसके उद्दीपन और अलंकरण-प्रधान वर्णन को त्यागकर आलम्बन तथा रहस्यात्मक सता वाले स्वरूप को ही विशेष रूप से ग्रहण किया है।

साहित्य शास्त्र के आचार्य के रूप में उन्होंने अपने ग्रन्थ 'रस-कलस' में जो अनेक मौलिक उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं, उनमें प्रमुख हैं—शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का महत्व प्रतिपादन, परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नायक और नायिकाओं के अनेक नवीन भेदों की परिकल्पना तथा शृंगार रस के प्रसंग में भी अतिशय शृंगारिकता और अश्लीलता का यथा-सम्भव परिहार।

जहां तक कविता के कलापक्ष का सम्बन्ध है, उनकी ब्रजभाषा अत्यधिक प्रौढ़ परिषकृत, सुव्यवस्थित तथा व्याकरण-सम्मत है। अन्य भाषाओं के शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो उसमें देखी जाती है पर उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाकर ही ग्रहण किया गया है। ब्रजभाषा के जिन गिने चुने कवियों में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की प्रवृत्ति पाई जाती हैं, उपाध्याय जी उनमें प्रमुख हैं। वैसे, उनकी भाषा सर्वत्र ही भावानुसारिणी तथा प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण से युक्त है। भाषा पर जितना व्यापक अधिकार उनका है, वैसा इस युग के बहुत कम ब्रजभाषा-कवियों का देखा जाता है।

अलंकार-प्रयोग की ओर भी उनकी रुचि रही है, पर वे उसी सीमा तक प्रयोग में आये हैं जहां तक वे भावाभिव्यंजना में सहायक होते हैं। उन्होंने अनेक रसों और अनेक छन्दों में रचना की है।

उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

ढूंढि कै कुंज में त्यों कलकूल पै, नाहि लह्यो जब प्रानपती को।
रोदन ऐसो कियो वृषभानुजा, दुख भो जाते सबै जगती को॥
जा समै सीस उठाइ लख्यो, 'हरिऔध' कहै दुख मोइ ससी को।
सोक पगे रजनीपति के अंसुआन सो भीज्यो लिलार को टीको॥

—(काव्योपवन-समस्यापूर्ति)

कोकिल की काकली को मान कैसे कहै काक,
भील कैसे मंजु मुक्तावलि को पोहैगो।
कैसे बर-बारिज बिलोकि मोद पैहै मेक,
बादुर बिनाकर–बिभव कैसे जोहैगो ?
'हरिऔध' कैसे 'रस-कलस' 'रुचैगो ताहि',
जाको उर रुचिर–रसन ते न सोहैगो।
आंखिन में बसत कलंक-अंक ही जो अहै,
कोऊ तो मयंक अवलौकि कैसे मोहैगो ?

— — —

लहलहे काको लहे उलहे—बिटप होत,
कासों हिले लतिका ललाम ह्वै–ह्वै हिलती।
काके गौरवन ते गौरवित ह्वै लसत गिरि,
धन—रासि धरा काके बल सों उगिलती ?
'हरिऔध' होतो लोक मैं न लोक—नायक तौ,
कलिका कुसुम की बिलोकि काको खिलती।
दमक दिखात काकी दमकति—दामिनि मैं,
चाँदनी मैं, चंद मैं, चमक काकी मिलती ?

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

जन्म-सं० १९२३ निधन-सं० १९८९

भारतेन्दु के पश्चात् आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य के क्षेत्र में 'रत्नाकर' जी का योगदान सब से महत्व पूर्ण है। खड़ी बोली आन्दोलन से प्रभावित होकर जब ब्रज-भाषा के अनेक उपासक खड़ी बोली की ओर मुड़ गये थे, तब भी ये अनन्यता से ब्रज-वाणी की उपासना में संलग्न रहे और आजीवन उसे छोड़कर किसी अन्य भाषा में काव्य-रचना नहीं की। वस्तुत:, वे उन प्रतिभाशाली कलाकारों में थे, जो युग की उपेक्षा करके भी स्वयं उससे उपेक्षित नहीं रह पाते हैं। उनकी युगान्तर-कारी प्रतिभा समसामयिक युग से समादर का कर स्वयमेव वसूल कर लेती है।

'रत्नाकर' जी की दृष्टि शुद्ध कलाकार की दृष्टि थी। उनके लिये कविता साधन नहीं साध्य थी। इसी कारण वे रीतिकालीन कवियों की श्रेणी में आते हुये भी उनसे इसलिये पृथक दिखाई पड़ते हैं कि एक ओर तो उनमें आचार्यत्व के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर रीतियुगीन मुक्तक-परम्परा के अतिरिक्त प्रबन्ध-काव्य-रचना की ओर इनकी प्रवृत्ति पाई जाती है। साथ ही, शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों में भी प्रचुर मात्रा में रचना करके उनको उनका अभीष्ट महत्व देना भी 'रत्नाकर' को रीतिकालीन कवियों से पृथक करता हुआ

दिखाई देता है। उद्दीपन रूप से प्रकृति-वर्णन के स्थान पर आलम्बन रूप में संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण के कारण भी वे रीतिकालीन कवियों से पृथक ही दिखाई देते हैं।

प्राचीन कथानकों को लेकर अपनी कल्पना के सहारे उन्हें नव्य एवं भव्य रूप देने में इन्हें विशेष सफलता मिली है, जिसके उदाहरण स्वरूप उनके प्रमुख काव्यग्रन्थ 'गंगावतरण' तथा उद्धव-शतक प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसी प्रकार, मुक्तक छन्दों में विभिन्न रसों को व्यंजित करने में उन्हें अभीष्ट सफलता मिली है। विशेषकर, ब्रजभाषा-कवियों द्वारा उपेक्षित वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत आदि परुष रसों की व्यंजना में तदनुकूल शब्द-योजना द्वारा वर्ण्य-दृश्य या भाव को साकार कर देने में इनकी सफलता प्रशंसनीय है।

यह कहना कठिन है कि इनका कलापक्ष इनके भावपक्ष से अधिक परिपुष्ट है, फिर भी ये कवि बाद में, और कलाकार पहले हैं। कविता को कला के रूप में सिद्ध करने वाले वर्तमान कवियों में वे शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। उनकी भाषा में असाधारण व्यंजना-शक्ति है तथा प्रसाद, माधुर्य और ओज की तरल-तरंगिणी प्रवाहित है। प्रवाह तो इतना है कि पाठक उसमें बह जाता है। भावानुकूल शब्द बन्धना तथा वार्तात्मक प्रसंगों में ठेठ और वर्णनात्मक प्रसंगों में संस्कृत-गर्भित-पदावली के प्रयोग की प्रवृत्ति उनमें मुख्य रूप से देखी जाती है। भारतेन्दु के बाद 'रत्नाकर' पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने ब्रजभाषा को परिष्कृत तथा सुव्यवस्थित बनाने का कार्य आरम्भ किया था और अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने अपने इस प्रयत्न को व्यवहारिक रूप दिया है। इसी कारण उनकी भाषा में सर्वत्र ही शब्द-रचना की एक रूपता उपलब्ध है।

उर्दू-फारसी के विद्वान होते हुये भी विजातीय शब्दों के प्रयोग की ओर उनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। ऐसे शब्द जहां कहीं उपलब्ध भी हैं, वहां वे ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाकर ही प्रयुक्त किये गये हैं। कहावतों और मुहावरों की अपूर्व व्यंजना-शक्ति से लाभ उठाकर, उनका प्रयोग करने में 'रत्नाकर' ने विशेष प्रतिभा का परिचय दिया है। सामन्ती-संस्कारों के कारण उनकी भाषा अलंकार बहुल है, जिसमें भी अनुप्रास-बहुलता तो पग-पग पर दिखती है। पर, इनका अलंकार प्रयोग अनायास-निष्पन्न है; जो भाव-सौन्दर्य की दृष्टि में पूरी तरह सहायता देता हुआ प्रतीत होता है। शब्दालंकारों में श्लेष, यमक, वीप्सा और अर्थालंकारों में सन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक, विरोधाभास और उपमा उन्हें विशेष प्रिय हैं। स्थान-स्थान पर कुछ नये अलंकारों, जैसे-मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय तथा ध्वन्यार्थ-व्यंजना के प्रयोग भी उपलब्ध हैं। छन्दों के क्षेत्र में कवित, सवैया, रोला आदि के प्रयोग में उन्हें विशेष सफलता मिली है।

उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

मुंड लागे कटन, पटन काल-कुंड लागे,
रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं।
कहै 'रत्नाकर' बितुंड-रथ-बाजी-झुंड,
लुंड-मुंड लोटें परि उछरि तिमीनि लौं॥
हेरत हिराए से परस्पर संचित चूर,
पारथ औ सारथी अदूर दरसीनि लौं।
लच्छ-लच्छ भीषम भयानक के बान चले,
सबल, सपच्छ, फु-फु कारत, फनीनि लौं॥

—— (भीष्माष्टक)

भरके भानु-तुरङ्ग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके बाहन रुकत नैंकु नहि बिधि-हरि-हर के।
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके।
धुनि-प्रतिधुनि सौं धमकि धराधर के उर धर के॥
नभ-मण्डल थहरान भानु-रथ थकित भयौ छन।
चंद चकित रहि गयौ सहित सिगरे तारागन॥
पौन रह्यो तजि गौन गह्यो सब मौन सनासन।
सोचत सबै सकाइ कहा करि है कमलासन॥

—— (गङ्गावतरण)

राधा-मुख-मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सौं,
प्रेम-'रत्नाकर' हियँ यौं उमगत है।
त्यों ही बिरहातप प्रचण्ड सौं उमंडि अति,
ऊरध उसांस कौं झकोर यों जगत है।
केवट बिचार कौ बिचारौ पचि हारि जात,
होत गुन-पाल ततकाल नभ-गत है।
करत गम्भीर धीर-लंगर न काज कछू,
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है॥

—— (उद्धव-शतक)

जय बिधि-संचित-सकृत-सार-सुख-सागर-संगिनि।
जय हरि-पद-अरविंद-मंजु-मकरंद-तरंगिनी॥
जय सुर-सेवित-संभु-बिपुल-बल-बिक्रम-साका।
जय भूपति-कुल-कलस-भगीरथ-पुन्य-पताका॥

—— (गङ्गावतरण)

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कछत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं ।
कहै 'रतनाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह,
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं ।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयौ चपल चुचाय पुतरीनि सौं ।
नेकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।

(उद्धव-शतक)

लाला भगवानदीन 'दीन'

जन्म-सं० १६२३ निधन-सं० १६८७

उर्दू और फारसी के साहित्य-संस्कारों को लेकर केवल ब्रजभाषा-कविता के आकर्षण से हिन्दी साहित्य की ओर उन्मुख होने वाले लाला भगवानदीन 'दीन' प्राचीन साहित्य के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ ब्रजभाषा के उन सुकवियों में थे, जिनकी कविता में पुरानी और नई काव्य-प्रवृत्तियों का अनुपम समन्वय दिखाई देता है ।

रीतिकालीन काव्य और विशेषकर केशवदास, भिखारीदास आदि अलंकार-वादी कवियों के परम प्रशंसक होने के कारण उनकी आरम्भिक कविताओं में उसी युग की विशेषताओं के दर्शन होते हैं, यथा-भावपक्ष में रूढ़िगत विषयों का चुनाव और कला पक्ष में अलंकार-प्रियता, उक्ति-वैचित्र्य, चमत्कार-प्रियता इत्यादि । पर आगे चलकर परिवर्तित परिस्थितियों से प्रभावित होकर उनमें भी नूतना क प्रति अधिकाधिक आग्रह और राष्ट्र-प्रेम की भावना के दर्शन होते हैं । यहां तक कि उनकी कई कविताओं में रेल, मोटर, साइकिल, ताजमहल, वायुयान आदि को विषय के रूप में ग्रहण किया गया है । परन्तु, भाव पक्ष की यह नूतनता कलापक्ष में समान तीव्रता से अपना प्रभाव न डाल सकी । अतः नवीन विषयों और भावनाओं को ग्रहण कर भी उन्हें प्राचीन काव्य-परम्परा के अनुरूप अलंकृत शैली, उक्ति वैचित्र्य आदि के सहारे व्यक्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है ।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है वह साहित्यिक और व्याकरण-सम्मत ब्रज-भाषा होते हुये भी बुन्देलखण्डी से पर्याप्त प्रभावित है । शब्दों को अकारण तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृत्ति उसमें कहीं नहीं मिलती है । हां, उर्दू-दां होने के कारण कहीं-कहीं उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिल जाता है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है रीतिकालीन कवियों के भक्त और प्रशंसक होने के कारण वे अलंकार-विहीन कविता को सत्कविता की श्रेणी में भी परिगणित

करने में संकोच करते थे। ऐसी स्थिति में यह स्वभाविक ही है कि उनकी रचनाओं में अलंकारों की अधिकता दिखाई पड़े। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष और पद-मैत्री तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह आदि साम्यमूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग उपलब्ध है।

छन्दों के क्षेत्र में दोहा, सोरठा, कवित, सवैया, छप्पय, रोला आदि के अतिरिक्त उर्दू बह्रों के आधार पर उन्होंने कुछ नये छन्द भी बनाये थे, पर उनका प्रयोग ब्रजभाषा कविता में कम ही मिलता है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

दोऊ पखी, जग पूंछ दुहून की, दोऊ कबौं-कबौं देत दिखाई।
रागी दोऊ, अनुरागी दोऊ, दोऊ अंड रचैं पै रहैं अरगाई।।
बौरे रसालन चाहैं दोऊ, कवि-जूथ दुहून की कीरति गाई।।
'दीन' भनै, करि ध्यान बिलोकहु, कोकिल-कृष्ण में भेद न भाई।।

———

(कोकिल-कृष्ण)

धनुष-बाण लखि राम-कर, 'दीनहिं' होत उछाह।
टेढ़े-सूधे सबन कर, है प्रभु-हाथ निबाह ।।
अति प्रबला, अति चंचला, सदा नेह-आधार।
चक्रपाणि-अनुगामिनी, रमा की मोटर कार।।

———

(मोटर)

कूजत पिक, गूंजति अलि-माला कलरव जन-मन मोहैं।
ज्यों उदार जन-द्वार सदा ही जय-जय धुनि जुत सोहैं।।
बन-बासी खग-मृग उमंग जुत दम्पति भाव जनावैं।
जननी-जनक होन की इच्छा सब मन बसै बतावैं।।

———

(रामगिर्याश्रम)

स्वारथ के रथ घहरात हैं घनेरे जहाँ,
चंचल चलाक चित्त घोरे सहगाम हैं।
मार-मद-मोह हैं मतंग मतवारे डटे,
पोढ़े पात-पुंज ही पदाती बल-धाम हैं।
धोखे, दगाबाजी, छल, कपट के तेगे चलैं,
बरछी बिपत्तिन की चलैं अबिराम हैं।
'दीन कवि' रातौ-दिन होत ही रहत देखौ,
बिकट महान जग जीवन-संग्राम हैं।।

———

राजत राजस तामस पे कि कसौटी पै कसायो सुरंग है।
राग दबाये सिंगारहिं के मधवाजित पै पसरो बजरंग है।।

नील अकास लसै अरुणोदय कै जमुना पर बारि तरंग है।
'दीन' अनूप छटायुत कै रघुलाल के गाल गुलाल को रंग है।।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

जन्म–सं० १९२५ निधन–सं० १९७२

'पूर्ण' जी ने यद्यपि खड़ी बोली और व्रजभाषा दोनों में ही रचना की है, पर व्रजभाषा के कवि के रूप में उनकी उपलब्धियाँ खड़ीबोली की कविता से कहीं अधिक हैं। व्यवसाय से एक सफल वकील, विश्वास से वेदान्ती और हृदय से सरस कवि होने के कारण इनकी रचनाओं में तीन ही पृथक-पृथक भाव धारायें दिखाई देती हैं।

कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के कारण ये देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति से पूर्णतया अवगत थे। अतः इनकी कुछ कविताओं में देश-भक्ति, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा मातृ भाषा के प्रति अनुराग के स्वर मुखर हैं। दूसरी ओर, थियोसोफिस्ट आन्दोलन तथा वेदान्त-दर्शन से प्रभावित होने के कारण कुछ अद्वैत वेदान्त विषयक विचार धारा भी देखने को मिलती है। परन्तु, इसमें भी ज्ञान की शुष्कता के स्थान पर हृदय पक्ष की प्रधानता के कारण सरसता का समावेश दृष्टिगोचर होता है। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे रचानायें परिगणित की जा सकती हैं, जिनमें इनका विशुद्ध कवि-रूप प्रकट हुआ है, और जिसमें अन्तरानुभूति तथा प्रकृति के व्यापक निरीक्षण के बल पर वर्ण्य-वस्तु को सरसता के साथ साकार कर देने की क्षमता के दर्शन होते हैं। प्रकृति के क्षेत्र में शरद तथा बसन्त ऋतु के वर्णन में इन्हें विशेष सफलता मिली है। इन वर्णनों में प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर या तो आलम्बन रूप में उसका चित्रण किया गया है अथवा परमेश की रहस्य-मयी सत्ता के मूर्तिमान रूप में ग्रहण कर उसमें रहस्यमयिता का समावेश किया गया है।

इस प्रकार इनकी कृतियों में प्राचीनता और नवीनता का एक अपूर्व समन्वय दृष्टिगोचर होता है। जहां तक काव्य के कलापक्ष का सम्बन्ध है इनकी भाषा में सर-लता, सरसता, माधुर्य तथा मुहावरों का प्राचुर्य दिखाई देता है। व्याकरण के क्षेत्र में भी उन्होंने पर्याप्त सावधानी बरती है और भाषा की एक रूपता को सुरक्षित रखने का यथा सम्भव प्रयत्न किया है। अलंकारों का अनावश्यक प्रयोग, व्यर्थ की चमत्कार-प्रियता तथा रूढ़िगत अप्रस्तुत-विधान इनकी रचनाओं में कहीं नहीं उपलब्ध है। कारण यह है कि यह अपने निजी निरीक्षण के आधार पर उपमाओं का चुनाव करते हैं। इसी कारण उनकी मार्मिकता असंदिग्ध है।

समस्या-पूर्ति के क्षेत्र में भी इनकी अच्छी गति थी और उक्त मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त 'धाराधर-धावन' नाम से किये गये मेघदूत के अनुवाद में भी इन्हें प्रशंसनीय सफलता मिली है। इसमें मूल-भावों की रक्षा के साथ-साथ ब्रजभाषा की जिस सरस और ललित पदावली के दर्शन होते हैं, वह भी अपूर्व है।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाटक में पद्य के रूप में समाविष्ट अंश कविता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट बन पड़े हैं।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

सखियान की सीख लगै बिख-सी बंसुरी धुनि कान पगे सो पगे।
मति बौरी भई है अचेत दसा तन मैन के ज्वाल जगे सो जगे॥
रंग त्यागि सबै दृग 'पूरन' ये घनस्याम के रंग रंगे सो रंगे।
अंखियाँ पल एक न रैन लगैं ब्रजचन्द सों नैन लगे सो लगै॥

———

तू ही है सुमन तू ही रंग है प्रसूनन में,
सुखमा असीम तू ही, तू ही हरियाली है।
तू ही नीर-नाली, तू ही घट-कुंड, तरु-मूल,
तू ही फलवाली, तू ही पात तू ही डाली है।
जगत की बाटिका को सार सब भांति तू ही,
तू ही ब्रह्म 'पूरन' करत रखवाली है।
मृंगन पतीर तू ही मीर है बिहंगन की,
सौरभ समीर तू ही, स्वामी तू ही माली है॥

———

भांति-भांति फूलन पै भूलन भ्रमर लागे,
कालिंदी के कूलन पै कुंजन अपारन में।
इन्द्र की बधूटिन के वृन्द दरसान लागे,
मोर सरसान लागे मोरनी पुकारन में।
दामिनि-छटा सों, घटा गाजन अछोर लागी,
राजनि हिलोर लागी सरिता की धारन में।
फूले बन, फूले मन आनन्द भरन लागे,
भूले लागे परन कदम्बन की डारन में॥

———

इत मोर-पखा उत मोर नचैं, सुर-चाप उतै इत है कछनी।
बक-पांति उतै इत मोती-हरा, उत गाजन ह्यां धुनि वेनु बनी॥
चपला है उते इत पीतपटी, तन ह्यां उत स्याम घटा है घनी।
रस 'पूरन' या ऋतु में सजनी, हरि-पावस होड़ ठनी-सो-ठनी॥

सैयद अमीरअली 'मीर'

जन्म सं० १९३०

हिन्दी-साहित्य और विशेषकर ब्रजभाषा की समृद्धि के लिये काव्य-साधना करने वाले मुसलमान कवियों में सैयद अमीरअली 'मीर' का नाम अग्रगण्य है। उन्होंने आधुनिक ब्रजभाषा-कविता के दो युग, भारतेन्दु-युग और उत्तर-भारतेन्दु-युग देखे हैं, और उनकी कविताओं में इन दोनों ही युगों की काव्य-प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हैं।

काव्याचार्य रायबहादुर जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ, 'छन्द-प्रभाकर' से परोक्ष रूप में काव्य-रचना की प्रेरणा प्राप्त करके वे सं० १९५१ से काव्य-साधना में प्रवृत्त हुये और समसामयिक प्रभाव के अनुसार पहले मुख्यतः समस्यापूर्तियाँ ही करते रहे। पर बाद में अन्यान्य विषयों की ओर झुके और राष्ट्र-प्रेम, गो-सेवा, शिक्षा-प्रसार, राष्ट्र-भाषा आदि सामयिक विषयों पर रचनायें करने लगे। वैसे, अन्योक्ति-रचना के क्षेत्र में आपको विशेष सफलता मिली है।

आप की भाषा प्रसादगुण युक्त, व्याकरण-सम्मत तथा श्रुति-मधुर होती है। उसमें अलंकारों का स्वल्प प्रयोग ही दिखाई पड़ता है, तथा यत्र-तत्र लोकोक्तियाँ और मुहावरों का प्रयोग भी उपलब्ध है। आप की रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

कोयल तू मन मोहि के, गई कौन से देस।
तो अभाव में काग मुख, लखनो परो भदेस॥
लखनो परो भदेस, भेस तोही सो कारो।
पै बोलत है बोल, महा कर्कस कटु न्यारो॥
कहैं 'मीर' हे देव, काग को दूर करो दल।
लावो फेरि बसंत, मनोहर बोलै कोयल॥

———

'मीर' अबास को हाल कहा कहैं, जाके किवार नहीं सकरी लौं।
भूमि समान न छाप दिवार में, चूहे बसे बलिकी नगरी लौं॥
छप्पर पै न बराबर छावनो, आवत है घुस घाम तरी लौं।
जो बरसै घन एक घरी यदि, तो बरसै घर चार घरी लौं॥
भटक्यो मृगजल में फिर्‌यो, अब भ्रम भागी मोर।
व्यर्थ आस तजि लीन्ह गहि, 'मीर' भरोसो तोर॥

'वचनेश' मिश्र

जन्म–सं० १९३२ निधन–सं० २०१६

अपने अलंकार और पिंगल-शास्त्र के ज्ञान के कारण 'अभिनव-पिंगलाचार्य'

की उपाधि से विभूषित 'वचनेश' जी ब्रजभाषा के उन प्राचीन आचार्यों का यथार्थ प्रतिनिधित्व करते हैं, जो व्यक्तिगत काव्य-साधना के साथ-साथ अनेक काव्य-प्रेमी उदीयमान कवियों को साहित्य-रचना की प्रेरणा तथा तत्सम्बन्धी शास्त्रीय और व्यवहारिक शिक्षा दिया करते थे।

संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि अनेक भाषाओं के विद्वान होने के साथ-साथ वे ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही रचनायें करते थे, पर उनका साहित्यिक महत्व मुख्यतः उनकी ब्रजभाषा-रचनाओं पर अवलम्बित है। प्राचीन परम्परा के परिपोषक होते हुये भी उनकी कृतियों में सर्वत्र ही प्राचीनता के साथ नवीनता का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही क्षेत्रों में काव्य-रचनायें प्रस्तुत की हैं और उनकी 'शवरी' ब्रजभाषा की आधुनिक प्रबन्धात्मक रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने अछूतोद्धार की समस्या को अत्यन्त कौशलपूर्वक काव्य की सरसता से संवलित करके प्रस्तुत किया है।

फुटकर कविताओं में उनकी रुचि राष्ट्रीयता की ओर अधिक परिलक्षित होती है, जिसमें राष्ट्र-गौरव, परतन्त्रता पर पश्चाताप, जातीय उद्बोधन आदि के अतिरिक्त समसामयिक महापुरुषों से लेकर प्रसिद्ध राष्ट्रकर्मियों तक की गौरव-गाथा समाविष्ट दिखाई देती है। राष्ट्र के अतिरिक्त समाज-सुधारक और भाषा-प्रेम का स्वर भी उनकी कविताओं में प्रमुख है। इन सभी रचनाओं में इन्होंने व्यंग्य का सहारा लेकर वर्तमान धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विकृतियों पर प्रहार किये हैं, और उनके उन्मूलन द्वारा राष्ट्रोत्थान करने की प्रेरणा प्रदान की है। वैसे, शृंगार, हास्य, करुण, शान्त, वीर आदि विभिन्न रसों की कविता करने में इन्हें समान सफलता मिली है।

जहाँ तक कविता के कलापक्ष का सम्बन्ध है, अलंकार शास्त्र के विद्वान होते हुये भी उनका विरल प्रयोग ही इनकी कविताओं में दृष्टिगोचर होता है। हाँ, अनुप्रास और शब्द मैत्री के दर्शन अपेक्षाकृत अधिक होते हैं और यत्र-तत्र छायावादी अर्थ-व्यञ्जना दिखाई दे जाती है। उनकी भाषा में अवधी के परोक्ष प्रभाव के अतिरिक्त खड़ीबोली की भी हल्की छाया मिल जाती है। यत्र-तत्र उर्दू शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध है। इस प्रकार उनकी भाषा को विशुद्ध ब्रजभाषा नहीं कहा जा सकता है। वैसे, प्रसाद और माधुर्य उनकी पदावली के विशेष गुण हैं और कुछ स्तोत्रादि या भक्ति-परक रचनाओं को छोड़कर अन्य सभी में अनलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। उन्होंने अनेक नये छन्दों का निर्माण किया है, जो उनके विशद पिंगल ज्ञान का परिचायक है।

उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

ग्रीष्म महाराज जी तुम्हारे राज–सासन में,
प्रखर करों ने नर-नारि ऐसे ताये हैं ।
उद्यम–बिहीन श्रम छोड़ दीन दुर्बल हो,
पति–पतिनी से, पुत्र माँ से बिलगाये हैं ।
खद्दर बिसारि तन धारे तनजेब सबै,
कुल–ललना भी कुल–लाज बिसराये हैं ।
नीरस भई है भूमि, तृसना बढ़ी है भूरि,
त्राहि घनश्याम, घनश्याम रटलाये हैं ।।

———

(ब्रिटिश राज्य पर अन्योक्ति)

नन्द जसोमति के न भये, न भये ब्रज-गोपिन के तनवारे ।
हौंहु परेखि प्रमानि लियो, तुम हौ जस प्रेम निबाहन हारे ।।
पै 'वचनेश' न त्यागि सकौं, कितनेहु रहौ तुम नैन ते न्यारे ।
ऐसे कठोर तौ पूजिहौं मैं तुम्हें पाहन की प्रतिमा करि प्यारे ।।

———

कोतवाल ललिता, बिसाखा जमाखर बनी,
चन्द्रावली चारु वेष लेखक के ह्वै गई ।
औरौ जिती गोपी सबै सुधर सिपाही रूप,
पुलिस प्रबन्ध चौकी ठौर–ठौर ह्वै गई ।
भाखै 'वचनेश' नई लीला भई वृन्दावन,
कुंज–कोतवाली में निराली छबि छवै गई ।
बनि फरियादी कान्ह कीन्ही फरियाद आय,
हाय, मेरो राधिका चुराय चित लै गई ।।

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

जन्म–सं० १६४०

'सनेही' और 'त्रिशूल'-दो भिन्न-भिन्न उपनामों से कविता में प्रेम और देश-भक्ति की धारा प्रवाहित करने वाले 'सुकवि' सम्पादक 'सनेही' ब्रजभाषा के सफल कवि होने के साथ-साथ नवोदित कवियों को काव्य-रचना के प्रति प्रेरणा देने वाले आचार्यों में विशेष उल्लेखनीय हैं । कहना न होगा कि ब्रजभाषा की उपेक्षा के इन दिनों अपने पत्र 'सुकवि' तथा अपने अनेक शिष्यों के द्वारा इन्होंने ब्रजभाषा के व्यापक प्रचार और प्रसार में महत्वपूर्ण योग दिया है ।

राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होने के कारण इनकी कविता में देश-भक्ति का स्वर अत्यन्त मुखर है, पर ब्रजभाषा में लिखित अधिकांश कविताओं में शृंगार, वीर और करुण रस का ही अच्छा परिपाक हुआ है । वैसे, समस्यापूर्ति करने में

ये विशेष प्रवीण हैं तथा कविता को कला रूप में सिद्ध करने वालों में 'हरिऔध' के पश्चात् इन्हीं का नाम लिया जायगा।

भाषा के क्षेत्र में इनकी काव्य-भाषा पर अवधी, खड़ीबोली और उर्दू का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है, जिस कारण उसे विशुद्ध ब्रजभाषा नहीं कहा जा सकता है। केवल इन्हीं को नहीं, अपितु इनसे प्रभावित 'सनेही-स्कूल' के सभी कवियों की भाषा इसी प्रकार की है। पर, इसके साथ ही उसमें सरसता, सरलता और सजीवता के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं। अलंकारों का अत्यल्प प्रयोग इनकी कविता की अन्य प्रमुख विशेषता है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

बंस की लैके छुड़ावति बंसहिं, ह्वै हनै तीर त्यौं तीर सी तानै।
बेधी गई तऊ बेध की बेदना, बूझै न बेधति खेद न आनै॥
सूखि गई हरियारी तऊ रही, ह्वै कै हरी है सुखावति प्रानै।
पीवै सदा अधरामृत पै यह बाँसुरिया विष बोइबो जानै॥

———

दाह रही दिल में दिन द्वै क, बुझी फिर अपि कराह नहीं अब।
मानि कै रावरे रूरे चरित्र गुन्यो हिय में कि निबाह नहीं अब॥
चाहक चारु मिले तुमको चित्त मांहि हमारे भी चाह नहीं अब।
जो तुम में न सनेह रहा हमको भी नहीं परवाह रही अब॥

सत्यनारायण 'कवि-रत्न'

जन्म—सं० १९४१ निधन—सं० १९७५

समसामयिक ब्रजभाषा-कवियों में 'ब्रज-कोकिल' सत्यनारायण युग-चेतना के प्रति सबसे अधिक जागरूक थे। भारतेन्दु के समय से चली आई राष्ट्रीयता की भावना को उन्होंने जितनी स्पष्टता और दृढ़ता से ग्रहण किया है, वैसा इने-गिने कवि ही कर सके हैं। उनकी लेखनी से शायद ही कोई ऐसी रचना निकली हो, जिसमें उसका अभाव हो। यहां तक कि भक्ति-परक तथा प्रकृति-परक कविताओं में भी यह स्वर सबसे अधिक मुखर है।

राष्ट्रीयता के समानान्तर भक्ति और प्रकृति-चित्रण की धारायें भी इनके काव्य में प्रवाहित दीखती हैं। भक्ति की दृष्टि से वे रीतिकालीन नहीं वरन् भक्ति कालीन कवियों के अधिक निकट पड़ते हैं। उनकी भक्ति-भावना में दो प्रमुख विशेषतायें परिलक्षित होती हैं। एक तो सख्य-भाव की प्रचुरता और दूसरी समष्टि-निष्ठता। इसी कारण वे अपने लिए कुछ नहीं चाहते हैं, अपितु देश की दयनीय दशा पर आंसू बहाते दिखाई देते हैं।

इनकी कविता की तीसरी विशेषता इनका सरस और मार्मिक प्रकृति चित्रण है। जहां रीतिकालीन कवियों ने मुख्यतः उद्दीपन रूप से प्रकृति को देखने का प्रयत्न किया था, वहीं ग्राम्य-जीवन में पले-इन्होंने खुली आंखों से प्रकृति का उनमुक्त सौन्दर्य देखा है। आधुनिक युग में पंडित श्रीधर पाठक ने प्रकृति चित्रण में जिस स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया था, सत्यनारायण उनकी चलाई हुई पद्धति पर चलने वाले प्रथम कवि थे। जहां पाठक जी की दृष्टि प्रकृति के केवल सभ्य और नागरिक जीवन-गत ललित-ललाम पक्षों पर ही पड़ी है, इन्होंने ग्राम्य जीवन की सहज स्वाभाविक प्राकृतिक सुन्दरता के वर्णन के साथ-साथ प्रकृति के प्रचण्ड और भयानक रूपों का भी चित्रण किया हैं।

जहां तक कलापक्ष का सम्बन्ध है, इनकी रचनाओं का यह पक्ष भी भावपक्ष की भांति अनेक नवीनताओं से युक्त है। ब्रजभाषा के अनन्य अनुरागी होने के कारण वे वर्तमान काल में उसकी अपेक्षा और अवनति से विशेष खिन्न रहते थे। अतः इसके प्रचार के लिए सक्रिय प्रयत्न करते हुए उन्होंने इसे परम्परा की संकीर्ण गली से निकल कर युग-जीवन की विविधता के अनुरूप समर्थ, प्राणवान और सजीव बनाया है। इनकी भाषा साहित्यिक होने के साथ-साथ ब्रज-मण्डल की जीती-जागती भाषा है, अतः उसमें कहीं भी सजीवता और सरसता की कमी नहीं है। यत्र-तत्र कहावतों और मुहावरों का प्रयोग उसे और भी अधिक व्यंजन बना देता है।

अनुप्रास के अतिरिक्त अन्य अलंकारों की योजना के प्रति उन्हें विशेष आग्रह नहीं प्रतीत होता है, पर अनुप्रासों से तो शायद हो कोई पंक्ति विहीन हो। अतः ये उनकी शब्दावली में अलंकार न माने जाकर, उसके सहज गुण ही समझे जायेंगे। मूल रचनाओं के अतिरिक्त इनके द्वारा किये गये अनुवादों में भी मूल जैसा ही आनंद मिलता है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
स्याम-बिरह-अकुलाती, पाती कबहुं न पाई।।
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति, मोचति निसि-दिना, निसरत नैननु नीर।।
बिकल कल ना हिये। (भ्रमर-दूत)

———

कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत।
सुख सरसावत, हिय हरसावत, जल बरसावत।।
उछरि-उछरि जल-छाल छिरकि छिति छर-र र छमकति।
चंचल चपला चमचमाति चहुंधा चलि चमकति।। (पावस-प्रमोद)

मोहन अजहुँ दया हिय लावौ।
मौन-मुहर कबलौं टूटेगी, हरे, न और सतावौ ।।
खबर बसन्तहु की कछु तुमकों, बिरद-बानि बिसराई।
ऐसी फूल रही सरसों सी, तव नयनन में छाई ।।

(उपालम्भ)

———

सब ओर जितै जित देखत हों दृग मोहिनी मूरति भाइ रही।
चहुं बाहिर औ उर-अन्तर में बहु रूप अनूप दिखाइ रही ।।
खिले स्वर्न सरोज मनोहर को जिह आनन-ओप लजाइ रही।
अति नेह सों मो-दिसि लाज-पगी निज दीठि कछु तिरछाइ रही ।।

(मालती-माधव से अनूदित)

जयशंकर प्रसाद

जन्म-सं० १९४६ निधन-सं० १९९४

आधुनिक खड़ी बोली कविता में छायावादी काव्य-धारा के प्रवर्तक, 'प्रसाद' जी ने अपनी साहित्य-साधना ब्रजभाषा के माध्यम से ही आरम्भ की थी और उसमें वे 'कलाधर' उपनाम से काव्य-रचना करते थे। उनकी आरम्भिक कृतियाँ समसामयिक प्रभाव के अनुसार समस्यापूर्तियों के रूप में लिखित हैं, पर आगे चलकर उनमें जिस नवोन्मेषमयी प्रतिभा का प्रस्फुटन परिलक्षित होता है, वही कालान्तर में छायावादी काव्य-धारा में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर लेता है।

प्रकृति के प्रति उनका रागात्मक दृष्टिकोण आरम्भ से ही झलकता है और आगे चलकर तो अपने भक्ति और प्रेम सम्बन्धी मौलिक दृष्टिकोण के सहारे उन्होंने ब्रजभाषा की प्राचीनता में भी नूतनता के नये प्राण फूंके। उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रेम-भावना आरम्भ में तो लौकिक आकर्षण, शारीरिक सौन्दर्य आदि से उद्भूत दिखाई पड़ती है, पर उत्तरोत्तर वह लौकिक-स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचकर रहस्योन्मुखी बन जाती है। वस्तुतः, खड़ी बोली में रचित उनके लोकप्रिय काव्य, 'आँसू' में प्रेम के जिस रूप का निदर्शन हुआ है, वह 'चित्राधार' में संग्रहीत उनकी ब्रजभाषा-कविताओं से ही प्रेरणा पाकर फलित और पुष्पित हुआ है। इस प्रकार इनकी ब्रजभाषा रचनायें आधुनिक ब्रजभाषा कविता में परिपाटीमुक्त मार्ग को त्याग कर एक नितान्त नवीन क्षेत्र का उद्घाटन करती दिखाई देती हैं।

भाव-क्षेत्र की भांति ही उनकी भाषा में अभिधा के स्थान पर लक्षणा और व्यंजना का बाहुल्य मिलता है। जहाँ इनकी खड़ी बोली कविताओं में संस्कृत-गर्भित तथा समास-गुम्फित पदावली का प्राधान्य देखा जाता है, वहीं इनकी ब्रजभाषा

कविताओं में इस प्रकार की शब्दावली के बहुत कम दर्शन होते हैं। यहां तद्भव-बहुल पदावली की ही प्रचुरता है और वह प्रसाद तथा माधुर्य गुण से परिपूर्ण है।

इनका अप्रस्तुत-विधान भी बहुत ही कलापूर्ण हुआ है। व्यापक जीवन-निरीक्षण के बल पर तथा दृश्य-विधायिनी कल्पना के योग पर इन्हें इस क्षेत्र में विशेष सफलता मिली है। परम्परागत अलंकारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं मानवीकरण, ध्वन्यार्थ-व्यंजना आदि नवीन अलंकारों का प्रयोग भी मिलता है, जो अभिव्यक्ति को सबल तथा मार्मिक बनाने में विशेष सहायक सिद्ध हुआ है।

परम्परागत काव्य-विधाओं के अतिरिक्त चम्पू तथा आख्यानक-काव्य की अपेक्षाकृत अल्प-परिचित विधाओं में रचना करके तथा साहित्य में प्रचलित कवित्त, सवैया आदि छन्दों के अतिरिक्त कई नये छन्दों का निर्माण कर उन्होंने ब्रजभाषा-कविता की भावी प्रगति की ओर एक स्वस्थ संकेत किया था।

उनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

पात बिन कीन्ह्यों जिन्हें पतझर रोष करि,
तिन सब द्रुमन सुमन पूर कीने तू।
शारद कुमोदिनी के बिरह बिहाल अलि,
सहकार मन्जरी सों मोद भरि दीने तू॥
नगर बनाली कोकिला की काकली सों भरयो,
सुखद 'प्रसाद' रस रंग केलि भीने तू।
छोह छरि लीने, मन औरै करि दीने,
रे बसन्त रस भीने, कौन मन्त्र पढ़ि दीने तू॥

————

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में,
रहत है तउ गूंजत प्रान में।
तिमि कहौ तुमहूं चुपधीर सों,
बिमल नेह कथान गम्भीर सों॥
कछु कहौ नहि पै कहि जात हौ,
कछु लहौ नहिं पै लहिजात हौ।
कवि नियोजित सुन्दर कल्पना,
जब धरै प्रतिमा छबि अल्पना॥ (नीरव प्रेम)

————

भई ढीठ फिरैं चल चन्चल-सी, यह रीति नहीं इनकी है नई।
नई देखि मनोहरता कतहूँ, थिरता इनमें नहिं पाई गई॥

गई लाज सरूप-सुधा चखि के, इनकी न तबौं कुटिलाई गई।
गई खोजत ठौर-ही-ठौर तुम्हें, अखियाँ अब तो हरजाई भई ।।

— — — —

बिलसत सान्ध्य दिवाकर की किरनैं माला-सी।
प्रकृति गले में जो खेलति है बनमाला-सी ।।
तुंग लसैं गिरिश्रृंग भरयो कानन तरुगन ते।
जिनके भुज में अरुझि पवनहू चलत जतन ते ।। (उर्वशी चम्पू)

वियोगीहरि

जन्म–सं० १९५३

ब्रजभाषा, ब्रज-पति और ब्रज-भूमि के अनन्य उपासक वियोगीहरि ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में अग्रगण्य हैं। रीतिकालीन कविता की जिन प्रवृत्तियों के फल-स्वरूप आधुनिक काल में ब्रजभाषा उपेक्षा को प्राप्त हो गई थी, इन्होंने उनका समूल परिष्कार कर ब्रजभाषा-कविता को युग के अनुरूप भावों की व्यञ्जना करने में समर्थ किया है और उसके विगत गौरव की पुन: प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं।

इनकी कविता में भक्ति और राष्ट्र-प्रेम की दो धारायें स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। परन्तु, जिस भक्ति भावना को लेकर ये काव्य-रचना में प्रवृत्त हुये हैं, वह रीतिकालीन-'राधिका-कन्हाई सुमिरन कौ बहानो है' वाली प्रवृत्ति के अनुकूल न होकर, सीधे भक्त-हृदय से उद्भूत है, तथा एक ओर अपनी लघुता और दूसरी ओर देश और समाज की दुरस्था के निरीक्षण का परिणाम है। इस प्रकार अपनी इन रचनाओं में ये भक्तिकालीन सगुण भक्तों के बहुत निकट हैं। जहां तक राष्ट्र-प्रेम का सम्बन्ध है, उसमें अछूतोद्धार, महापुरुषों के गुणानुवाद, युवकों को उद्बोधन आदि विषयों का समावेश दिखाई पड़ता है।

'वीर–सतसई' के लेखक के रूप में ये मुख्यत: वीर-रस के कवि हैं, जिसको इन्होंने व्यापक रूप में ग्रहण करके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिबिम्बित देखा है। वैसे, करुण रस की रचना में भी इन्हें विशेष सफलता मिली है, जिसमें देश की वर्त-मान राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दुंदशा का चित्रण ही अधिक दिखाई देता है।

इनकी काव्य-भाषा साहित्यिक ब्रज है, जिस पर बुन्देलखण्डी का स्पष्ट प्रभाव है। व्याकरण के नियमों के पालन की ओर इनमें अधिक जागरूकता नहीं दिखाई देती है, अतः यत्र–तत्र शब्दों के चिन्त्य प्रयोग भी दिखाई पड़ जाते हैं। इनकी सभी कविताओं में प्रसाद, ओज और माधुर्य का अच्छा परिपाक हुआ है और उनकी सरसता तथा सरलता तो उन्हें हृदयग्राही बनाने में विशेष सहायक रही है।

अलंकार-प्रयोग की ओर इनकी विशेष रुचि नहीं परिलक्षित होती है, पर सानुप्रास शब्दावली तथा पद-मैत्री से युक्त शैली सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है। अलंकारों में साम्य-मूलक अलंकार ही थोड़ी बहुत मात्रा में प्रयुक्त हुये हैं और वे भी अत्यन्त निष्प्रयास रूप में आने के कारण मुख्यतः भाव-वृद्धि में सहायक प्रतीत होते हैं।

इनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

नाथ हम क्यों करि भये अछूत।
जगत-पिता, हम ही क्यों तेरे माने जात कपूत॥
हम अन्त्यजन और गङ्गा कौ आदि एक ही ठौर।
प्रभु-पद नख ते जनम हमारौ है इतही लौं दौर॥
जीवन हम दोउन कौ स्वामी, है जग-जीवन काज।
कहौ, सहोदर क्यों सुरसरि के भये अपावन आज॥
जनमजात अधिकार हमारो जिन पायनि पै नाथ।
सकै न धारि धूरि हूं तिनकी आज हमारो माथ॥

———

कवच कहा ए धारि हैं, लचकीले मृदु-गात।
सुमन-हार के भार ते, तीन-तीन बलखात॥

———

अब नख-सिख सिंगार में, कवि-जन, कछु रस नाहिं।
जूठन चाटत तुम तऊ मिलि कूकुर-कुल माहिं॥

———

वृष-रवि-आतप तपि कृषक, मरत कलपि बिनु नीर।
इत लेपत तुम अरगजै, बिरमि उसीर-कुटीर॥

———

मनमोहिनि वै सतसई. हिरनी-सी सुकुमारि।
कहा रिझैहै रसिक-मन, यह सिंहिनि भयकारि॥

———

जय झांसी-गढ़ लच्छमी, राजति त्रिविध अनूप।
गति चपला, दुति चन्द्रिका, समर चण्डिका रूप॥

———

नहिं बिचल्यौ सत-पन्थ तें, सहि असत्य दुख-द्वन्द।
कलि में गांधी-रूप ह्वै, पुनि प्रकट्यौ हरिचन्द॥

———

झूमत है जहं मत्त ह्वै, सहज सूर दिन-रैन।
लटकि लजीले छैल तंह, मटकि नचावत नैन॥

———

डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

जन्म सं० १९५५

वर्तमान काल में ब्रजभाषा-कविता के एक प्रमुख मर्मज्ञ, उसकी उन्नति के लिये प्राणपण से यत्नशील तथा प्राचीन रीति-काव्य और अलंकार-शास्त्र के मूर्धन्य विद्वान के रूप में 'रसाल' जी का नाम आदर के साथ लिया जाता है, पर इसी के साथ-साथ ब्रजभाषा-कविता के एक सुकवि के रूप में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान है।

'रसाल' जी कविता के क्षेत्र में प्राचीन रीति-नीति के ही भक्त हैं, पर समसामयिक युग की प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर, उसमें युगानुसार परिवर्तन करने की भावना इनकी सभी रचनाओं में उपलब्ध है। उदाहरण के लिए भ्रमरगीत-प्रसंग पर लिखित उनकी रचना-'उद्धव-गोपी-संवाद' में गोपियों का जो चित्र अंकित किया गया है, उसमें भक्ति या रीतिकालीन भावुकता के स्थान पर आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्ति तर्कशीलता का ही प्राबल्य दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, नवीन विचार धारा से प्रेरित होकर अपनी कविताओं के लिये जो समसामयिक विषय इन्होंने चुने हैं, वे भी पर्याप्त नूतनता के सूचक हैं।

साहित्य के साथ-साथ दर्शन-शास्त्र के भी विद्वान होने के कारण उनकी रचनाओं में दार्शनिकता तथा विचार-गाम्भीर्य का पुट स्पष्ट परिलक्षित होता है, जो कविता की हृदय-पक्ष-जन्य सरसता के साथ-साथ उसमें मस्तिष्क-पक्ष-जन्य प्रौढ़ विचार धारा का समुचित समन्वय उपस्थित करता है।

जहां तक कविता के कलापक्ष का सम्बन्ध है, उनकी भाषा अत्यन्त प्रौढ़, व्याकरण सम्मत तथा सुव्यवस्थित होती है। स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने ब्रज-भाषा को एकरूपता प्रदान करने का जो समयोपयोगी प्रयत्न आरम्भ किया था, इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा उसे साकार करने का सफल प्रयास किया है।

अलंकार-प्रयोग की प्रचुरता उनकी कृतियों में सर्वत्र विद्यमान है और इसी कारण उनकी कुछ रचनाओं में प्रसाद-गुण की कमी प्राप्त होती है। अलंकारों में सबसे अधिक प्रयोग अनुप्रास और शब्द-मैत्री का ही हुआ है। अन्य अलंकारों में यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह-व्यतिरेक आदि की अधिकता दिखाई पड़ती है। रीतिकालीन कवियों, विशेषकर केशव, देव, मतिराम आदि के भक्त होने के कारण वे अलंकार-विहीन कविता को सत्कविता मानने में भी संकोच करते हैं।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

करत कलोल लोल जीवन-तरंगिनी की,
उमंगी उमंगनि तरंगनि की माल मैं।

दै-दै चाव-चारौ यौं बिमोह्यौ कै न चारौ चल्यौ,
बहुत बिचारौ तऊ ऐवौ परयौ चाल मैं ।
बेधि बेधि बंसी सौं 'रसाल' जिन्हें बंसीधर,
निज गुन खेंचि गये गेरि नेह-ताल मैं ।
ऊधी दुखी-दीनन कौ उन मन-मीनन कौ,
आये फांसिबे कौ तुम बेगुन के जाल मैं ॥

एक लव लाये त्यौं जगाये बस ज्योति एक,
एकै आन तेजो-रूप और लहते नहीं ।
राखैं जौ सनेह-नेह करत उजेरो ताकौ,
रीतो नेह-पात्र लै कदापि रहते नहीं ।
जगत-महा तम कौ टारि सुमहातम सौं,
दोष हू महातमा तमा कौ गहते नहीं ।
दीपति है दीपति हमारी ही 'रसाल' हम,
प्रेम के प्रदीप बात तीखी सहते नहीं ॥

कीजै तौ अजातरूप-बाद जो पै इहाँ,
जातरूप प्रेम कौ परेखिबौ बिचारौ है ।
त्रिषम बियोगानल-आंच मैं तपाइ हम,
याकौ तौ सुनारी-रीति-नीति सौं निखारो है ।
सारि मुख-बात, जारि ब्रल जोति हू 'रसाल',
तामैं ताइ-ताइ बृथा देखिबौ तिहारौ है ॥
देखौ कृष्ण-कठिन कसौटी लाइ ऊधौ, कसि,
खोटो खरौ प्रेम-हेम जो है जो हमारौ है ॥

यह औसर स्याम कथा कौ मिलो, सो गयो रसना की रलारली मैं ।
कहिबे-सुनिबे की रही सो रही, इन बातन ही की बलाबली मैं ॥
मन मीन मलीन मरे से परे, यहि ज्ञान की कोरी दलादली मैं ।
मन-भावती हू कहि जाते कछू, अब ऊधव, ऐसी चलाचली मैं ॥

'अखिलेश' त्रिवेदी

जन्म-सं० १९७०

प्रशंसा और प्रकाशन से कोसों दूर रहने वाले 'अखिलेश' जी खड़ी बोली कविता की प्रधानता के इस युग में भी ब्रजभाषा की अलख जगाने वाले मूक साहित्य-

साधकों में से एक हैं। कवि होने के अतिरिक्त ब्रजभाषा-कविता और विशेषकर आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों तथा उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में उनका ज्ञान अपार है।

आरम्भ से ही वे ब्रजभाषा-कविता को युग के अनुरूप बनाने के अभिलाषी रहे हैं। अतः आचार्यत्व तथा रूढ़ि-मुक्त काव्य-परिपाटी की ओर उन्हें कोई आकर्षण न हुआ। देश-भक्ति, समाज-सुधार, कृषक-समाज, ग्राम्य-जीवन आदि ही उनकी कविता के मुख्य विषय रहे हैं। यदा-कदा ऋतु-वर्णन, महापुरुषों के गौरव-गान, भारतीय संस्कृति आदि की ओर भी उनकी लेखनी मुड़ी है। उन्होंने ब्रजभाषा में दो खण्ड-काव्य भी लिखे हैं, जो अब तक अप्रकाशित हैं, तथा उनके फुटकर छन्दों की संख्या तो दो हजार से भी ऊपर है।

काव्य-भाषा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण विशुद्धतावादी होते हुये भी वे जीती-जागती, सहज, सरस और मधुर भाषा के पक्षपाती हैं। अंग्रेजी, उर्दू आदि के शब्दों से बचती चलती हुई उनकी भाषा वर्ण्य, वस्तु को साकार कर देने की क्षमता रखती है। उनका अलंकार-प्रयोग निष्प्रयास तथा भावपक्ष को सबल बनाने में सहायक रहा है। शब्दालंकारों में अनुप्रास, श्लेष, यमक तथा शब्द-मैत्री और अर्थालंकारों में रूपक, उत्प्रेक्षा तथा उपमा उन्हें विशेष प्रिय हैं। उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

गाल बजाइबे में गुन ज्ञान, सयान सबै छल में गति खासी।
दान रह्यो रति में 'अखिलेस', रही परिधानन माँहि उजासी॥
बुद्धि बची धनवानन में, बल है अबलान में कीरति कासी।
हे कलि, रावरे सासन में, नित दीनता बाढ़ति चन्द्रकला-सी॥

— — — —

आधे लगान को अन्न भयो, भुसवा तो सबै बरदासि में जाति है।
छोलि कै घास जियैं लरिका, दई मारि बेगारि सो जो बचि जाति है॥
हाकिम से जो करों बिनती, वहो दूरि ते देखत ही धरि खाति है।
हाय, कहा करिऐ घर में तिरिया दुइ दानन को मरी जाति है॥

डा० जगदीश गुप्त

जन्म—सं० १९८१

ब्रजभाषा के नवोदित कवियों में इनका नाम निश्चय ही बड़े सम्मान के साथ लिया जायगा, क्योंकि खड़ीबोली-कविता के छायावादी युग में जन्मे, पले और पनपे, इन्होंने छायावादी कविता की समस्त अर्थ-व्यंजना, लाक्षणिक वक्रता और वाग्विदग्धता अपनी ब्रजभाषा कविताओं में पुंजीभूत करदी है।

कवि होने के साथ-साथ उच्चकोटि के चित्रकार होने के कारण इनकी

कविताओं में चित्रकला की सूक्ष्म रेखांकन-पद्धति अर्थात एक शब्द मात्र से सम्पूर्ण पंक्ति को प्राणवान कर देने की अनुपम कला के दर्शन होते हैं। घनानंद के विषय में लिखते हुये आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की ब्रजभाषा-कवियों से यह शिकायत रही है कि उन्होंने लक्षणा के महत्व को पहचान कर उससे अभीष्ट लाभ नहीं उठाया। पर, इनकी कवितायें पढ़कर शुक्ल जी की यह शिकायत बहुत अंशों तक दूर हो जाती है। कारण यह है कि स्वयं छायावादी धारा के सफल कवि तथा तत्सम्बन्धी कविता के सुधी आलोचक के रूप में ये बहुत प्रसिद्ध रहे हैं और इन दोनों की ही स्पष्ट छाप इनकी ब्रजभाषा-कविता पर दिखाई पड़ती है।

ये ब्रजभाषा-कविता के कलापक्ष और उसकी सौन्दर्य-भावना के परम प्रशंसक हैं तथा उसमें झूठी चाटुकारी, समस्यापूर्ति, अतिशय अलंकरण आदि की जो परम्परा-पोषित प्रवृत्तियाँ हैं, उनके प्रबल विरोधी हैं।[1] इसी कारण वे ब्रजभाषा में जमकर कोई प्रबन्ध-काव्य लिखना पसन्द नहीं करते हैं, परन्तु विशिष्ट मनस्थिति में स्फुट छन्द रचना कर लेते हैं।

जहां एक ओर चित्रकार की सौन्दर्यानुरक्ति तथा सूक्ष्म रूपांकन-क्षमता इनकी रचनाओं में पाई जाती है, वहीं दूसरी ओर उनका शब्द-चयन भी अत्यधिक श्रुतिमधुर तथा संगीतपूर्ण है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण से युक्त उनकी कवितायें आधुनिक ब्रजभाषा-कविता के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती हैं।

जहाँ तक अलंकार-प्रयोग का सम्बन्ध है, इनकी रचनाओं में वे निष्प्रयास ही आये हैं और अर्थाभिव्यक्ति में अत्यधिक सहायक हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास, शब्द-मैत्री, श्लेष और यमक तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, मानवीकरण ध्वन्यार्थ-व्यंजना, विरोधाभास आदि विशेष रूप से देखे जाते हैं। छन्दों में सवैया ही इनका प्रिय छन्द है।

फुटकर कविताओं के अतिरिक्त, इन्होंने 'मेघदूत' के कुछ अंशों का ब्रजभाषा में अनुवाद भी किया है।

इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

फागुन के गुन छाये चहूं दिसि, चौगुने बंधन की रितु आई।
नेह निगाहन बीच बंध्यौ अरु बांहन बीच बंधी तरुनाई॥
कोरैं झुकी बरुनीन की त्यों मन मैं पुतरीन की स्यामता छाई।
बावरे प्रानन हूं कौ गई रंगि, रावरे नैनन की अरुनाई॥

फारि धरी अंगिया, अब मोहि कहा कहि है, घर जो कोउ ज्वै है।
जानि है जो करकी कर की चुरियां तो सबै निसि सासु न स्वै है॥

[1]लेखक के साथ कवि का वार्तालाप (तिथित २ अक्तूबर, १९५९)

सीस उघारि भिजोइ दई, बड़ी बार लौ बारन सौं रंग च्वै है।
ऐसे उताने फिरै होरिहा, ब्रज में जनु दूसरी होरी न ह्वै है।।

नई कोपलैं फूटी निगाहन मैं, नये नेह सों नैन हटीले भये।
नये पौन के भूंकन में उधरी कबरीन के बन्धन ढीले भये।।
कसि के अंगिया अंगरानि लगी, अधरा कछु और रसीले भये।
कछु और कपोलन लाली लसी, कछु और कटाछ कटीले भये।।

रीति 'सनेही' 'रसाल' दई 'रतनाकर' अंगनि मैं लहराने।
हौसनि मैं हुलसे 'हरिचन्द' जू, प्राननि मैं 'पदमाकर' आने।।
नैनन बीच घिरे 'घन आनन्द' बैन सुजान बिहारियौ जाने।
देव ह्वै 'देव' बसै हिय-देवल, मो मति मैं 'मतिराम' समाने।।

चूक्यो मनोभव बेधन में, ससिसेखरै ऐसी उतायल ह्वै गई।
बान कहूं के कहूं अरुझे, बुझे फूल कली-कली कायल ह्वै गई।।
मेखला मूक मयूखन की भई, नीरव ओस की पायल ह्वै गई।
चन्दहिं लागी कछू-कछू चोट, कछू-कछू चांदनी घायल ह्वै गई।।

पंचम अध्याय

प्रमुख रचनायें

उपक्रम

पिछले अध्याय में आधुनिक ब्रजभाषा-कविता के प्रमुख रचनाकारों की चर्चा की गई है। उसी संदर्भ में यहां यह आवश्यक हो जाता है कि उनकी विशिष्ट कृतियों पर पृथक रूप से विचार कर लिया जाय, क्योंकि कविता की गति-विधि को समझने का मूर्त आधार उसकी प्रमुख कृतियां ही होती हैं। यही नहीं, कृतिकार तथा कृति में ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है कि एक पर सम्यक रूपेण विचार करने के साथ-साथ दूसरे की चर्चा आवश्यक हो जाती है। अतः प्रमुख रचनाकारों के पश्चात् आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य की प्रमुख रचनाओं का अध्ययन एक स्वाभाविक क्रम में ही सामने आता है।

वस्तुतः एक शती की व्यापक परिधि में फैली हुई ब्रजभाषा-कविता अपने क्रोड़ में अनगिन महत्वपूर्ण तथा महत्वहीन रचनाओं को समेटे हैं। ऐसी दशा में सभी पर विचार करना न तो सम्भव ही है और न अभीष्ट ही। यहां, अध्ययन के लिए जो १५ कृतियां चुनी गई हैं, वे काव्य के सभी रूपों का यथा-सम्भव प्रतिनिधित्व करती हैं। उदाहरण के लिए उनमें से चार–'रामस्वयंबर', 'रामरसायन', 'बुद्ध-चरित' तथा 'दैत्य-वंश', तथा कथित महाकाव्यों की श्रेणी में, चार–'शवरी', 'गंगावतरण', 'उद्धव-शतक' तथा 'अभिमन्यु-बध', खण्ड या चरित काव्यों की कोटि में, चार–'वीर सतसई', 'दुलारे दोहावली', 'करुण सतसई' तथा 'तरंगिणी', मुक्तक या सूक्ति-मुक्तकों के वर्ग में तथा एक-एक क्रमशः लक्षण-ग्रन्थ (रस-कलस), चम्पू ('फेरि मिलिबो') तथा काव्य-संकलन ('ब्रज-भारती') की कोटि में आती हैं। इस प्रकार आलोच्यकाल में प्रचलित लगभग सभी प्रमुख काव्य-रूपों का प्रतिनिधित्व हो जाता है।

इसके अतिरिक्त, जहां तक आधुनिक काल के अन्तर्गत आने वाले विभिन्न युगों–पूर्व-भारतेन्दु-युग; भारतेन्दु युग तथा उत्तर-भारतेन्दु युग का सम्बन्ध है, उनका भी यथावश्यक प्रतिनिधित्व इन १५ रचनाओं द्वारा हो जाता है, क्योंकि इनमें से १ पूर्व-भारतेन्दु-युग की, २ भारतेन्दु-युग की तथा शेष उत्तर-भारतेन्दु युग की रचनायें हैं। जहां तक साहित्यिक उत्कृष्टता का सम्बन्ध है, ये सभी रचनायें कविता के दोनों पक्षों-भावपक्ष तथा कलापक्ष की दृष्टि से विवेच्यकाल की सुप्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कृतियां हैं। वस्तुतः, इनके द्वारा आधुनिक काल में ब्रज-काव्य के विकास का आभास मिल सकेगा।

रामस्वयंबर

पैतृक-सम्पत्ति के रूप में राज्याधिकार के साथ-साथ काव्य-रचना को भी प्राप्त करने वाले रीवां-नरेश महाराज रघुराजसिंह द्वारा रीतिकाल और आधुनिक काल की संधि रेखा में लिखित इस कृति में जहां एक ओर परम्परा मुक्त प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं, वहीं दूसरी ओर नवयुग की साहित्यिक धारणाएं भी परिलक्षित होती हैं। वस्तुतः, यह प्रथम प्रबन्धात्मक रचना है जिसमें नवीन युग के प्रबन्ध-काव्य-लेखन की प्रवृत्ति धीरे-धीरे स्पष्ट होती हुई दिखाई देती है।

रीतिकालीन प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण इसमें कथा की स्वल्पता और वर्णनों की बहुलता के दर्शन होते हैं। रचना पर भक्ति-कालीन प्रभाव भी है, पर वह रीतिकालीन प्रभाव के सम्मुख क्षीण होता दिखाई देता है। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में राम और उनके भाईयों के विवाह की ही चर्चा है, पर यत्र-तत्र अनेक अध्यवसित प्रसंगों को अकारण समाविष्ट कर देने की प्रवृत्तिं भी देखी जाती है। ऐसा लगता है मानों कवि का ध्यान कथा वस्तु के निर्वाह की ओर कम और सरस वर्णनों की योजना की ओर अधिक रहा है, जो कहीं तो अत्यन्त स्वाभाविक और सजीव हो गये हैं, और कहीं अत्यन्त नीरस और निर्जीव बन पड़े हैं। उदाहरण के लिए भोजन करते समय दशरथ तथा उनके राजकुमारों का वर्णन वात्सल्य-रस से संसिक्त होकर अत्यधिक सजीव हो गया है। यथा:—

नृप बतरात जात मंद मुसकात जात,
मंद-मंद खात जात आनंद बिचारिकै।
निरखि कुमार सब छोड़ि-छोड़ि थार निज,
बैठे पितु-भाजन के निकट सिधारिकै।
'भनै रघुराज' जौलों सानै नृप व्यंजन लै,
बचन बखानै बहु युक्तिन उचारि कै।
तौ लों खाय लेत सानो व्यंजन को चारों सुत,
हंसत नरेन्द्र खाली थाली को निहारि कै।

परन्तु दूसरी ओर जनक की वाटिका के वर्णन प्रसंग में कवि ने वस्तु परिगणन प्रणाली का आश्रय लेकर वृक्ष लताओं और फल-फूलों की एक लम्बी सूची मात्र उपस्थित करदी है, जिससे पाठक के हृदय पर वर्ण्य-वस्तु का कोई चित्र अंकित नहीं हो पाता है। यथा :—

दिलदेव बालन के देखते बिहाल होत,
सबै देस कालन के फूल-फल छाए हैं।
और महिपालन की बालन की बातैं कौन,
'रघुराज' कौशलेश लालन लोभाए हैं।

इसी प्रकार भोज्य पदार्थों, घोड़ों, अस्त्र-शस्त्रादि तथा वस्त्रों के वर्णन में भी इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। हां, कहीं-कहीं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना करके हृदय हारी वर्णन भी प्रस्तुत किये गये हैं, जैसे—राम का बाल-वर्णन, लङ्का-दहन, पुष्प-बाटिका-प्रसंग इत्यादि। यथा:—

तुम स्यामल-गौर सुनों दोउ लालन, आए कहां ते उरायन में।
मिथिलेश की बाटिका में बिहरौ, हियरो हरौ हेर्ि सुभायन में।।
इत कौन पठायो दया नहिं ल्यायो, सुफूलन तोरो उपायन में।
'रघुराज' कहूं गड़ि जैहं लला, पुहुपानि की पाखुरी पांयन में।।

प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में भी मृगया बसन्त पावस आदि के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। वैसे, वर्णनों के प्रसंग में अनुपात का ध्यान नहीं रक्खा गया है और कहीं-कहीं मार्मिक प्रसंगों को बहुत संक्षिप्त रूप में तथा महत्वहीन प्रसंगों को बड़े विस्तार से वर्णित किया गया है। यह भी रीतिकालीन प्रवृत्ति का प्रभाव है।

जहां तक रसों की व्यंजना का सम्बन्ध है, इसमें शृंगार और वीर प्रमुख रूप से प्रयुक्त हुये हैं। वीररस की ओर कवि की विशेष रुचि दिखाई देती है, अतः उसके विस्तार के लिये युद्ध आदि के वर्णनों में सीमा का ध्यान नहीं रखा गया है। परन्तु करुण रस अरुचिकर होने के कारण राम-बनवास तथा सीता-हरण प्रसंग को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में चित्रित किया गया है। वैसे, कोमल रसों की अपेक्षा वीर, भयानक तथा रौद्र जैसे पुरुष रसों के चित्रण में अधिक सफलता के दर्शन होते हैं।

वर्णनों की भांति संवाद-योजना में भी कवि की वृत्ति रमती दिखाई देती है, कारण यह है कि स्वयं राजा होने और राज-दरबारियों से घिरे रहने के कारण वाक्-पटुता, उक्ति-चमत्कार आदि के प्रति ग्रन्थकार में स्वाभाविक अनुराग दिखाई पड़ता है। इस क्षेत्र में केशव की रामचन्द्रिका का भी पर्याप्त प्रभाव इस ग्रन्थ पर प्रतीत होता है।

जहां तक कलापक्ष का सम्बन्ध है, इस ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक ब्रज होते हुए भी अवधी से पूर्ण रूपेण प्रभावित है। यत्र-तत्र बुन्देलखण्डी तथा उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। रीतिकालीन कवियों ने जहाँ वर्णनात्मक प्रसङ्गों में तत्सम-गर्भित-शब्दावली का प्रयोग किया है, आधुनिक युग के प्रभाव के फलस्वरूप इस ग्रन्थ में ऐसे प्रसङ्गों में भी तद्भव-प्रधान शब्दावली का ही अधिक प्रयोग देखा जाता है। हाँ, उक्ति-चमत्कार तथा सूक्ति-प्रियता के भी आद्योपान्त दर्शन मिलते हैं। काव्य गुणों में प्रसाद, ओज और माधुर्य तीनों का ही समुचित समावेश हुआ है पर ओज और माधुर्य की अधिकता दिखाई देती है। भावानुकूल पदावली की संयोजना में कवि को सर्वत्र ही सफलता मिली हैं, और वीर, शृंगार तथा रौद्र के वर्णन में तो उसकी भाषा वर्ण्य-वस्तु को मूर्त करने में विशेष सहायक रही है।

जहां तक अलङ्कार-प्रयोग का सम्बन्ध है, कवि का ध्यान शब्दालङ्कारों की ओर ही विशेष रहा है। अर्थालङ्कारों में साम्य-मूलक अलङ्कारों का प्रयोग अधिक मिलता है। यथा—रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि। कहीं-कहीं रीतिकालीन प्रभाव के कारण अतिशयोक्ति के प्रति भी अनुराग दिखाई पड़ता है और यत्र-तत्र अलंकृत-शैली वर्ण्य-वस्तु को आंखों मे ओझल भी कर देती है। यथा :—

कुंडल कानन में लसैं, मंजुल मकराकार ।
मनहु सुछबि युग बापिकन, झलकत झष शृंगार ।। (उत्प्रेक्षा)

———

'रघुराज' कहूं गड़ि जैहै लला, पुहुपानि की पाखुरी पांयन में (अतिशयोक्ति

———

कोर कठोरनि कंटक सी रज-पंक भरी उघरी सब ठाई (अनुप्रास)

परम्परागत राम-कथा को इस ग्रन्थ की कथा-वस्तु के रूप में ग्रहण करने के कारण इस पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव अपरिहार्य रूप से दिखाई पड़ता है। कथा में बाल्मीकीय रामायण का आधार ग्रहण करके भी कवि इस परम्परा के प्रसिद्ध कवि-तुलसी और केशव के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव से नहीं बच पाया है। विशेषकर केशव और उनकी 'रामचन्द्रिका' का प्रभाव तो अनेक स्थानों पर बहुत स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है और भाव-साम्य के अतिरिक्त शब्दावली की समानता भी दिखाई दे जाती है।

वैसे, आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में प्रबन्ध-काव्य-लेखन की पुरातन और नूतन प्रवृत्तियों के संधि-स्थल के रूप में 'रामस्वयंबर' का महत्व अनिवार्य है।

राम-रसायन

अयोध्या-स्थित कनक-भवन के महन्त जानकीप्रसाद 'रसिकेस' अथवा 'रसिक बिहारी' लिखित यह कृति रामचरित मानस की ही परम्परा में भगवान राम के जीवन की विभिन्न घटनाओं को अनेक छन्दों में चित्रित करती है। जहां राम-चरित्र पर काव्य रचना करने वाले प्राय: सभी कवियों ने या तो पूर्ववर्ती संस्कृत-रचनाओं का अनुकरण किया है या फिर इस क्षेत्र में सर्व श्रेष्ठ कृति-तुलसी के 'मानस' को आदर्श मानकर उसमें वर्णित प्रसङ्गों का ही पिष्ट-पेषण कर सन्तोष लाभ किया है, वहीं इस रचना में अनेक नये मार्मिक प्रसङ्गों की उद्भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिये प्रथम विधान में ही, राम-जन्म के अवसर पर विभिन्न देवगण कौतुकी लोगों का रूप धारण कर अपना-अपना अतीव मनोरंजक परिचय देते हैं। दशरथ के द्वार पर एकत्र ब्रह्मा, शिव, नारद, यम, षडानन आदि में से गणेश अपना परिचय इस प्रकार देते हैं :—

एक आय बोलो मेरे गेह के चरित्र भूप सत्य सुनिये पै हौं तौ कहत डरात हौं।
बाप है भिखारी, मम माता मतवारी, पुनि भ्राता क्रोधकारी तिहु सोच मैं रहात हौं।।
'रसिक बिहारी' महाराज बात भारी और रावरे समीप सोऊ भाषत लजात हौं।
माई सेर, भाई हू छ सेर, पितु पाँच सेर, आप ही मैं थोरो नित्य मन भरखात हौं।।

और भूतभावन शङ्कर ने अपना परिचय इस प्रकार दिया: —

आयो एक अम्बर के मारग दिगम्बर ह्वै, गावत सुढंग रंग छावत छटान तें
कबहूं दिखावै पंच आनन, दुरावै कबौं, तीय बनि जावै अरधंगी के नटान तें।।
'रसिक बिहारी' कबहुं खडग त्रिशूलधारी, बीर पदचारी भुजा फेरत पटान तें
कबै प्रगटावै भाल ज्वाल, दरशावै व्याल, कबौं वारिधारा सुभ्र छोड़त जटान तें।

प्रसंगों की मौलिक उद्भावना के साथ-साथ सरस स्वाभाविक तथा प्रवाह युक्त नाटकीय सम्वादों की योजना भी इस ग्रंथ में बड़ी सफलतापूर्वक की गई है। परशुराम-लक्ष्मण, राम-केवट, अङ्गद, रावण जैसे परिपाटी मुक्त सम्वादों के अतिरिक्त राम-लक्ष्मण के जनकपुर पहुंचने पर वहां के बालकों, तथा वर के रूप में विवाह-मण्डप में आसीन हो जाने पर वहां की स्त्रियों तथा राम से, जो वार्तालाप होता है, वह बहुत ही सरस और विनोद पूर्ण बन पड़ा है। यथा:–

कोऊ हंसि बोली याते बोल अति मीठे भये, इनकी सुमाय इनै खीर खाय जायो है।

अथवा

'रसिकबिहारी' सम्भु-चाप किमि टूटो कहौ, तुम पै अबै लौ नेक कङ्कन न छूटो है।

सरस सम्वादों से संवलित होने पर भी यह ग्रन्थ वर्णन-प्रधान ही माना जाना चाहिए। रीतिकालीन परम्परा से प्रभावित होने के कारण तथा स्वयं अयोध्या के 'कनक-भवन' जैसे ऐश्वर्यशाली मन्दिर के महन्त होने के कारण राजसी ठाठ-बाट का बहुत चित्रोपम वर्णन ग्रन्थकार ने यहां प्रस्तुत किया है। पर इससे यह न समझना चाहिये कि उसमें सूक्ष्म-निरीक्षण की कमी है और वह केवल परम्परा विहित वर्णनों का समावेश करके अपने कवि-कर्म की इति-श्री समझ लेता है। जहां राग-रागिनियों, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्रों, व्यंजनों आदि के वर्णन में परम्परा पालन का विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है, वहीं पशु पक्षी, तरु-लता, फल-फूल आदि के वर्णन में मुख्य रूप से खुली-आँखों वर्णन करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। इसी कारण यद्यपि कहीं-कहीं कथा के प्रति कम आग्रह दिखाई पडता है पर वह कहीं भी नितान्त उपेक्षणीय नहीं रह गया है।

भाव-पक्ष के अतिरिक्त कला-पक्ष की दृष्टि से यह रचना बहुत सबल बन पड़ी है। सर्वत्र ही पद-मैत्री के निर्वाह के अतिरिक्त अनुप्रास, श्लेष, यमक आदि शब्दा-

अलंकारों के प्रयोग में कवि को आशातीत सफलता मिली है। उदाहरण के लिये शवरी-प्रसंग का यह लोकप्रिय छन्द देखिये।

बेर बेर बेर लै सराहै बेर बेर बहु, 'रसिकबिहारी' देत बन्धु कहं फेर फेर।
चाखि चाखि भाषैं यह वाहू ते महान मीठो, लेहु तौ लखन यौं बखानत है हेर हेर।।
बेर बेर देवैं बेर सबरी सुबेर बेर तोऊ रघुबीर बेर बेर तिहिं टेर टेर।
बेर जनि लावो, बेर बेर जनि लावो, बेर बेर जनि लावो बेर लाओ कहैं बेर बेर।।

अलंकारों के बलात् प्रयोग से कविता में जो भद्दापन उत्पन्न हो जाता है, उसके स्थान पर श्लेष और वीप्सा से युक्त इस छन्द में एक विचित्र स्वाभाविकता तथा नाटकीयता उत्पन्न होगई है। उत्प्रेक्षा के सरस तथा सजीव उदाहरण भी इस रचना में बहुतायत से मिलते हैं :—

मानो नीलगिरि पै बिछाय कै बघंबर सो अम्बर बिहाय बालचन्द आय सोयो है।

अथवा

क्षीरसिंधु गहि कै सनाल युग कंजन ते, मुक्तमाल देत मानो पूरन मयंक को।

अथवा

कनक-लता की नववल्ली द्वै अनूप कढ़ि, ऊरध उठी हैं मनो मिलन कमाल सों।

इस सम्पूर्ण कृति में अनेक स्थलों पर ऐसी भावमयी सूक्तियाँ बिखरी दिखाइ पड़ती हैं, जो ग्रन्थ की समाप्ति के पश्चात् भी पाठकों के कानों में गूंजती रहती हैं। यथा—

पावस नहीं है यह सवति हमारी है

अथवा

'रसिकेस' बदी दृग मेघन सो घनो तू बरसै किधौं हौं बरसौ

अथवा

कोऊ सावन मान करै न कहूं।

'राम-रसायन' की भी भाषा साहित्यिक-ब्रजभाषा होते हुये भी अवधी से बहुत प्रभावित है। बुन्देलखण्ड में जन्म लेने तथा अपने जीवन का बहुत भाग अवध प्रदेश में व्यतीत करने के कारण लेखक की भाषा पर उन दोनों प्रदेशों की भाषाओं का प्रभाव पड़ना अनिवार्य ही था, पर अवधी का प्रभाव ही अधिक दिखाई पडता है। वस्तुत:, इस काल के सभी कवियों के विषय में यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि ब्रजभाषा की विशुद्धता की ओर उनका ध्यान अधिक नहीं रहा हैं। इस ग्रन्थ के लेखक का काव्य-कौशल इस बात में निहित है कि अवधी के इन प्रयोगों को उसने इतनी सफलतापूर्वक ब्रजभाषा की स्वाभाविक प्रकृति में घुला-मिला दिया है कि उन्हें पृथक करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। वास्तव में दो-तीन

शताब्दियों की साहित्यिक-परम्परा के फलस्वरूप इस काल में भाषा सम्बन्धी यह सम्मिश्रण इतनी सुन्दरता से हुआ प्रतीत होता है कि उससे ब्रजभाषा के सहज सौन्दर्य में रंचक व्याघात नहीं पड़ता है, अपितु उसकी साहित्यिक श्री-वृद्धि ही होती है।

जहाँ तक ग्रन्थ की छन्द योजना का सम्बन्ध है, स्वयं लेखक के अनुसार उसमें ४२[1] प्रकार के मात्रिक और वर्णिक, हिन्दी के अपने तथा संस्कृत के छन्दों का प्रयोग हुआ है। छन्द प्रयोग के सम्बन्ध में 'राम-रसायन' के लेखक की विशेष मौलिकता यह है कि उसने छन्दों के चयन में भी प्रसंगानुकूलता का विशेष ध्यान रक्खा है। जहाँ रीतिकालीन काव्यों से प्रभावित वस्तु-परिगणन प्रणाली को ध्यान में रखकर विभिन्न प्रकार के व्यंजनों, वस्त्रों, अस्त्र-शस्त्रादि का वर्णन किया है, वहाँ अपेक्षाकृत लम्बे छन्दों का प्रयोग किया है, पर जहां सम्वादों की योजना की गई है वहाँ बहुत छोटे-छोटे तथा गतिशील छन्दों का व्यवहार किया गया है। उदाहरण के लिये जब बिरही राम सीता के वियोग में वन्य पशु-पक्षियों, लताद्रुमों, सरि-पर्वतों आदि से उनका पता पूंछते हैं, तो कवि 'कलित' छन्द में उनके प्रलाप का वर्णन कर अपनी काव्य-कुशलता का परिचय देता है। यथा—

हे कदली, कस बदली बुद्धि तुम्हारी।
कहाँ मैथिली गई, लेत बलिहारी॥
हे वट, तुम तजि कपट बचन टुक बोलौ।
भये अचल यों काहे रंच न डोलौ॥
हे गिरि, हौ अति ऊंचे फिरि चहुं हेरौ।
लखी सोय कित जात, वेगि किन टेरौ॥

इस प्रकार 'राम-रसायन' में रीतिकालीन और आधुनिक कालीन काव्य-शैलियों का मणि-कांचन-संयोग मिलता है।

उद्धव-शतक

कृष्ण-काव्य-धारा में भ्रमर-गीत-परम्परा का विशेष महत्व है और भक्ति-काल तथा रीतिकाल दोनों ही के कवियों ने इस मार्मिक प्रसंग को यथावसर-प्रबन्ध तथा मुक्तक-दोनों ही प्रकार के माध्यमों से वर्णित किया है। स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की इस कृति में यही प्रसंग लिया गया है। अतः इसकी मार्मिकता तो

[1]मालिनी, उपजाति, श्रुति, दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया, पद्धरी, छप्पय, तोमर, त्रिभंगी, बरवै, कुण्डलिया, दण्डक, कलित, हीरक, अर्द्धावली, लीला, चारी, चौपैया, भुजंगी, लतिका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, बसंततिलका, कुमारदण्डक, नगस्वरूपिणी, भुजंगप्रयात, मोतीदाम, चक्र, अमृतध्वनि, रथोद्धता, अनुष्टुप, दोपई, हरिगीतिका, पयंगम, घनाक्षरी, काव्य, शार्दूलविक्रीड़ित, भीम, चामर, आदि।

स्वयं सिद्ध है। कवि ने प्रसंग को बड़े मौलिक तथा कलात्मक ढंग से स्मरण अलंकार के सहारे उठाया है:—

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात,
जाको अध-उरघ अधिक मुरझायौ है।
कहै 'रतनाकर' उमहि गहि स्याम ताहि,
बास-बासना सौं नैकु नासिका लगायौ है॥
त्यौं ही कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय,
पाय परे उखरि अमाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर,
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

और

कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं,
नीकैं तहाँ नेह की नदी मैं न्हाइ आए हैं॥

कथा तो वही पुरानी है—सूरदास के 'भ्रमर-गीत' और नन्ददास के 'भंवर-गीत' वाली, पर कवि ने इसमें भ्रमर के आने का प्रसंग छोड़ दिया है। सम्भवत: इसी कारण इस रचना का नाम भ्रमरगीत न होकर 'उद्धव-शतक' रक्खा गया है।

कथा-प्रसंग में जो अन्य मौलिकता इस रचना में दृष्टव्य है, वह है—गोपियों के साथ-साथ कृष्ण का भी ब्रज-प्रवास की सुधि करके दुखी होना। ब्रज-प्रस्थान करते हुए उद्धव से शोकातुर वे कहते हैं:—

ऊधौ ब्रज-वास के विलासनि कौ ध्यान धंस्यौ,
निसि-दिन कांटे लौं करेजैं कसकत है॥

अथवा

फिरत हुते जु जिन कुंजन में आठौ जाम,
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं॥

इस प्रकार जहां पूर्ववर्ती रचनाओं में केवल एकपक्षीय प्रेम के दर्शन होते हैं, 'उद्धव-शतक' में उभयपक्षीय-प्रेम का प्रदर्शन किया गया है और आगे चलकर गोपियों की अपूर्व भक्ति-भावना से पराजित होकर ज्ञान-मार्ग के समर्थक उद्धव भी इसी वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं।

'उद्धव-शतक' की गोपियों में, नन्ददास की गोपियों की तर्कशीलता तथा सूरदास की गोपियों की भावुकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। जब उद्धव अपना सन्देश गिनेचुने शब्दों में कहकर मौन हो जाते हैं तो गोपियाँ बिना रुके और बिना

उत्तर की अपेक्षा रक्खे, खूब जी भर मीठी-कड़वी, सरस और नीरस, सुखद और दुखद, सभी प्रकार की बातें कहती हैं। यथाः—

हमकौ लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौ लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ।।

अथवा

ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते ना नेकु
देखि लेते कान्ह जौ हमारी अंखियानि तैं ।।

निश्चय ही, उद्धव पर इसका बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ता है और वे ज्यों-ज्यों मथुरा पहुँचकर कृष्ण से यहां तक कह डालते हैं :–

छावते कुटीर कहूं रम्य जमुना के तीर
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं ।।

यही नहीं, वे कृष्ण को भी एक बार ब्रज जाकर गोप-गोपियों की दशा देख जाने का सुझाव देते हुये इस प्रकार कहते हैं :–

याही कहैं जावौ बस विलव लगावौ ना ।

उक्त कथा के प्रसंग में ही कवि ने परम्परा से प्राप्त षट्ऋतु वर्णन का भी समावेश कर दिया है। यहां प्रकृति-वर्णन में अलंकरण प्रवृत्ति के ही दर्शन होते हैं। यथा :–

काम विधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने में ।। (बसंत)

———

माधव के आवन की आवति न बातैं नैंकु
नित प्रति तातैं ऋतु सिसिर बनी रहैं ।। (शिशिर)

जहां तक कलापक्ष का सम्बन्ध है, इस कृति में अलंकरण का मोह तो छन्द-छन्द और पंक्ति-पंक्ति में दिखाई देता है। जैसे :–

जासौं जाति विषय विषाद की बिबाई बेगि
चोप चिकनाई चित चारु गहिबौ करै। (अनुप्रास, रूपक)

———

बारनि कितेक तुम्हैं बारन कितेक करैं
बारन-उबारन ह्वै बार न बनौ नहीं। (यमक-पदमैत्री)

और कहीं-कहीं छायावादी ढंग की अर्थ-व्यंजना भी दृष्टिगोचर होती है। यथा :—

बिथकित सांस-लौं चलत रुकि जात फेरि
आंस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं।

पर यह मोह कहीं भी इतना अधिक नहीं हो पाया है कि वर्ण्य-वस्तु को ढक ले, अथवा रस-व्यंजना में बाधक हो। यहां कलापक्ष भाव-पक्ष का सहायक होकर ही आया है। यथा :—

नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।

रीतिकालीन कवियों की ब्रजभाषा में जिस अव्यवस्था तथा शब्दों की मनमानी तोड़ मरोड़ के दर्शन होते हैं, 'रत्नाकर' और विशेषकर 'उद्धव-शतक' की भाषा उससे पूरी तरह से मुक्त दिखाई पड़ती है। भावानुकूल, चित्रोपम तथा प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त भाषा लिखने के लिए 'रत्नाकर' आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों में सदैव आदर के साथ स्मरण किये जायेंगे और इस रचना में तो उनका यह गुण अपने पूर्ण उत्कर्ष सहित विद्यमान है। यथा :—

कर बिनु कैसे गाय दूहि हैं हमारी वह,
पद-बिनु कैसे नाचि थिरकि रिझाई हैं।

यहां भाषा का तद्भव-प्रधान रूप ही विशेष दर्शनीय है, क्योंकि सम्वादात्मक प्रसंगों के लिए यही अधिक उपयुक्त होता है। 'रत्नाकर' जी के उर्दू-ज्ञान, काशी निवास और अवध-प्रवास के विभिन्न प्रभावों से युक्त उनकी प्रौढ़ ब्रजभाषा में अर्थव्यंजना करने की अद्भुत क्षमता आगई है। यथा :—

कान्ह सो हमारी राम-राम कहि दीजियो।
अथवा
हम उनहीं की, उनहीं की, उनहीं की हैं।

छन्द-प्रयोग की दृष्टि से 'उद्धव शतक' के कवित रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों के समकक्ष रक्खे जा सकते हैं, और जहां तक आधुनिक काल का सम्बन्ध है, 'रत्नाकर' के कवित्तों से खड़ीबोली में कवित्त सवैया लिखने वाले अनेक कवियों का मार्ग-प्रदर्शन हुआ है।

काव्य-रूप की दृष्टि से यह रचना प्रबन्धात्मक मुक्तक-काव्य की कोटि में आती है, क्योंकि जहां इसमें एक ओर कथा की गति आरम्भ से लेकर अन्त तक दृष्टि गोचर होती है, वहीं दूसरी ओर इसका प्रत्येक छन्द अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है।

इस प्रकार 'रत्नाकर' की यह कृति कवित्व और आचार्यत्व, रीतिकालीन अलंकरण और भक्ति-कालीन मार्मिक भाव-व्यंजना, तर्क और भावुकता, उक्ति-

वैचित्र्य और रस निष्पत्ति, प्रबन्ध और मुक्तक के सुन्दर समन्वय के कारण प्राचीनता और नवीनता का समुचित सम्मिश्रण उपस्थित करती है और आधुनिक काल में कृष्ण-काव्य की प्राचीन भ्रमर-गीत-परम्परा को भावक्षेत्र की दृष्टि से पर्याप्त आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है।

गंगावतरण

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में कथा या आख्यानक काव्य की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले इस काव्य की रचना स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अवधेश्वरी की प्रेरणा से की थी। इस काव्य की कथा, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, पौराणिक है तथा ग्रन्थकार ने इसके लिये मुख्यत: वाल्मीकीय रामायण का आधार ग्रहण किया है। केवल चौथे सर्ग की कथा कई अन्य पुराणों पर आधारित है। पर, कवि ने अपनी प्रतिभा और कल्पना के सहारे इस संक्षिप्त इतिवृत्त को सरस स्वरूप तथा मानवीय वातावरण देकर अत्यन्त हृदयग्राही रूप में उपस्थित किया है।

सम्पूर्ण कथा १३ सर्गों में विभक्त है और कथा प्रवाह के बीच-बीच में आने वाले सजीव और चित्रोपम वर्णन, उसकी गति में व्याघात न डालकर, उसकी रोचकता में वृद्धि ही करते हैं। इस प्रकार वस्तु-प्रबन्ध की दृष्टि से यह एक सुसंगठित रचना है। इसके नायक भगीरथ धीरोदात्त नायकों की कोटि में आते हैं।

पर इस रचना का वास्तविक महत्व उसके सूक्ष्म, संश्लिष्ट और सरस वर्णनों में है। कथानक के गंगा के चारों ओर केन्द्रित होने के कारण कवि को यहां रूप या मुद्रा-वर्णन के अवसर तो कम ही मिल पाये हैं, पर सामान्य घटना व्यापार-वर्णन तथा बाह्य प्रकृति-चित्रण के अनेक अवसर सुलभ थे। और, कवि ने अत्यन्त सूक्ष्मता से उनका निरीक्षण करके अत्यधिक सहृदयता और भावुकता से उनका प्रत्यक्षीकरण किया है। यथा :—

बर-बांहनि कर फेरि, चांपि चटकाइ आंगुरिनि।
बच्छस्थल उमगाइ, ग्रीव उचकाइ, चाय मिनि।।
तमकि ताकि भुज-दण्ड, चण्ड फरकत चित चोपैं।
महि दबाइ दुहु पांय, कछुक अन्तर सौं रोपे।।
जुगुल कंध बल-संघ हुमकि हुमसाइ उचाए।
दोउ भुज-दण्ड उदंड तोलि ताने तमकाए।।

यहां उन सभी मुद्राओं और चेष्टाओं का सतर्कतापूर्वक अंकन हुआ है, जो वर्ण्य वस्तु के चित्र को मूर्त करने में सहायक हैं। इसी प्रकार, बाह्य-प्रकृति-वर्णन में भी कवि ने रीतिकालीन प्रवृत्तियों से पूर्ण-रूपेण प्रभावित होते हुये भी, कोरे अलंकरण या उद्दीपन रूप में ही प्रकृति को नहीं प्रस्तुत किया है, अपितु भावानुकूल

तथा नाद-व्यंजनापूर्ण भाषा में चारों ओर के वातावरण को चित्रित करके, वर्ण्य-दृश्य को साकार कर दिया है। यथा :—

उड़ति फुही की फाब, फबति छहरति छवि छाई।
ज्यौं परबत पर परत झीन बादर दरसाई॥
तरनि-किरन तापर विचित्र बहुरंग प्रकासै।
इन्द्र-धनुष की प्रभा दिव्य दसहूं दिसि भासै॥

कहीं तो गंगा के प्रवाह का ओजपूर्ण चित्र है, कहीं पत्थरों के लुढ़कने का घोर रव है और कहीं पर उसकी धारा की घरघराहट, भरभराहट और धमक तदनुरूप शब्दावली द्वारा ध्वनित प्रतीत होती है। यथा :—

कहुं ढाहें ढोकनि ढुकाइ निज गति अवरोधति।
पुनि ढकेलि ढुरकाइ तिन्हैं अपनौ पथ सोधति॥
कबहुं चलति कतराइ, बक्र नव बाट काटि गहि।
कबहुं पूरि जल-पूर क्रूर ऊपर उमंडि बहि॥
हरहराति हर-हार सरिस घाटी सौं निकसति।
भव-भय भेक अनेक एक संगहि सब निगरति॥

यहां कवि की वृत्ति प्रकृति के कोमल और कठोर तथा स्थिर और गतिशील दोनों ही प्रकार के चित्र अंकित करने में रमी है। यथा :—

बर बल्लिनि के कुंज-पुंज कुसुमित कहुं सोहैं।
गुंजत मत्त मलिन्द वृन्द तिन पर मन मोहैं॥
मनी सुहागिनि सजे अंग बहुरंग दुकूलनि।
गावति मंगल मोद-भरी छाजै सिर फूलनि॥

रस व्यंजना की दृष्टि में इस काव्य में शृंगार, बीर तथा करुण रसों का सुन्दर सामंजस्य मिलता है, पर कथानक को दृष्टि में रखते हुये बीररस की ही प्रधानता दिखाई देती है। वैसे, एक-दो स्थानों पर हास्य और वात्सल्य रस का भी हलका पुट मिलता है। यथा :—

बद्ध अंजली देखी भूप बिनवत मृदु बानी।
मुसुकाने विधि आनि चित्त 'चिल्लू भर पानी'॥ (हास्य-रस)

और करुण रस-व्यंजक एक चित्र इस प्रकार है:—

भयौ भूप जड़-रूप अंग के रंग सिराये।
बज्राघात सहस्त्र साठ संगहि सिर आए॥
कढ़्यौ कंठ नहिं बैन, न नैननि आंसु प्रकास्यौ।
आनन भाव-बिहीन गांव ऊजड़ लौं भास्यौ॥

कहीं-कहीं एक साथ दो रसों की गंगा-जमुनी धारा भी दर्शनीय है। यथा:—

भई थकित छबि छकित हेरि हर-रूप मनोहर।
ह्वै आनिहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर।।
भयौ कोप कौ लोप चोप औरै उमगाई।
चित चिकनाई चढ़ी, कढ़ी सब रोष-रुखाई।।

यहाँ शृंगार रस का उदय तथा वीर रस का शमन दृष्टव्य है।

काव्य के बहिरंग की दृष्टि से यहाँ ब्रजभाषा का अत्यन्त प्रौढ़, परिष्कृत तथा सुव्यवस्थित रूप दिखाई देता है। रीतिकालीन ब्रजभाषा जिन दूषणों से दूषित हो गई थी, यहां उन सब का यथोचित परिहार उपलब्ध है। वह एक साथ ही सरस, सजीव, साहित्यक तथा नाद-व्यंजनापूर्ण है। ऐसी भाषा को ही यथार्थ में चित्र-भाषा की संज्ञा देना उपयुक्त है। उदाहरण के लिये :—

कबहुं वायु-बल फूटि छूटि बहु बपु धरि धावै।
चहुं दिसि तैं पुनि डटति, सटति, सिमटति चलि आवै।।
मिलि-मिल द्वै-द्वै चार-चार सब धार सुहाई।
फिरि एकै ह्वै चलति कलित बल-बेग बढ़ाई।।

भाषा में सर्वत्र ही ओज और माधुर्य गुण का सन्निवेश दिखाई देता है, और केवल कथा-तत्व के कारण ही प्रसाद गुण का समावेश हो सका है। वैसे, 'रत्नाकर' जितने बड़े कवि हैं, उतने बड़े हीं शब्द-शिल्पी भी, अत: भाषा उनके संकेतों पर नृत्य करती हुई दिखाई देती है। शिथिलता या भाव-व्यंजना में अक्षमता जैसे दोष 'गंगावतरण' की भाषा में ढूंढे से भी नहीं प्राप्त होते हैं।

जहाँ तक अलंकारों के प्रयोग का संबन्ध है, इस कृति की प्रत्येक पक्ति में किसी न किसी अलंकार के दर्शन होते हैं और कहीं-कहीं तो एक साथ अनेक अलंकारों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। अनुप्रास और शब्द-मैत्री तो कवि की भाषा को व्यंजक बनाने के विशेष उपादान रहे हैं। यथा :—

चली बिपुल-बल-बेग-बलित बाढ़ति ब्रह्मद्रव।
भरति भुवन भय-भार मचावति अखिल उपद्रव।।

अलंकारों में कवि को शब्दालंकारों से विशेष मोह प्रतीत होता है, यद्यपि अर्थालंकारों में भी सांगरूपक, उत्प्रेक्षा, सन्देह, विरोधाभास और उपमा आदि विशेष रूप से प्रयुक्त हुये हैं। यथा:—

उमड्यौ सोक-समुद्र भई बिलुपित मख-साला।
बड़वागिनि सी लगन लगी जग्यागिनि-ज्वाला।। (रूपक)

मनौ हंस-गन मगन सरद-बादर पर खेलत।
भरत भांवरै जुरत, मुरत, उलहत, अवहेलत।। (उत्प्रेक्षा)

———

के निज नायक बंध्यौ बिलोकत व्याल-पास तैं।
तारनि की सेना उदंड उतरति अकाभ तैं।।
कै सुर-सुमन-समूह आनि सुर-जूह जुहारत।
हर-हर करि हर-सीस एक संगहि सब डारत।। (सन्देह)

———

चली धार घुधकारि धरा-दिसि काटति कावा। (ध्वन्यार्थव्यंजना)

'गंगावतरण' की रचना 'रत्नाकर' के प्रिय छन्द रोला में हुई है, जो प्राचीन काल से ही प्रबन्ध-काव्य रचना के लिये सफलतापूर्वक प्रयुक्त होता आया है। वैसे, इस काव्य के मंगलाचरण के रूप में तीन छप्पय, प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक उल्लाला और ग्रन्थ के अन्त में एक दोहा प्रयुक्त हुआ है। काव्य के बहिरंग प्रसाधन में निपुण होने के साथ-साथ 'रत्नाकर' जी पिंगल-शास्त्र के भी आचार्य थे और अपने इस ज्ञान को उन्होंने बड़े कौशलपूर्वक व्यावहारिकता का परिधान प्रदान किया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'गंगावतरण' आधुनिक ब्रजभाषा कविता में सफल प्रबन्ध-काव्य-लेखन की दृष्टि से नये युग का अवतरण करता है।

रसकलस

हिन्दी-साहित्य और विशेषकर ब्रजभाषा-काव्य में रीति-ग्रन्थ लिखने की परम्परा बहुत पुरानी है। आवश्यकता यह थी कि भक्तिकाल और रीतिकाल से चली आती हुई इस प्रचीन परम्परा में युग के अनुरूप परिवर्तन किया जाय, और कवि-वर 'हरिऔध' द्वारा लिखित 'रसकलस' इस दिशा में एक अभिनन्दनीय प्रयास है। ग्रन्थ की रचना के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुये ग्रन्थकार ने इसकी भूमिका में लिखा है। "मैं यह स्वीकार करता हूं कि प्राचीन प्रणाली का अनुसरण ही आजकल अधिकांश वर्तमान ब्रजभाषा के कवि कर रहे हैं। निस्सन्देह यह एक बड़ी त्रुटि है। समय को देखना चाहिये और सामयिकता को अपनी कृति में अवश्य स्थान देना चाहिये...यह विचार कर प्राचीन प्रणाली के कवियों की दृष्टि इधर आकर्षित करने के लिये 'रस-कलस' की रचना की गई।"

वस्तुतः उक्त परम्परा में अब तक जितने भी ग्रन्थ रचे गये थे, उनमें शृंगार-रस का ही विस्तार था। अन्य रसों का विवेचन बिल्कुल चलताऊ ढंग से कर दिया जाता था। इस रचना में प्रथम बार उक्त परम्परा से अलगाव दिखाई देता है। 'रस-कलस', जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सभी रसों का कलस है। इसमें सर्वस्वीकृत नवो रसों के साथ-साथ उनके स्थायी भाव अनुभाव, बिभाव और नायिकाभेद,

नख–शिख, षट्ऋतु-वर्णन आदि का बड़ा सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध है। प्राचीन रीति-ग्रन्थों के विपरीत इस में लक्षणों के लिए गद्य और उदाहरणों के लिये पद्य का प्रयोग करके ग्रन्थकार ने अपनी युगानुसारिणी प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

जहाँ तक ग्रन्थ के सैद्धान्तिक पक्ष का सम्बन्ध है, उसमें कई नूतन उद्भावनायें प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए, शृंगार रस (संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों के अन्तर्गत) के उदाहरण देते समय भी उन्हें अश्लीलता से बिल्कुल अलग रखा गया है, लक्षणों और उदाहरणों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया है, कई रसों के नये भेदोप-भेद प्रस्तुत किये गये हैं और नायिका-भेद के अन्तर्गत-पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जाति-सेविका, देश-प्रेमिका, जन्मभूमि-सेविका, निजतानुरागिनी, लोक-सेविका, धर्म-प्रेमिका तथा नायक निर्वाचन के अन्तर्गत कर्मवीर, धर्मवीर, महन्त, नेता, साधू आदि का समावेश करके सामयिकता, सूक्ष्मदर्शिता तथा क्रान्तिदर्शिता का परिचय दिया गया है। इसी प्रकार प्रकृति-वर्णन के क्षेत्र में प्रकृति की स्वतत्र सत्ता स्वीकार करके तथा नारी–सौन्दर्य के चित्रण में शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त मानसिक गुणों की महत्ता स्वीकार करके समसामयिक ब्रजभाषा-कवियों को एक नई दिशा प्रदान की है।

पर आचार्यत्व के क्षेत्र में उपरोक्त नवीन उपलब्धियों के अतिरिक्त इस ग्रंथ का कवित्व की दृष्टि से भी विशेष महत्व है। यह तो स्पष्ट ही है कि 'हरिऔध' ने अपनी काव्य-साधना ब्रजभाषा के माध्यम से आरम्भ की थी, और 'रसकलस' की रचना तक आते-आते उनकी काव्य-प्रतिभा पूर्ण–रूपेण विकसित हो चुकी थी। अतः ऐसी स्थिति में जहाँ एक ओर उनमें विभिन्न मनोभावों, प्राकृतिक दृश्यों तथा वाह्य सौन्दर्य के मनोहारी चित्रों को अङ्कित करने की अपूर्व क्षमता उपलब्ध है, वहीं दूसरी ओर उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा का बड़ा प्रौढ़ और परिष्कृत रूप देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए, मुग्धा नायिका का एक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

पीन भए उरभाव मनोहर, केहरि सी कटि खीन भई है।
बंकता भौंहन मांहि ठई, मुख पै नव-जोति कला उनई है॥
जोबन अङ्ग दिप्यो 'हरिऔध', गए गुनहूं अब आय कई हैं।
केस लगे छहरान छवान छ्वै, कानन लौ अंखियान गई हैं॥

और वाह्‌रूप–वर्णन के साथ–साथ आन्तरिक गुणों का अङ्कन इस प्रकार हुआ है:—

कल-कानि-कलित कुलीन-खग-कुल कांहि,
बाल है बचावति कलेस–लेस–लासा ते।
बिदलित मानव को दलन निवारति है,
दलति रहति दिल–दहल दिलासा ते॥

'हरिऔध' दुख अनुभवति दुखित देखि,
जीतति है दांव भाव-पूत-प्रेम-पासा ते ॥
उपवास करति बिलोकि उपवासित को,
बनति पिपासित-पिपासित-पिपासा ते ॥ (लोक-सेविका)

प्रकृति का एक ललित-ललाम चित्र इस प्रकार अङ्कित किया गया है :—

कलित-पादपावलि-लसित ललित-लतान-निकेत ।
मंजुल कुसुमावलि-वलित उपवन है छवि देत ॥ (उपवन)

क्यारिन में मह-मह महकि, लहि अलिगन अनुराग ।
बन-बागन बिहरत रहत, सरस प्रसून-पराग ॥ (पराग)

जहां तक इस ग्रन्थ के कलापक्ष का सम्बन्ध है, 'रसकलस' की भाषा अधिकतर अभिधा-प्रधान है । उसमें लाक्षणिकता नहीं मिलती है, परन्तु जहां-तहां व्यंजना शक्ति का प्रयोग अवश्य मिलता है । काव्य-गुणों में प्रसाद और माधुर्य का प्राधान्य है, ओज का समावेश केवल वीर रस के प्रसंग में दृष्टिगोचर होता है । कवि ने सब से अधिक ध्यान ललित-पद-योजना की ओर दिया है । सरस और समान ध्वनि वाले वर्णों की योजना द्वारा पदावली का नाद-सौन्दर्य बहुत बढ़ गया है । यथा :–

लालन के लोने-लोने लोयन को चोरे लेत ।
गिरि गोरे गालन पै गरद गुलाल की ॥

———

सोभा सने सौहैं-सोहैं ससि लौ सु-आनन के,
सरस-उरोज ए सरोज सकुचाने से ।

ग्रन्थ में अलंकारों के प्रयोग की प्रचुरता होते हुए भी वह कहीं भाषा-सौन्दर्य में बाधक नहीं दिखाई देती है । वैसे, शब्दालंकारों की ओर ही कवि की अधिक दृष्टि रही है । यथा :—

संकट-समूह-सिंधु सिंधुता-विलोपनीय —(अनुप्रास)
बेसर-मोती क्यों चलति बेसरमों की चाल —(यमक)
मुकुत मिले हूं देखियत, फंसी नासिका मांहि —(श्लेष)

अर्थालंकारों में रूपक, सन्देह, व्यतिरेक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के सजीव प्रयोग 'रसकलस' में यथावसर दर्शनीय हैं :—

तारन समेत तारापति फीकी परिगो —(व्यतिरेक)
तेज है कि तंत्र है कि तारा है कि यंत्र है —(सन्देह)
पिय-तन-घन तिय मुदित मयूरिनी है —(रूपक)
चांदनी सी फैली चारु-चांदनी बदन की —(उपमा)

जहां तक छन्दों के प्रयोग का सम्बन्ध है इस कृति में कवित्त-सवैया दोहा तथा बरवै छन्द ही प्रयुक्त हुये हैं। मात्रा की दृष्टि से कवित्त और सवैयों की संख्या अधिक है, पर बरवै अल्प संख्या में होते हुए भी बड़े सरस और मधुर बन पड़े हैं।

स्वर्गीय डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्यवाल के शब्दों में 'छलकता हुआ यह रस-कलस' हमारे साहित्यिक मंगल का सूचक है, साहित्य-मंदिर के शिखर पर स्थान पाने योग्य है।

बुद्ध–चरित

अंग्रेजी-कवि, 'एडविन आर्नल्ड' की सुप्रसिद्ध कृति, 'लाइट आफ एशिया' के हिन्दी-अवतरण के रूप में पं० रामचन्द्र शुक्ल रचित यह प्रबन्ध-काव्य आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में द्विविध स्थान का अधिकारी है। एक ओर तो यह मुक्तक-प्रधान ब्रजभाषा-कविता में एक सफल प्रबन्ध-काव्य के रूप में रचित होकर, उसके एक बड़े अभाव की पूर्ति करता है और दूसरी ओर एक सफल अनुवाद के रूप में विदेशी भाषाओं से हिन्दी में पद्यानुवाद करने वालों के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है।

जहां तक ग्रन्थ के प्रबन्धात्मक रूप का सम्बन्ध है, उसकी मूल-कथा, उसका वाह्य बन्धान आदि सब कुछ मूल लेखक का ही है। कथा आठ सर्गों में विभक्त है तथा सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उनके निर्वाण तक की गाथा पद्य-बद्ध की गई है। वैसे, रूपान्तरकार के सामने इसी कथा को लेकर संस्कृत के कवि-अश्वघोष लिखित 'बुद्ध-चरित' नामक काव्य-ग्रन्थ भी था, पर ऐसा लगता है कि या तो आधुनिकता से अधिक निकट होने अथवा मनोहारी प्रकृति-चित्रों से परिपूर्ण होने के कारण शुक्ल जी को इसी कृति ने अधिक आकृष्ट किया।

प्रबन्ध-काव्य के विभिन्न तत्वों में सजीव और हृदयहारी वर्णनों को सबसे अधिक महत्व दिया गया है और इस ग्रन्थ की महत्ता मुख्य रूप से उसके सरस, सूक्ष्म, सजीव तथा संश्लिष्ट वर्णनों को लेकर ही है। इसमें रूप-वर्णन, मुद्रा-वर्णन, मनोदशा-वर्णन तथा वाह्य-प्रकृति के वर्णन प्रचुरता से उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए कपिलवस्तु के राज्य-प्रासाद में होने वाले अशोक-उत्सव में भाग लेने वाली रूप लावण्यमयी सुन्दरियों का एक चित्र इस प्रकार है :—

> नृपद्वार कुमारि चलीं पुर की, अंगराग सुगंध उड़ै गहरी।
> सजि भूषण अंबर रंग-बिरंग, उमंगन सों मन माहिं भरी॥
> कवरीन में मंजु प्रसून गुछे, दृग-कोरन काजर-लीक परी।
> सित भाल पै रोचनबिंदु लसै, पग जावक-रेख रची उछरी॥

महाभिनिष्क्रमण की रात्रि में राज्य-महल में मदालस तथा निद्रालस रूपवती नारियों का एक चित्र इस प्रकार अंकित हुआ है :—

सोवतीं संभार बिनु सोभा सरसाय, गात,
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर।
चीकने चिकुर कहूं बंधे हैं कुसुमदाम,
कारे सटकारे कहूं लहरत लंक पर ॥
सोवैं थकि हास औ विलास सों पसारि पाँयं,
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर ।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौ लौं,
जौ लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर ॥

इसी के साथ वाह्य-प्रकृति को भी भुलाया नहीं गया है। स्वभाव से प्रकृति के परम प्रेमी होने के कारण शुक्ल जी ने इस ग्रन्थ में प्रातःकाल का एक दृश्य इस प्रकार अंकित किया है :—

प्राची आशा कहन लगति दिनराज अवाई,
पहले केवल धुंध सरीखो परत लखाई ।
किन्तु पुकारै अरुणचूड़ जौ लौं पुर भीतर,
आभा निखरति शुभ्र रेख सी शैलशीर्ष पर।
लागति परसन होति शुभ्रतर सो अब क्रम क्रम,
देखत देखत होति स्वर्णपीताम धार सम।
अरुण, नील औ पीत होत धनखंड मनोरम,
काहू पै चढ़ि जाति सुनहरी गोट चमाचम ।

ग्रन्थ की भाषा चढ़ती हुई विशुद्ध ब्रजभाषा है। उसमें न तो पूर्वी प्रयोगों का सम्मिश्रण ही दिखाई देता है और न अप्रचलित प्राचीन प्रयोगों की भरमार ही। 'बुद्ध-चरित' की भाषा ब्रज-मण्डल की आधुनिक बोल-चाल की भाषा के बहुत निकट होने के साथ-साथ माधुर्य-प्रसाद-समन्वित, सानुप्रासिक, अलंकारमयी तथा प्रवाह पूर्ण है। उसका वैभव मुख्यतः दृश्य-चित्रण में ही निखरा है।

जहां तक अनुवाद-पक्ष का सम्बन्ध है, इसमें रूपान्तरकार का झुकाव शब्दानुवाद के स्थान पर भावानुवाद की ओर है। कहीं-कहीं तो उसने मूल-लेखक द्वारा भारतीय जीवन का ठीक ज्ञान न होने के कारण होने वाली त्रुटियों का समुचित परिहार भी किया है। मूल-कथा एक ही छन्द 'ब्लैंक-वर्स' में लिखित है, पर ब्रज-भाषा की प्रकृति और उसके प्राणों में बसने वाले अन्त्यानुप्रास-जनित संगीत को पहचान कर शुक्ल जी ने इसे तुकान्त छन्दों में रूपान्तरित किया है। इसी कारण अनुवाद ग्रन्थ होते हुये भी यह कृति मूल-ग्रन्थ से कहीं अधिक सुन्दर बन पड़ी है।

वीर–सतसई

सतसई या सूक्ति-मुक्तक परम्परा में लिखित अपने से पूर्ववर्ती और परवर्ती समस्त कृतियों से अनेक दृष्टियों में भिन्न तथा पृथक सत्ता रखने वाली श्री वियोगी हरि की यह कृति ब्रजभाषा-कविता पर श्रृंगारिकता के आधिक्य के दोषारोपण का स्पष्ट रूप से परिहार करती है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसकी रचना वीर-रस की व्यंजना के लिये हुई है, और इसका रचनाकार यह विश्वास लेकर चला है कि तात्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये कविता में इसी रस की सबसे अधिक आवश्यकता और उपादेयता है। अतः देश के उद्धार, समाज के सुधार और धर्म के समयानुसार परिष्कार के लिये ही इस ग्रन्थ की रचना की गई है।

वस्तुतः, हिन्दी साहित्य में वीररस का प्रयोग उसके समुचित अर्थ में नहीं होता आया है। वीररस का स्थायी भाव उत्साह है, क्रोध नहीं। परन्तु ब्रजभाषा कविता में वीर रस से मुख्यतः युद्धवीर का ही अर्थ लिया जाता है। 'वीर-सतसई' में वीर रस को उक्त संकीर्ण अर्थ में ग्रहण न करके, उसे व्यापक अर्थ में लिया गया है। इसी कारण इस ग्रन्थ के आरम्भ में परम्परानुसार की गई अपने आराध्य-कृष्ण की बंदना करते हुये कवि ने उन्हें रूढ़िगत श्रृंगारिक रूप में न देखकर वीर-वेश में देखा है, और इस प्रकार अन्य रसों की अपेक्षा वीररस की महत्ता का प्रतिपादन किया है। वीररस की व्यापकता को ध्यान में ही रखकर यहाँ साहित्य-शास्त्र में वर्णित-युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और दयावीर के अतिरिक्त सत्यवीर, कर्मवीर आदि और अनेक भेद उपस्थित किये गये हैं।

इसी प्रसंग में कवि ने देश के अतीत पर दृष्टिपात करते हुये पहले तो प्राचीन और मध्यकालीन वीरों की प्रशस्तियां प्रस्तुत की हैं, जिन में पौराणिक वीर-भीष्म और अभिमन्यु, ऐतिहासिक वीर-महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल तथा देश की मध्यकालीन और आधुनिक बीरांगनाओं-दुर्गावती, लक्ष्मीबाई आदि की यशोगाथा उपलब्ध है। पर केवल अतीत का गौरव-गान ही कवि को अभीष्ट नहीं रहा है। उसने वर्तमान पर भी दृष्टिपात करते हुए जो दयनीय, हृदय-विदारक और लज्जा जनक दशा देखी है, उसका चित्रांकन इस प्रकार किया हैः—

मतवारे सब ह्वै रहे, मतवारे मत माँहि।
सिर उतारि सतधर्म पै, कोउ चढ़ावत नाँहि॥

परिणामतः, राष्ट्रोद्धार, समाज-सुधार तथा धर्म के पुनरुद्धार के लिये नव-युवकों को उद्‌बोधित करने की प्रवृत्ति यहाँ प्रमुख रूप से दिखाई पड़ती है। यथाः—

करै जाति स्वाधीन जो, साँचो सोइ सपूत।
यों तो, कहु, केते नहीं, कायर कूर कपूत॥

अथवा

भरयौ रक्त नहिं, जिन दृगनि देखि आत्म-अपमान ।
क्यों न बिधे तिन में बिधे, शूल विषम विष-बान ।।

इसी कारण वर्तमान स्थिति में कवि को यही अभीष्ट प्रतीत होता है:—

पावस ही में धनुष अब, सरित-तीर ही तीर ।
रोदन ही में लाल दृग, नौरस ही में बीर ।।

और परिस्थितियों के संदर्भ में वीररस की व्यापकता इतनी बढ़ जाती है कि कवि में किसान, साहित्यकार, राष्ट्रीय नेता आदि सभी को 'वीर' रूप में देखने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है । यथा:-—

लै असि-हल, जोती मही, बोयो सीस-सुधान ।
करि सुचि खेती, जस लन्यो, धनि रजपूत किसान ।।

जहाँ तक ग्रन्थ के कलापक्ष का सम्बन्ध है, यहाँ वह साधन रूप में ही गृहीत है, साध्य रूप में नहीं । कथ्य को अधिकाधिक मार्मिक और प्रभावशाली बनाने के लिये जिस ब्रजभाषा का माध्यम ग्रहण किया गया है, वह साहित्यिक ब्रजभाषा होते हुये भी बुन्देलखण्डी से प्रभावित है, जो ग्रन्थकार की जन्म-भूमि की भाषा है । इसी के साथ लोक-जीवन से गृहीत तथा उर्दू-अंग्रेजी के लोक-प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार ढालकर प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति भी इस रचना में दिखाई पड़ती है । शब्दों को अकारण तोड़ने-मोड़ने की प्रवृत्ति कम ही उपलब्ध है, पर यदा-कदा क्रिया-पदों के चिन्त्य रूप अवश्य दिखाई दे जाते हैं, यथा:- बैंचि, देतु इत्यादि । भाषा में ओज और प्रसाद गुण की अधिकता है, और ब्रजभाषा का सहज गुण-माधुर्य तो आरम्भ से लेकर अन्त तक परोक्ष रूप में विद्यमान ही है । यथा :—

ओ, प्रताप मेवाड़ के, यह कैसो तुव काम ?
खात खलन तुव खड्ग पै, होत काल कौ नाम ।। (प्रसाद गुण)

———

चली चमाचम कोप सों, चकचौंधिनि तरवार ।
पटी लोथ पै लोथ त्यौं, बही रक्त-नद-धार ।। (ओजगुण)

वीररस जैसे विषय को लेकर चलने के कारण अधिक अलंकार प्रियता न तो समीचीन ही थी और न अलंकारों के प्रयोग के प्रति कोई विशेष आकर्षण इस कृति के प्रणेता के मन में देखा जाता है । यहां तो सीधी-सादी, बोध-गम्य और हृदय को छू लेने वाली भाषा में अपना सन्देश जन-साधारण तक पहुंचाने की प्रवृत्ति ही प्रमुख दिखाई पड़ती है । इस कारण अलंकारों का जो भी प्रयोग इस कृति में उपलब्ध है, वह श्रम-साध्य न होकर सहज कवि-कर्म का प्रतिफल है । वैसे, यहाँ यह उल्लेख कर

देना असंगत न होगा कि इस कृति के प्रणेता की सहज-स्वाभाविक भाषा तथा अन्य कवियों की अलंकृत-भाषा में अधिक अन्तर न मिलेगा। उदाहरण के लिये :—

जानत कबहुं कृपा न करि, कहिम्र कृपान करार— (यमक, अनुप्रास)
मुख श्रम-सीकर, दृग अरुन, रन-रज, रंजित केस— (स्वभावोक्ति)
भीषम-सों भीषम भयौ, वह भीषम व्रतवान— (अनन्वय, यमक)
नहिं घन, गाजत गहगहे, बाजत तुमुल निसान— (अपन्हुति)
किधौं रौद्र-रप रुद्र के किधौं ओज-अवतार— (सन्देह)
ज्यौं-ज्यौं परत उमाह-जलु, त्यौं-त्यौं धधकत जातु— (विरोधाभास)
पावस ही में धनुष अब, सरित-तीर ही तोर— (परिसंख्या)
लैं असि-हल, जोती मही, बोयो सीस-सुधान— (रूपक)
काँटे लौं कसक्यौ सदा, को अकबर-उर माहिं— (उपमा)
सोभित नील असीन पै, रुधिर-बिन्दु-कृत जाल। (उत्प्रेक्षा)
लसति तमाल-लतान पै मनहुं बधूगी-माल ।। (उत्प्रेक्षा)

आधुनिक युग में रचित इस श्रेणी की अन्य रचनाओं की भांति 'वीर-सतसई' पर भी पूर्ववर्ती कवियों का पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है और यह कविता के भाव तथा कला, दोनों ही पक्षों में परिव्याप्त है। कहीं-कहीं तो प्राचीन कवियों से अद्भुत भाव-साम्य दिखाई देता है:—

नहिं बद्दल-दल-बल यहै, तडित न यह, किरपान।
नहिं घन गाजत गहगहे, बाजत तुमुल निसान ।।

(मिलाइये—भूषण रचित छन्द—'बद्दल न होंहि दल दच्छिन घमण्ड माँहि')

फरति न हिम्मति खेत में, बहति न असि-व्रत-धार।
बल-बिक्रम की बोरियाँ, बिकति न हाट-बाजार ।।

(मिलाइये-कबीर का दोहा 'प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय')

फिर भी, यह कहना सत्य की पुनरुक्ति-मात्र होगी कि वीर—सतसई में आधुनिक ब्रज—वाणी की विरुदावली सुनी जा सकती है।

ब्रज—भारती

ब्रजभाषा-कविता के विषय में सामान्य पाठक की प्राय: यह धारणा रही है कि उसमें अधिकतर बंधे-बंधाये विषयों और गिने-गिनाये छन्दों को लेकर ही काव्य—रचना की प्रवृत्ति पाई जाती है। पर उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' लिखित इस कृति द्वारा इस धारणा का बहुत अन्शों तक परिहार हो जाता है। यह रचना दो खण्डों में विभक्त है—प्रथम खण्ड में शैली और तकनीक की दृष्टि से ऐसी रचनायें संकलित हैं, जो कम से कम ब्रजभाषा कविता की पुरातनता को देखते हुए युगान्तरकारी ही

कही जायेगी। दूसरे खण्ड की रचनायें छन्द-चयन की दृष्टि से तो पुराने ढर्रे की ही हैं, पर उनमें भी नवीन विषयों को लेकर काव्यात्मक अभिव्यक्ति का प्रयास पाया जाता है। उदाहरण के लिए 'अग्नि-आह्वान', 'तर्जनी' 'कल्कि-अवतरण' 'तद्रूपता' 'वीर-वक्ष' आदि विषयों को काव्य-रचना के लिए ग्रहण किया गया है, जो यह संकेत अवश्य देता है कि कवि में नूतनता के प्रति आग्रह और पुरातनता के निर्मोक को क्रमशः उतार फेंकने का उत्साह अवश्य विद्यमान है।

खड़ी बोली के छायावादी कवियों की देखा देखी ब्रज-भारती की इस 'ब्रज-भारती' में अतुकान्त छन्द का सफल प्रयोग किया गया है, और ब्रजभाषा-काव्य के लिए यह निश्चय ही नवीनता की बात है। इस संग्रह की सभी कविताओं में भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से नवीनता की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वह कहीं-कहीं तो समसामयिक खड़ीबोली कविताओं से इतनी मिलती-जुलती प्रतीत होती है, कि यदि भाषा का भेद न हो तो सामान्य पाठक उन्हें ब्रजभाषा की कविता कहने तक में संकोच अनुभव करेगा। उदाहरण के लिए :—

रजनी-गंधा रोम-रध्र में भरि रही,
सुरभि-सनी सत-सत सुधि की वह लालसा।
नलिन-पात के ओस-कनन कौं देखि कै,
जानें क्यौं आंखिन तें आंसू ढरि रहे। (कुसुमवती)

अथवा

अरुन अंखियन मैं नव अनुराग,
कोकनद मैं ज्यौं कनक-पराग।
भाल मैं कुंकुम-बिंदु सुहाग,
दिपत मेरे प्रानन को राग॥

कहना न होगा कि उक्त पंक्तियां खड़ीबोली की छायावादी कविता की ओर विशेषकर कविवर सुमित्रानंदन पन्त की 'पल्लव' और 'गुंजन' नामक कृतियों की कविताओं से इतना साम्य रखती हैं कि साधारण पाठक के लिए उन में भेद खोजना कठिन ही है।

दूसरे खण्ड की रचनायें ब्रजभाषा-साहित्य एवं शैली के संस्कारों के अधिक निकट हैं। उनमें स्वाभाविकता, सरसता, ओजस्विता तथा उक्ति-चातुर्य का समावेश है। वस्तुतः, इन कविताओं में वातावरण के चित्रण की विशेष क्षमता पाई जाती है जो वर्ण्य-विषय को पाठक के अन्तस्तल तक उतार देने में समर्थ है। सर्वत्र ही भावानुकूल शब्दावली का प्रयोग इन रचनाओं में पाया जाता है। उदाहरण के लिए, जहां एक ओर 'मीरा' नामक कविता में विषय के अनुकूल सरस-मधुर शब्दावली का प्रयोग दिखाई पड़ता है :—

ऐरी मातु मीरे ! मेरी आंगुरी पकरि नेकु,
लाल गिरिधारन सों मित्रई कराई दे।

तो दूसरी ओर-'वीर-वक्ष' शीर्षक कविता में :—

औचक ही खमकि खमण्डल प्रकम्पि जैहै,
गमकि गनीमन के सीस गिरि जैहै गाज।
लुत्थन के जुत्थन तैं भूमि ढकि जैहै तिमि,
कलि के ललाट को तड़कि टूटि जैहै ताज ॥

वीर गाथा काल जैसी ओजमयी पदावली के प्रयोग द्वारा कवि ने वीर रस को मूर्तिमान कर दिया है। कहना न होगा कि जहां 'मीरा' शीर्षक कविता में सरस मधुर शब्दावली के समावेश द्वारा प्रसाद और माधुर्य गुणों का प्राधान्य पाया जाता है, वहीं 'वीर वक्ष' शीर्षक दूसरी कविता में परुष पदावली का प्रयोग करके ओज गुण का आधिक्य दिखाई पड़ता है।

साधारणतया वीररस की कविताओं में यह दोष पाया जाता है कि उनमें कवि का ध्यान तदनुकूल ओजमयी पदावली के चयन की ओर इतना अधिक चला जाता है कि काव्य का भावपक्ष दुर्बल पड़ जाता है। आरम्भ से लेकर अन्त तक हिन्दी कविता में वीररस की रचना करने वाले दो-चार कवियों को छोड़कर (और वह भी उनकी सब कविताओं में नहीं) शेष सभी में इस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, पर 'ब्रज-भारती' की कविताओं में इस प्रवृत्ति का प्रायः अभाव सा पाया जाता है। वे जहाँ एक ओर वीर-रस-व्यंजक विषयों के चुनाव के प्रति जागरूक दिखाई पड़ती हैं, वहीं दूसरी ओर उनमें प्रसंगानुकूल भाषा में भावाभिव्यक्ति की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरण के लिए, हिन्दी कविता में परम्परा से वर्णित 'समुद्र' जैसे विषय को लेकर कवि ने जो उक्ति प्रस्तुत की है वह इस प्रकार है:—

प्रबल प्रचण्ड रिपु-बंसन बिधुंसिबे को,
क्यों न मरजाद की प्रसिद्ध-हद्द तोरि दे ?
एरे सिंधु, क्यौं न आज लपकि जलान्तर सों,
विकट विपच्छिन के बृंदन कौं बोरि दे ?

इसी प्रसंग में 'वीर-वक्ष' के विषय में लिखित अधोलिखित पक्तियाँ भी दर्शनीय हैं। यथा:—

गंडक-सी भीषण, दधीचि-अस्थि-ग्रथित-सी
दिग्गज के कुंभ-सी कि कच्छप कराल-सी।
चुम्बक-सी चण्ड तंडभूमि अस्त्र-शस्त्रन की,
दंभिन की थंभिनी कि ब्रह्म-सक्ति-जाल-सी ॥

यहाँ सन्देह अलंकार के प्रयोग के साथ-साथ ओजमयी शब्दावली का प्रयोग वर्ण्य-विषय को साकार कर देता है। साथ ही नई-नई उपमाओं का प्रयोग भी विषय को मूर्त बनाने में सहायक सिद्ध होता है।

'ब्रज-भारती' के रचनाकार की दृष्टि मुख्य रूप से भावपक्ष की ओर केन्द्रित रही है, कलापक्ष को अधिक संवारने या सुधारने की प्रवृत्ति उसमें अधिक नहीं पाई जाती है। ब्रजभाषा के प्राचीन और नवीन कवियों में यह विशेषता अत्यल्प-मात्रा में दिखाई देती है, क्योंकि अधिकांश का ध्यान कलापक्ष के प्रसाधन की ओर ही रहा है। निश्चय ही, ब्रजभाषा-कविता के उज्ज्वल भविष्य की ओर यह एक आशाप्रद संकेत था।

खेद है, कि 'ब्रजभारती' का प्रणयन करके उसके रचयिता—'उमेश' ने जो प्रगतिशील, नूतन तथा युगानुसारिणी परम्परा ब्रजभाषा-कविता के क्षेत्र में स्थापित की थी, वह आगे न बढ़ सकी। अन्यथा आज उसकी रूप-रेखा ही भिन्न होती।

दुलारे–दोहावली

आधुनिक काल में लिखित ब्रजभाषा की काव्य-कृतियों में दुलारेलाल भार्गव रचित यह बहु-विज्ञापित रचना बहुत दिनों तक साहित्यिकों के बीच चर्चा की विषय रही है। सम्भवतः ब्रजभाषा की किसी भी पुस्तक को लेकर इतनी आलोचना-प्रत्यालोचना न हुई होगी, जितनी इस एक पुस्तक के विषय में हुई है। जहाँ एक ओर कुछ आलोचक[1] इसे बहुत उत्कृष्ट रचना मानते हैं, वहीं आलोचकों का एक दूसरा दल[2] भी है, जो इसे साधारण से अधिक उच्च कृति नहीं मानता है।

दोहे और दोहों के संग्रह के रूप में दोहावलियाँ, शतक या सतसई लिखने की परम्परा लगभग उतनी ही प्राचीन है, जितनी कि स्वयं हिन्दी कविता। न्यूना-धिक रूप में यह परिपाटी हिन्दी साहित्य के सभी कालों में प्रचलित रही है और काव्य-रसिकों द्वारा समादृत भी हुई हैं। दुलारे लाल भार्गव की यह रचना उसी व्यापक परम्परा का आधुनिक रूप है, जिसमें प्राचीन के साथ नवीन का भी स्वल्प समन्वय देखा जाता है। इसमें कुल मिलाकर २०८ दोहे हैं, जिसमें से पहले ८ प्रार्थना विषयक हैं और शेष २०० विभिन्न विषयों को लेकर लिखे गये हैं। वैसे, शृंगार सम्बन्धी दोहों की संख्या अन्य रसों की अपेक्षा कम ही है।

मुक्तक-काव्य होने के कारण इसका प्रत्येक दोहा अपने में पूर्ण तथा वर्ण्य-विषय को समुचित रूप से व्यंजित करने में समर्थ होना चाहिये। मुक्तक-काव्यकार

---

[1]डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', सेठ कन्हैया लाल पोद्दार, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
[2]प्रो० कृपानाथ मिश्र, बनारसीदास चतुर्वेदी, पं० व्यंकटेश नारायण तिवारी

की सफलता इसी में निहित है कि वह दोहे की छोटी सी परिधि में व्यापक से व्यापक भाव और विशद से विशद दृश्य-खंड को कुशलतापूर्वक मूर्त कर सके। विषय की नवीनता या प्राचीनता अधिक महत्व नहीं रखती।

इस कृति में जिन विषयों को ग्रहण किया है, उनमें कुछ तो बिल्कुल परम्परा-रूढ़ हैं, यथा—नाम-महिमा, संसार की असारता, सत्संगति, भगवत्भक्ति, इत्यादि। उदाहरण के लिये:—

विषय-बात मन-पोत कों, भव-नद देति बहाइ।
पकरु नाम-पतवार दृढ़, तौ लगिहै तट आइ॥
बसि ऊंचे कुल यों सुमन, मन इतरैए नाहिं।
यह बिकास, दिन द्वैक कौ, मिलि है माटी माहिं॥

(संसार की असारता)

कंचन होत खरो-खरो, लहै आंच कौ संग।
सुजनन पै त्यौं सांच तैं, चढ़त चौगुनौ रंग॥

(सुजन-स्वभाव)

और कुछ नितान्त नवीन तथा समसामयिक विषय भी ग्रहण किये गये हैं। यथा:—

हिन्दू जबन प्रयाग मैं, गंग-जमुन सम धाय।
मिले, छिपी स्वाधीनता, सुरसुति सी दरसाय॥

(हिन्दू-मुस्लिम-एकता)

हरिजन तैं चाहौ भजन तौ हरिभजन फिजूल।
जन द्वारा ही करत हैं राजन मिलन कबूल॥

(अछूतोद्धार)

सती-सिरोमनि 'बा' तुही गाँधी-जीवन-सार।
तव अंगनि अनु-अनु बन्यौ सती सुगुन-आगार॥

(श्रीमती कस्तूरबा गांधी)

पर कहीं-कहीं प्राचीन और नवीन के समन्वय की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। यथा:—

एक जोति जग जगमगै, जीव-जीव के जीय।
बिजुरी बिजुरी-घर निकसि, ज्यों जारति पुर-दीय॥

अथवा

भारत सरहिं सरोजिनी गांधी पूरब ओर।
तकि सोचत ह्वै है कबै प्रिय स्वराज रबि भोर॥

इस प्रकार, कहीं प्राचीन विषय को लेकर नवीनता का परिधान पहनाया गया है, और कहीं नवीन विषय पर प्राचीनता का आरोप कर उसे नितान्त मौलिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। दोनों ही स्थितियों में समन्वय की भावना सराहनीय है।

जहाँ तक इस कृति के कलापक्ष का सम्बन्ध है, इसकी भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है, जो रीति-ग्रस्त न होकर अन्य भाषाओं को आत्मसात करने में समर्थ है। यहाँ उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों को ग्रहण कर उन्हें ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल बनाकर प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, यथा— आर्डिनेन्स, इस्पंज (स्पंज), (स्टिक), फील्ड, बाल, हाकी, चसमा, (चश्मा) मकतब, आतिसी आदि।

दोहे और सोरठे की सीमित परिधि के कारण कवि को यत्र-तत्र सामासिक-शैली का अवलम्बन करना पड़ा है, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो शैली अतिशय अलंकृत होगई है और दूसरी ओर भाषा के प्रसादगुण में भी कमी आगई है। यथा—

हृदय कूप, मन रहंट, स्मृति-माल-माल, रसराग।
बिरह-वृषभ, बरहा नयन, क्यों न सिचै स्मर-बाग॥

अथवा

गुरू-जन-लाज-लगाम, सखि, सिख-सांटी हूं निदरि।
पेखत पिय-मुख-ठाम, टरत न टारे दृग-तुरग॥

यहां अतिशय अलंकारिता के कारण वर्ण्य विषय स्पष्ट ही नहीं हो पाता है। पर, ऐसे स्थल, संपूर्ण रचना में गिने चुने ही हैं। अलंकारों में शब्द-मैत्री और अनुप्रास की ओर कवि का सबसे अधिक झुकाव देखा जाता है। ऐसा लगता है मानो ये निष्प्रयास ही पंक्ति-पंक्ति में आ विराजे हैं और भाषा के साथ मिलकर इतना एकरस हो गये हैं कि इन्हें अलंकार रूप में स्वीकार करना भी असंगत सा ही लगता है। कुछ तो ब्रजभाषा-काव्य की स्वाभाविक प्रकृति और कुछ कवि की व्यक्तिगत शब्द-साधना, दोनों ने मिलकर इस रचना की भाषा को एक अनुपम माधुरी प्रदान करदी है।

अन्य अलंकारों में रूपक, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेष और ध्वन्यार्थ-व्यंजना के उदाहरण भी स्थान-स्थान पर उपलब्ध हैं। यथा :—

दमकति दरपन-दरप दरि, दीप-सिखा-दुति देह (अनुप्रास)
तेह-मेह मुख-नभ छयौ, चढ्यौ भौंह-सुर-चाप (रूपक)
प्रति पल पियत पियूष, पै, विषम विषहिं बरसाह (विरोधाभास)
बस न हमारौ बस करहु, बस न लेहु पिय लाज (यमक)
जगमग, जग—मग जगमगत, डग डगमग नहिं होत (ध्वन्यार्थव्यंजना)

इस वर्ग की अन्य कृतियों की भाँति 'दुलारे-दोहावली' पर भी अनेक पूर्ववर्ती-कवियों जैसे कबीर, तुलसी, रहीम, बिहारी, मतिराम, वियोगीहरि की छाया स्पष्ट दीखती है। भाव-साम्य के अतिरिक्त कहीं-कहीं तो शब्दावली तक भी मिलती-जुलती दिखाई देती है। यथा—'पट, मुरली, माला, मुकुट, धरि, कटि, कर, उर माल' वाले दोहे में बिहारी के 'सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल' की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है, और अनेक दोहे तो प्राचीन कवियों के दोहों के आधार पर रचे गये प्रतीत होते हैं।

फिर भी, समयानुकूल सूझ-बूझ और प्राचीनता तथा नवीनता के समन्वय के कारण आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में 'दुलारे-दोहावली' का स्थान सदा सुरक्षित रहेगा।

फेरि मिलिबो

खड़ीबोली के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि, वर्तमान भूषण, अनूप शर्मा की यह ब्रजभाषा-कृति एक नहीं अनेक दृष्टियों से आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य ही क्या, सम्पूर्ण ब्रज-काव्य-साहित्य में अप्रतिम है। संस्कृत-साहित्य में 'चम्पू' ग्रन्थों की एक विशिष्ट परम्परा रही है, पर संस्कृत की उत्तराधिकारिणी होते हुए भी हिन्दी में यह परिपाटी विशेष रूप से नहीं पनप सकी। विशेषकर, ब्रज-भाषा में तो इस प्रकार की गिनी-चुनी रचनाएं ही उपलब्ध हैं। चम्पू की परिभाषा देते हुए साहित्य-दर्पणकार ने 'गद्य-पद्य-मयं काव्यं चम्पूरित्यमिधीयत', कहा है और 'फेरि मिलिबो' में यह लक्षण पूरी तरह से वर्तमान है।

ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति में कथा तो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध से ही ग्रहण की है, पर कथानक इतना नवीन तथा अछूता बना दिया है कि इस विषय पर कविता करने वाले किसी प्राचीन या नवीन कवि ने इतनी मौलिकता नहीं दिखाई है। संक्षेप में कथा यह है कि सूर्य-ग्रहण के अवसर पर एक ओर द्वारका से यादव-मण्डली सहित भगवान कृष्ण पधारते हैं और दूसरी ओर ब्रजभूमि से गोप-गोपियों का समाज कुरुक्षेत्र आता है और यहीं दीर्घकालीन वियोग के पश्चात् उनका पुनर्मिलन होता है। पर इस छोटी सी कथा को लेकर और उसमें अपनी कल्पना का पुट देकर ग्रन्थकार ने एक नवीन रस की सृष्टि की है।

सम्पूर्ण कथा ७५ प्रसंगों में विभक्त है, जिसे ग्रन्थकार ने 'धाप' की संज्ञा दी है। कथा-प्रसंग के अन्तर्गत वर्णन-लाघव और वर्णन–विस्तार की ओर भी यथो–चित ध्यान दिया गया है, जिससे आद्योपान्त कथारस में कहीं भी व्याघात नहीं आने पाया है।

जहां तक पात्रों का सम्बन्ध है, उनमें प्रमुख हैं कृष्ण और राधा। इनके अति-

रिक्त नन्द-यशोदा, रुक्मिणी एवं गोप-गोपियों के चरित्र पर भी प्रर्याप्त प्रकाश पड़ा है। यहाँ कृष्ण का परम्परागत स्वरूप ही मुख्य रूप से ग्रहण किया गया है, जिसमें उनके लौकिक और आलौकिक दोनों पक्षों की व्यंजना हुई है। गोपियों की जिज्ञासा शान्त करते हुए नारद जी कृष्ण के आलौकिक स्वरूप की महिमा बताते हुए इस प्रकार कहते हैं :—

जिनैं पूजि बिधि–संभु जगत मङ्गल बितरत हैं।
जिनैं वंदि सुर-वृन्द निबिड़तम मोह हरत हैं॥
चरन-कमल-छबि बरनि कौन कवि मूढ़ कहावै।
जिनको पूजि सदेह परमगति मानुष पावै॥

वस्तुतः, ग्रन्थ के नायक-कृष्ण धीरोदात्त नायकों की कोटि में हैं, जिन्हें नारद अलौकिक, गोपियां लौकिक और नंद-यशोदा आदि गुरु-जन लौकिका-लौकिक मानते हैं। अथवा जिन्हें नारद सर्वशक्तिमान परमेश्वर के रूप में, नन्द यशोदा पुत्र के रूप में और ब्रज-बालायें परमरस-भोक्ता के रूप में देखती हैं। यथा :—

सिर-जगमगै किरीट दिव्य आभा सौं मंडित।
मनौ नील-गिरि-सिखर बाल रवि उदित अखंडित॥
युगल नैन यों लसत, बहुरि उपमा जिय आवै।
ललित-काम-सर चलित मीन को मिथुन सुहावै॥

कृष्ण के इस लौकिक स्वरूप के अतिरिक्त राधा का जो चित्र इस ग्रन्थ में उपलब्ध है, वह मुख्यतः परम्परा-मुक्त ही है, और वे प्रेम, सौन्दर्य तथा यौवन की प्रतिमा के रूप में चित्रित की गई हैं। स्वयं भगवान कृष्ण उनकी अनन्य भक्ति से प्रभावित होकर, उनके विषय में रुक्मिणी से यों कहते हैं :—

मन-बचं-करम सदैव राधिका मम पद-दासी।
वाके हिय मम चरण बसत नित-प्रति सुख-रासी॥

वाह्य सौन्दर्य और रूप के वर्णन के साथ-साथ विभिन्न पात्रों की हृद्गत भावनाओं का सरस चित्रण भी इस ग्रन्थ में मिलता है। उदाहरण के लिये राधा और गोपियों के दर्शन की प्रबल लालसा से युक्त कृष्ण की विफलता का सजीव वर्णन इन पंक्तियों में उपलब्ध है :—

कब राधा-मुख चंद निरखि बनिहौं चकोर मैं।
ह्वै हौं गोपी देखि कबौं आनंद-विभोर मैं।

गोपी और कृष्ण के प्रेम के स्वरूप की अभिव्यंजना के लिये कवि ने दिव्य शृंगार का अवलम्ब ग्रहण किया है, जिसमें करुणा और वात्सल्य का स्वल्प पुट दिया गया है। प्रेम के उज्ज्वल आदर्श को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से केवल उदात

और निर्मल भावों की अवतारणा की गई है, जिसके कारण प्राकृत नायक-नायिकादि के प्रसंग में वर्णित कुच-कच-कटि आदि के वर्णन का प्रायः अभाव ही है। साधारणतया संयोग श्रृंगार के वर्णन में कविगण प्रायः संयम से काम नहीं ले पाते हैं, पर इस ग्रन्थ का रचियता इस दिशा में एक बहुत सावधान कलाकार सिद्ध होता है। युग की प्रवृति को ध्यान में रखते हुए उसने श्रृंगार के उज्ज्वल और पावन पक्ष को ही सामने रक्खा है, पर इससे उसकी स्वभाविकता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आ पाया। वैसे भी, वियोग श्रृंगार की तो अनूठी कृतियां ब्रजभाषा-कविता में प्राप्त हैं, पर संयोग का ऐसा सरस और निष्कलुष वर्णन कठिनता से ही मिलता है।

जहां तक काव्य के कलापक्ष का सम्बन्ध है, इसमें ब्रजभाषा की कोमलता माधुर्य और पदलालित्य सहज रूप से प्राप्य है। कवि ने कथात्मक अंश मुख्यतः गद्य में और वर्णनात्मक भाग पद्य में लिखकर विशेष कौशल का परिचय दिया है, क्योंकि इसके कारण इस कृति में कोरी इतिवृत्तात्मक पंक्तियों का लगभग अभाव सा ही पाया जाता है। अलंकार-प्रयोग के प्रति भी कवि का विशेष आग्रह नहीं प्रतीत होता है। वैसे, स्थल-स्थल पर उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास, पद-मैत्री तथा श्लेष के सुन्दर प्रयोग इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं, पर कवि को उनके समावेष के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा है।

जहाँ तक छन्दों के प्रयोग का सम्बन्ध है, इसमें रोला, राधिका और दोहा छन्द का ही अधिक प्रयोग मिलता है। वर्णनात्मक कविता के लिये ब्रजभाषा में रोला छन्द की उपयोगिता शताब्दियों से विख्यात है, क्योंकि अष्टछाप के 'जड़िया कवि'-नन्ददास से लेकर आधुनिक काल के जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तक ने इसके माध्यम से प्रबन्धात्मक रचनाएं प्रस्तुत की हैं। कथा को गति प्रदान करने में यह छन्द ब्रजभाषा के अन्य छन्दों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

अनूप जी की खड़ीबोली की रचनाओं[1] के ठीक विपरीत 'फेरि मिलिबो' में सर्वत्र ही प्रसाद और माधुर्य गुण का प्राधान्य है, तथा प्राचीन कवियों की भाँति इसकी भाषा में शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की प्रवृति के दर्शन प्रायः नहीं के बराबर होते हैं। वस्तुतः, अनूप जी की यह कृति अनेक दृष्टियों से अनूप है, और ब्रजभाषा-कविता के एक अभाव की पूर्ति करती है।

शवरी

प्रायः कहा जाता है कि सामयिक समस्याओं से प्रभावित होकर की गई रचना देश-काल की परिधि को लांघकर कालान्तर में अपनी साहित्यिक उत्कृष्टता नहीं सिद्ध कर पाती है, पर कविता के क्षेत्र में इस कथन के अपवाद भी उपलब्ध हैं, और

[1] सुमनांजलि, कुणाल, सिद्धार्थ, वर्द्धमान तथा शर्वाणी।

'वचनेश' मिश्र लिखित 'शवरी' उनमें प्रमुख है। इस ग्रन्थ का प्रणयन, स्वयं ग्रन्थकार के शब्दों में हरिजन-समस्या से प्रेरित होकर हुआ। देश में हरिजनों की दयनीय दशा को देखकर भावुक मन वाले कवि को अनायास ही त्रेतायुग की सरल-हृदया राम-भक्ता-शवरी की सुधि हो आई। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की जीवन-गाथा का पद्यबद्ध-चित्र है।

जहां तक 'शवरी' के कथानक का सम्बन्ध है, वह बहुत ही लघुकाय है। इस में शवरी के जीवन की परम्परा से प्राप्त कथा ही ग्रहण की गई है। वनवासिनी शवरी द्वारा मुनि के ऊपर एक तिनके का पड़ जाना, मुनि के स्नान मात्र से पम्पासर का खारी हो जाना, राम के स्नान द्वारा पम्पासर का शुद्ध न होना तथा शवरी के स्नान कर लेने मात्र से उसका पूर्ववत मधुर और पवित्र हो जाना, आदि ऐसी घटनाएं नहीं हैं, जिन्होंने शवरी की परम्परा-वर्णित कहानी में कोई नवीन अभिवृद्धि की हो। पर कथा के इस स्थूल अंश पर सरस वर्णनों तथा सजीव सम्वादों का मनोरम परि-धान चढ़ाकर ग्रन्थकार ने अपनी कवित्वशक्ति का अच्छा परिचय दिया है। उदा-हरण के लिये—वन में विचरण करने वाली शवरी, भक्ति की विभिन्न क्रियाओं को सीखने के लिये किसी लौकिक गुरु के पास नहीं जाती है, अपितु वाह्य-प्रकृति से ही प्रेम का यह अद्भुत पाठ सीखती है। यथा:—

बिचरै बन भील की भोरी लली,
हरिनीन सों चौंदिसि धाइवो सीखी।
नखतावलि सों कहुं नैन लगाइवो,
फूलन सों मुसुकाइबो सीखी।
रस-भीजिबो पाछिली राति सों, ओस सों-
आंसुन को टपकाइबो सीखी।
मन दीबो चकोरन सों, पपिहान सों-
एकहिं की रट लाइबो सीखी।

इसी प्रकार, अपने आराध्य की महत्ता, उदारता, दयालुता आदि का ज्ञान भी उसे शास्त्रों या विद्वानों के उपदेशों द्वारा न होकर व्यापक वाह्य-प्रकृति के विभिन्न उपादानों द्वारा ही प्राप्त होता है। यथा:—

नभ देखि सो स्यामल मान लियो,
छबि भानु-प्रभाहिं प्रमान लियो।
निज बैन बिनीत की पाय प्रतिध्वनि,
राखत है हित जानि लियो।

अति चाह उछाहन हौस बढ़ी,
मिलिबे को हिये हठ ठान लियो ।
गुनि जीवन-सार सों बुद्धि के बास-
बिसास के बासन छान लियो ।।

'शवरी' के कवि को रूप-वर्णन, मनोदशा-वर्णन तथा प्रकृति-चित्रण में भी पर्याप्त सफलता मिली है। उदाहरण के लिए शवरी का एक रूप-चित्र इस प्रकार है:-

लटकाये लटापटी लोनी लटै
बन डोलति भील की डाबरिया।
दृग तीखे, दृगंचल चंचल-से,
कोउ रंग रगी तन सांवरिया ।

उक्त रूप-चित्र में उपयुक्त शब्दावली के प्रयोग द्वारा मानो चित्रण की एक-एक रेखा सजीव हो उठी है । जहां तक प्रकृति-वर्णन का सम्बन्ध है, कवि ने परम्परागत उद्दीपन या आलम्बन, अलंकरण या उपदेश-ग्रहण वाली प्रकृति-चित्रण की पद्धति को त्याग कर रहस्यात्मक रीति से प्रकृति-वर्णन किया है। यथा:—

भौन है जाको सबै बरम्हाण्ड, प्रदीप जहाँ रवि-चन्द उजारे ।
पौन को पंखा फरासी चलै, 'बचनेस' जू झाड़-फनूस हैं तारे ।।
माया नचै नित पातुर सी अनहद्द बजै घन नद्द नगारे ।
ऐसे बड़े दरबार को छांड़ि कहा कोउ जांचत दीन के द्वारे ।।

जहां तक इस रचना के कला-पक्ष का सम्बन्ध है, कवि ने उसे परिपुष्ट करने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है । 'शवरी' की भाषा साहित्यिक न होकर स्वाभाविक तथा जीवन्त ब्रजभाषा है, जिसमें तत्सम्-गर्भित-पदावली की शिष्टता की कृत्रिम सुगन्ध के स्थान पर तद्भव-बहुल-शब्दावली की सोंधी सुगन्ध ही अधिक है। लोक-जीवन में प्रचलित शब्दावली के समावेश तथा अवधी की मधुरिमा के पुट द्वारा इस ग्रन्थ की भाषा अत्यधिक सरस, सजीव तथा मधुर बन गई है। कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो भाषा कवि की अनुगामिनी होकर भावों के साथ-साथ प्रवाहित होती है । यथा:—

जग देखत हूं नहिं देखति-सी,
भई काहू अदेख पै बावरिया ।

अथवा

तन है हरि-पांयन पारिबे कौ,
सबरी कौ न और परोजन है ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ की भाषा में प्रसाद तथा माधुर्य गुण का प्राधान्य पाया जाता है। जहाँ तक अलंकारों के प्रयोग का सम्बन्ध है, कवि उनके विषय में कोई विशेष आग्रह नहीं प्रदर्शित करता है। गतिशील भाषा की भांति वे भी मानो कवि की भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ खिचे चले आते हैं। यथा:—

पावन पावन की चरचा तह—
कैसे अपावन पावन पावती। (यमक)

———

पियरी परी प्रेम की पीर में सो। (अनुप्रास)

———

लटकाये लटा...पटी लोनी लटैं। (ध्वन्यार्थ-व्यंजना)

———

रस-मीजिबो पाछिली राति सों। (लाक्षणिक-वक्रता)

इस प्रकार 'शवरी' में हमें मुख्य रूप से सरस-कवि के ही दर्शन होते हैं, जागरूक कलाकार के नहीं, और इसी कारण उसका रचनाकार बिहारी, मतिराम अथवा 'रत्नाकर' की कोटि में न आकर धनानंद और 'पद्माकर' की श्रेणी में ही परिगणित किया जायगा। 'शवरी' में अलंकारिता और पच्चीकारी के प्रति कोई आग्रह नहीं दिखाई पड़ता है, अपितु वहां तो समाज की विकृति से द्रवित होकर सरस तथा स्वाभाविक भाषा में भक्ति की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिये आकर्षक कथा कहने की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। उसमें एक साथ ही मतिराम की मिठास, पद्माकर का प्रवाह और 'रसखान' की रसमयता उपलब्ध है।

तरंगिणी

ब्रजभाषा-कविता में मुख्य रूप से मुक्तक-काव्य की प्रधानता दिखाई देती है, और उसमें भी सूक्ति-मुक्तकों की बहुलता रही है। अकेले आधुनिक काल में ही इस विषयक ३०–३२ महत्वपूर्ण रचनायें दृष्टिगोचर होती हैं, जिनमें 'तरंगिणी' का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रणेता, पं० किशोरीदास वाजपेयी, संस्कृत के विद्वान, काव्य शास्त्र के पंडित तथा ब्रजभाषा-व्याकरण के मर्मज्ञ हैं। उनका कवि-रूप यदा कदा ही प्रकट होता है, पर इस कृति के द्वारा कविता के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा के सम्यक् दर्शन मिल जाते हैं।

जहां तक वर्ण्य-विषयों का सम्बन्ध है, 'तरंगिणी' का क्षेत्र, इस परम्परा में लिखित सभी रचनाओं-वीर सतसई, दुलारे दोहावली, करुण-सतसई, दिव्य दोहावली, से अधिक व्यापक है। इसका कारण यह है कि इसमें किसी एक रस विशेष या वाद-विशेष से बधकर काव्य-रचना करने की प्रवृति नहीं दिखाई पड़ती है। यहाँ, कवि की सूक्ष्म तथा पारदर्शिनी दृष्टि अपने चारों ओर के अगणित पदार्थों पर पड़ती है,

और उनकी सापेक्षिक महत्ता से प्रभावित होता हुआ, वह उन्हें अपनी काव्य-साधना का वर्ण्य-विषय बनाता चलता है। इस प्रक्रिया के प्रसंग में दैनिक जीवन की सामान्य से सामान्य वस्तु को ग्रहण किया गया है, जैसे-चाय, फुटबाल इत्यादि। देश के गण्य-माण्य महापुरुषों तथा राष्ट्र-कर्मियों से लेकर घर का दैनिक काम काज करने वाली कृषक-बाला भी कवि की दृष्टि से उपेक्षित नहीं रह पाई है। यही नहीं, समसामयिक जीवन में होने वाली विभिन्न राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक घटनाओं पर भी कवि की निगाह पड़ी है, और तात्कालीन कवियों तथा उनकी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी दृष्पात करने में वह नहीं चूका है। उदाहरण के लिये :—

चाय : गरमी मैं सीतल सुखद, गरम सीत रितु मांह।
सो स्यामा रस दायिनी, धनि लिपटन की चाह॥

———

फुटबाल : फूलि रह्यौ फुटबाल तू, वृथा न नीच लजात।
ठोकर दैवै काज ही, उदर भर्यौ तुव जात॥

———

श्री कृष्णदत्त पालीवाल : देखी तौ मैं गजब की, बिजुरी पालीवाल।
होत गरम अति छनक मैं जासौ नैनीताल॥

कृषक-बाला : पीसति गावति झूमि कछु, घरनी सुघर रसाल।
चन्द-वदन अरु नित कछुक, कुछ स्रम-सीकर भाल॥

———

आलोचक : आलोचक कविता करै, तौ यह समुझौ भूल।
माली में हैं कब लगे, बहु गु लाब के फूल॥

———

'तरंगिणी' के कवि का सबसे बड़ा अस्त्र है, उसका तीखा और चुभता हुआ व्यंग्य। ऐसा लगता है मानो व्यक्तिगत जीवन में अनुभव किये हुये पुंजीभूत असंतोष और आक्रोश को व्यक्त करने के लिए उसने इस शक्तिशाली माध्यम को अपनाया है। तभी तो, सामाजिक और धार्मिक कुरीतियां, राजनीतिक कूटनीति तथा पाखन्ड और साहित्यिक रूढ़ियां, सभी समान रूप मे 'तरंगिणी' की उत्तुंग तरंगों की लपेट में आ जाती हैं। यथा :—

देश-दशा : गरम कहत या हिंद कौ, जग के लोग हमेस।
पै न गरम अब नेकहूं, रह्यौ हाय यह देस॥

———

बहु-मत : छन मैं गज कौ खर करै, खरकौ गज सुख मौन।
सो है 'बहु-मत' अमित बल, ब्रह्म-बापुरो कौन॥

———

फैशनेबुल युवक : नकटाई की नकल बल, ललन चलत नहिं काम।
कला-हीन बिधु-बिम्ब सर, पुजत न जदपि ललाम।।

———

काले भारतीय : जानि परत गोरेन ने कछु बड़ि रिसवति दीन।
नहिं तौ सारे जगत मैं कत कारे ही हीन।।

———

'तरंगिणी' की कविताओं की मूल प्रवृत्ति सुधारवादी है, पर वह रचनात्मक उपकरणों द्वारा नहीं, अपितु प्रचलित विकृतियों के विरुद्ध विद्रोह के माध्यम से प्राप्य है। कहना न होगा कि कहीं-कहीं यह स्वर बहुत तीखा और कटु हो गया है, जो धर्म, समाज, साहित्य, राजनीति आदि सभी की शल्य-क्रिया कर देता है।

जहां तक इस रचना के कलापक्ष का सम्बन्ध है, जैसा कि ऊपर ही कहा जा चुका है, इसके रचनाकार ब्रजभाषा के मर्मज्ञ विद्वान हैं, और इधर कुछ वर्षों पूर्व उनकी 'ब्रजभाषा का व्याकरण' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई है, जो अपने क्षेत्र की गिनी चुनी कृतियों में से एक है। ऐसी स्थिति में 'तरंगिणी' की भाषा का साहित्यिक और व्याकरण-सम्मत होना आवश्यक हो जाता है। वैसे, इस ग्रन्थ की भाषा पर अवधी का स्पष्ट प्रभाव है, क्योंकि वह इसके रचयिता के जन्म-स्थान की भाषा है, और वे आज भी अपनी दैनिक बोल-चाल में उसका निस्संकोच प्रयोग करते हैं। यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ब्रजभाषा की मूल प्रकृति से भली भांति अवगत होने के कारण रचनाकार ने तद्भव शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। इसी कारण भाषा में प्रसाद गुण का प्राधान्य है। हां, यथा स्थान माधुर्य और ओज का भी समावेश देखा जाता है, पर ऐसे स्थान बहुत कम हैं। कहीं-कहीं उक्ति-चमत्कार के भी दर्शन हो जाते हैं। यथा :--

अति की भली न बात कोउ, कैसी ही संसार।
होत तुरत आचार हू, अति सौं अत्याचार।।

अलंकार-शास्त्र के पंडित होते हुये भी 'तरंगिणी' के प्रणेता में उस ओर विशेष आग्रह नहीं दिखाई पड़ता है। कारण यह है कि अलंकारों के आच्छादन से आवृत होकर कवि के व्यंग्य-बाण अपने लक्ष्य पर सीधी मार न कर पाते। उनकी प्रखरता कुंठित हो जाती। वैसे इस कृति में कुछ अलंकारों के सुन्दर उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। यथा :—

चोखे सर हैं दोहरे, दुहूं ओर है धार।
कोष न इनको चाहिये, उपजत अरथ अपार।।
(यमक, श्लेष)

छरति छरहरी छबि-भरी, धान छबीली बाम।
मनु व्याधिन के सीस पै, देति मुसल अभिराम।। (अनुप्रास; उत्प्रेक्षा)

नहरि त्यागि जीवन दियौ, तऊ बनी कछु सांस।
जमुना आइ बिलोकु हरि, जमुना डारत पास ।। (यमक,श्लेष)

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि भाव-पक्ष और कला-पक्ष के सुरम्य कूलों को स्पर्श कर भाव-तरंगें लेती हुई यह 'तरंगिणी' आधुनिक ब्रजभाषा को सरस एवं सजल बनाने में समर्थ है।

दैत्यवंश

उपेक्षितों के उद्धार के इस युग में 'दैत्यवंश' की रचना कविता के क्षेत्र में एक नितान्त अभिनव प्रयास है। महाकाव्य के लक्षणों का उल्लेख करते हुये, उसके नायक पद के लिये देव, ब्राह्मण, ऋषि, राजा या राज-पुत्र की अनिवार्यता बताई गई है, पर सामाजिक समानता के इस युग में जब शताब्दियों से उपेक्षित और तिरस्कृत वर्गों के समुद्धार की सामूहिक चेष्टा की जा रही है, उक्त नियमों में थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाना युग की प्रवृत्ति के अनुकूल ही होगा। प्रस्तुत कृति में एक सद्वंश-जात नायक के स्थान पर सम्पूर्ण दैत्यवंश को, जो परम्परा से घृणा और अवहेलना का पात्र रहा है, नायक के पद पर प्रतिष्ठित करने का सर्वथा मौलिक तथा अभिनन्दनीय प्रयत्न देखा जाता है।

जहां तक कथानक का सम्बन्ध है, कवि ने श्रीमद्भागवत का आधार ग्रहण किया है और काव्य रचना की प्रेरणा उसे कालिदास कृत 'रघुवंश' से मिली है। निश्चय ही, ग्रन्थ का नामकरण 'रघुवंश' के साम्य पर ही 'दैत्यवंश' किया गया है। सम्पूर्ण कथा १८ सर्गों में विभक्त है, मुख्य रस शृंगार तथा वीर हैं तथा यत्र-तत्र करुण, वीभत्स तथा वात्सल्य रस का भी परिपाक देखा जाता है। सर्गों में प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग मिलता है और सर्गान्त में छन्द परिवर्तन भी उपलब्ध है, जिसके द्वारा आगामी सर्ग की कथा का आभास प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यह ग्रन्थ महाकाव्य के प्रायः सभी बाह्य लक्षणों की पूर्ति करता दिखाई देता है। पर, जातीय या राष्ट्रीय गुणों की कमी तथा सन्देश की सार्वभौमिकता के अभाव में इसे वर्णनात्मक प्रबन्ध-काव्य या अधिकाधिक एकार्थ-काव्य की संज्ञा देना ही उचित होगा।

जहाँ तक कथा की गति का सम्बन्ध है, वह यत्र-तत्र छिन्न-भिन्न दिखाई देती है, और ऐसा लगता है मानो प्रबन्ध–निर्वाह की ओर ग्रन्थकार का सबसे कम ध्यान रहा है। कथा–तत्व की असफलता का दूसरा कारण पात्रों की भारी भीड़ है, जो एक नायक के अभाव में इस काव्य में एकत्र दिखाई देती है। परिणामतः जहाँ एक ओर कथा–रस को व्याघात पहुंचता है वहीं विभिन्न चरित्रों की रूप–रेखा भी ठीक ढंग से उभर नहीं पाई है। वैसे, पुरुष–पात्रों में हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बलि, बाणासुर और नारी–पात्रों में उषा और चित्ररेखा आदि प्रमुख हैं। परम्परा से

अपने आसुरी कार्यों के लिए प्रसिद्ध दैत्यों में सदगुणों की स्थापना करके रूढ़ि को तोड़ने की जो प्रवृत्ति देखी जाती है, वह अवश्य स्तुत्य है।

वर्णन की दृष्टि से इस कृति में परम्परा-निर्वाह के प्रति ही अधिक मोह दिखाई पड़ता है। वाह्य प्रकृति के वर्णन में उद्दीपन प्रणाली ही अपनाई गई है :—

वह नर्मदा दूबरी पीरी परी,
बलिराज के यों बिरहानल तायकै।
हरियारी मिटी तरु-वृन्दन की,
न प्रसून खिलै खरो सोंग मनायकै।

और कहीं-कहीं अलंकरण रूप में भी प्रकृति-चित्रण हुआ है। यथा:-

जल बिच इमि तियगन छवि छाई,
कमला मनहु आप चलि आई।
तिय मुख नीर मध्य इमि राजत,
कुसुमनि कमल बेलि जिमि छाजत।

ग्रन्थ की रचना पर कालिदास के प्रभाव के कारण इसी प्रसंग में 'हंसदूत' का भी समावेश कर दिया गया है।

जहाँ तक रसों के प्रयोग का सम्बन्ध है, शृंगार (संयोग और वियोग-दोनों ही पक्ष) हास्य, करुण तथा रौद्ररस के वर्णन में कवि को अच्छी सफलता मिली है। यथा:-

वियोग- परयंक पै लोटै बिहाल उषा,
मुरझाय गई मानौ फूल-छरी।
घनसार उसीर को लेप कियौ,
सिल कुंकुम लौं सो परी बिखरी।

———

संयोग- देख अचानक और की और,
सकोचि मधूक की माल संवारी।
त्यौं दुऔ कम्पित हाथ उठाय,
दियौ पुरुषोत्तम के गर डारी।
लाजन बोलि सकी न कछू,
कृस देह भई पै रोमंचित सारी।
औ सखियानि कै सङ्ग समोद,
बिनोद-भरी निज गेह सिधारी।

और बूढ़े ब्रह्मा का जो हास्य-परक परिचय लक्ष्मी को दिया गया, वह इस प्रकार है:-

तीनहुं लोक के ये करता,
अरु चारहु वेद बनावन हारे।
दाढ़ी भई सन सी सिगरी,
सिर पै कहूं केस न दीसत कारे।
नारद सौं इनके हैं सपूत,
तिहूंपुर ज्ञान सिखावनहारे।
प्रेम की पास मैं बाँधन कौ,
तुम्हैं बूढ़े बबा इत हैं पगु धारे।।

कथानक की प्राचीनता के स्वयं सिद्ध होते हुए भी उसमें समसामयिक प्रसंगों की उदभावना की गई है, जैसे-सुधार-योजना, सैनिक-शिक्षा, नहर-निर्माण, सहकारी समिति आदि।

जहाँ तक काव्य के बहिरङ्ग का सम्बन्ध है इस ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक-ब्रज है, जो सामान्य बोलचाल की भाषा से काफी दूर जा पड़ी है, और उस पर अवधी का हलका रङ्ग भी है, क्योंकि ग्रन्थकार उसी प्रदेश में उत्पन्न हुआ है। वैसे, भाषा भावानुसारिणी तथा यथावसर प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों से युक्त है। यथा—

तोरि धरौ दिग दन्तिन दन्त,
कहौ भुज ठोंकि सुमेर हलाऊं।
सारे सुरारि समूहनि कौ,
अब ही रन अङ्गन मैं बिचलाऊं।
जौ न करौ इतो कारज तौ,
तुहि लौटि न आनन मातु दिखाऊं।।

भाषा को विशेष सशक्त बनाने के लिये कहीं-कहीं लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग दृष्टव्य है।

काव्य में प्राचीनतावादी दृष्टिकोण के समर्थक होने के कारण कवि की अलंकार प्रियता भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाती है, पर अलंकारों को बलपूर्वक ठूसने का प्रयत्न कहीं भी नही किया गया है। वे स्वाभाविक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। यथा:—

उपमा : सुठि शीतल मंद सुगंध समीर,
नई प्रमदा सम डोलै लगी।

अतिशयोक्ति : पांव धरापै जहांई धरै, तहां-
चांदनी चारु चहुं दिसि फैलै।

अनुप्रास : भारती भौंहैं भ्रमाय कै बाँकी।

व्यतिरेक : मराल की चाल लजाय पधारी ।

उत्प्रेक्षा : जनु अम्बुज भरि कोसनि माहीं,
मुक्त गुच्छ जल डारत जाहीं ।

'दैत्यवंश' की रचना परम्परा-मुक्त प्रबन्धात्मक शैली में हुई है, जिसमें घनाक्षरी, हरिगीतिका, सवैया, रोला, रूपमाला, दोहा, सार, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग किया गया है, किन्तु जो सफलता कवित्त तथा सवैया, छन्दों में कवि को मिली है वह निश्चय ही दूसरे छन्दों के प्रयोग में नहीं ।

ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने स्वयं स्वीकार किया है —'लैके सार सकल पुरान काव्य नाटक कौ, आपनी हूं ओर ते मैं कछुक मिलाइ हौं ।' उसकी इस कृति पर अनेक पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव दिखाई देता है । मुख्य रूप से तुलसी तथा केशव का तो प्रभाव इस सीमा तक देखा जाता है कि कहीं-कहीं भाव-साम्य के अतिरिक्त शब्दावली की समानता भी मिल जाती है । यथा:—

'दैत्यवंश' (हरिदयालुसिंह) —रह्यो न्याय कर बाल अधीना ।

रामचरितमानस (तुलसी) —रह्यो विवाह चाप आधीना ।

दैत्यवंश (हरदयालुसिंह) —मनहुं वीर रस सोवत जागे ।

रामचरितमानस (तुलसी) —मनहुं वीर रस सोवत जागा ।

दैत्यवंश (हरदयालुसिंह) —वर्षा बिगत शरद ऋतु आई,
पके धान चहुं ओर सुहाई ।

रामचरितमानस (तुलसी) —वर्षा बिगत शरद ऋतु आई,
लछिमन देखहु परम सुहाई ।

फिर भी, उपेक्षितों के उद्धार की प्रवृत्ति, विषय की नवीनता, समसामयिकता के पुट और मार्मिक प्रसंगों की योजना की दृष्टि से ब्रजभाषा की इस काव्य-कृति का स्वागत होना चाहिये ।

करुण-सतसई

ब्रजभाषा में प्राचीन-काल से चली आने वाली सतसई-परम्परा में अध्यापक रामेश्वर 'करुण' द्वारा लिखित प्रस्तुत कृति नितान्त नवीन और आधुनिक भावों को लेकर अवतरित हुई है । अब तक लिखि गई सतसैयों में मुख्य रूप से शृंगार, नीति या धर्म जैसे विषय ग्रहण किये जाते थे, पर आधुनिक युग में यह परम्परा टूटी, जिसके फलस्वरूप साहित्य की अन्य विधाओं के साथ-साथ कविता को भी धरती पर उतरना पड़ा । 'करुण-सतसई' में कवि ने जो विशद भाव-भूमि ग्रहण की है, वह

अपने चारों ओर फैले हुये चिर-परिचित जीवन की ही है, जिसमें सुन्दरता के स्थान पर कुरूपता, आशा के स्थान पर निराशा, हास के स्थान पर रुदन और सुख के स्थान पर दुःख ही अधिक दिखता है।

ग्रन्थ के आरम्भ में दिये गये—'अपनी ओर' शीर्षक वक्तव्य से यह पता चलता है कि ग्रन्थकार का जीवन अनेक सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का शिकार रहा है। उसने, अपने ही शब्दों में—'दरिद्रता के दारुण दृश्य विषमता की विषमयी ज्वाला तथा समाज के क्रूर-कुटिल-कुकृत्य'—देखे हैं। अतः उसकी वाणी इस प्रकार धुधुआती फूट निकली है और उसमें स्पष्टता, निर्भीकता, ईमानदारी और सच्चाई का पुट अधिक है, साहित्यिकता, उच्चशिक्षा, संस्कार आदि का कम[1]।

इस प्रकार इस कृति में मुख्य रूप से स्वानुभूति का ही स्वर मुखर है। जहाँ तक विषयों के विस्तार का सम्बन्ध है, यहां साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक सभी प्रकार के विषय लिये गये हैं, और देश-विदेश तथा राष्ट्र के भूत, वर्तमान और भविष्य पर भी विचार प्रकट किये गये हैं। यथा, अपनी इस रचना के विषय में लिखता हुआ कवि कहता है:—

सुपद सुगीत न दोहरे, नहिं 'नावक के तीर'।
करुन-कराहन के कढ़े, कछु संताप-गंभीर ॥

देश की आर्थिक विषमता का चित्र इस प्रकार खींचा गया है:—

एकन के नित स्वान हूं, दूध-जलेबी खाहिं।
अन्न बिना सुत एक के, 'हा रोटी' रिरिआहिं ॥

और कवि को देश की दयनीय दशा का एकमात्र कारण और वर्तमान समय का मूल प्रश्न यही ज्ञात होता है कि:—

सौ बातन की बात इरु, बादि करै को तूल।
है इक रोटी-प्रश्न ही, सब प्रश्नन को मूल ॥

क्योंकि उसे चारों ओर यही करुण-पुकार सुनाई पड़ती है :—

नहिं सुनात चातक रटनि, नहिं कोकिल की कूक।
चहुं दिसि हाहाकार है, हा भोजन! हा भूक ॥

इसी प्रसंग में कवि की दृष्टि दीन-हीन किसानों, विलासी देसी नरेशों, कृश-काय श्रमजीवियों, परोपजीवी, मुस्टण्डे साधुओं आदि पर जाती है। यथाः—

किसान—कौन कहै घृत, दूध की, मुख छोटे बड़ि बात।
हम कहं रोटी, रामरस, मोहन भोग लखात ॥

---

[1]'करुण सतसई' का कवि-वक्तव्य—'अपनी ओर', पृष्ठ ८ तथा ६।

समसामयिक-जीवन पर दृष्टिपात करने के कारण लोक-प्रचलित अंग्रेजी के शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी इस कृति में दिखाई पड़ती है। यथा—'निब', 'होल्डर', 'कौंसिल', 'अवार्ड' 'कमीशन' 'ट्रंक' 'क्रीम' 'केक' इत्यादि कुछ अंग्रेजी शब्दों को व्रजभाषा के अनुकूल बनाकर भी प्रयुक्त किया गया है। जैसे 'काउन्सिल' के लिए 'कौंसिल', 'रैली-ब्रदर्स' के लिए 'राली-ब्रदर' आदि, और कुछ अंग्रेजी शब्दों के लिए अपनी ओर से नये शब्द भी बनाये गये हैं। यथा—'लंकाशायर' के लिये 'लंका-शहर' और 'ह्वाइट पेपर' के लिए 'कोरा कागद' आदि।

उर्दू के शब्द भी स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण करने की प्रवृत्ति इस कृति में देखी जाती है। यथा—'बकसीस', 'कुरकी', 'बदोलत', 'हमाम', 'अंजाम', 'नीम हकीम', 'इलहामी', 'कबीला' आदि। कहीं-कहीं इनको व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार परि-वर्तित भी कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं के शब्द भी प्राप्त होते हैं। यथा—समीप के अर्थ में पंजाबी शब्द 'कोल' तथा पुरुष की पूरी लम्बाई के लिये बुन्देलखण्डी शब्द 'पोरसा' का प्रयोग। कुछ चिन्त्य प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा–'गन्नेस', 'पश्चिमा', 'चौपेन' (चौपायों)। कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी दर्शनीय है, यथा—ह्वै कौड़ी के तीन, माई को लाल, माथे मढ़ना, अपनी-अपनी ढपली अपनो-अपनो राग आदि।

जहां तक अलंकारों के प्रयोग का सम्बन्ध है, कवि की दृष्टि उन्हें यत्नपूर्वक प्रयोग करने की ओर नहीं रही है, फिर भी यत्र-तत्र अलंकारों का सुन्दर प्रयोग दिखाई पड़ जाता है, यथा–नवरंग नवरंग कीन्ह, पसरो सरो पयार (यमक), मजहब की मनुमंथरा (उत्प्रेक्षा), कवि से कविवर धन्य (अनन्वय), जियत जरत जठरागि की जालिम ज्वालन जोर (अनुप्रास), खेत पटे, कूपहुं घटे, लटे लटपटे वेस (पद-मैत्री), सरे पनारे मल भरे बज-बजात बुबुआत (ध्वन्यार्थ व्यंजना)। फिर भी कवि की दृष्टि मुख्यतः भावपक्ष पर ही केन्द्रित रही है, अलंकारिता की ओर नहीं।

भाषा में सर्वत्र ही प्रसाद गुण की अधिकता है और सामयिक प्रसंगों के समावेश तथा लोक-प्रचलित शब्दों के प्रयोग द्वारा तो वह और भी अधिक ग्राह्य बन गई है। हां, कहीं-कहीं व्याकरण का उल्लंघन और व्रजभाषा की मूल प्रकृति की अपेक्षा भी देखी जाती है, पर ऐसे स्थान बहुत कम ही हैं।

अनेक स्थानों पर करुण सतसई का लेखक पूर्ववर्ती कवियों--बिहारी, तुलसी रहीम, वियोगीहरि आदि से प्रभावित दिखाई पड़ता है, और इस प्रभाव को उसने स्वेच्छापूर्वक स्वीकार भी किया है। पर, समसामयिकता तथा नवीन परिस्थितियों का जामा पहन लेने पर ये पूर्ववर्ती भाव पराये न लगकर, कवि के अपने से ही लगते हैं। यथा—'सीस गठा पग पानही' में बिहारी की छाया स्पष्ट है। प्रचार का

सीस गठा, पग पानही, कर हंसिया, रज माथ ।
यहि बानक उर-पुर बसौ, सदा सुखेती-नाथ ।।

देशी-नरेश—नहिं पाली काली प्रजा, भयो न पातक भूरि ।
गोरे स्वानन सेइ कै, सुयस लह्यौ भर पूरि ।।

श्रमजीवी (कम्पोजीटर)—पाण्डु बनाये पाण्डुलिपि, पेट गड़ाये दींठ ।
जोरहिं अक्षर कौन ये, नित्य नवाये पीठ ।।

परोपजीवी साधु—धनकी खटका नहि रहै, रहै न रिन की चोट ।
देखि परैं धमधूसरे, याही कारन मोट ।।

सूदखोर महाजन—खैंचि रह्यो अंत न लह्यो, कृषक-दुशासन वीर ।
बाढ़त जाली व्याज ज्यों, पांचाली कौ चीर ।।

पर केवल समस्याओं का उल्लेख ही कवि को अभीष्ट नहीं है, वह उनका अपने मतानुसार समाधान भी प्रस्तुत करता है, जो इस प्रकार है :—

जब लौं श्रम अरु उपज कौ, होत न साम्य-विभाग ।
बुझै बुझाये किमि कहौ, यह अशान्ति की आग ।।

'करुण-सतसई' के लेखक, 'करुण' जी की करुण दृष्टि देश के कवियों को भी उपेक्षित न छोड़ सकी है । समसामयिक छायावादी कवियों की कोरी कल्पनामयी और वायवीय रचनाओं की निस्सारता को लक्ष कर वे लिखते हैं :—

खेवत कल्पित नाव निज, संसृति-सागर पार ।
डूबत लखत न देश की, तरनी बिन पतवार ।।

यहां तक तो रही इस ग्रन्थ के भाव-पक्ष की चर्चा । जहां तक इसके कला-पक्ष का सम्बन्ध है, कवि ने स्वयं अपने वक्तव्य में कहा है कि "इसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं है । उसमें अवधी आदि अन्य भाषाओं की झलक यत्र-तत्र पाई जाती है, जिसका कारण मेरी अप्रयत्नशीलता मात्र है । यदि मैं प्रयत्न करता तो ढूंढ-ढूंढकर ब्रजभाषा के तत्सम् शब्दों का प्रयोग कर सकता था, पर तब भाषा (मेरे विचार से) क्लिष्ट-दुर्बोध सी हो जाती जो मेरे उद्देश्य में बाधक होता[1] ।" उक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की दृष्टि मुख्यत: भावपक्ष पर केन्द्रित रही है और अपने विचारों को सरल, सरस और स्वाभाविक ढंग से व्यक्त करना ही उसका प्रमुख रचना-दर्श रहा है । इसी कारण उसकी भाषा में ब्रजभाषा के अतिरिक्त ग्राम्य-जीवन से उधार लिये गये-'टटको,' 'बंटाधार', 'चिरकुट', 'पुरबुले', 'बाराबाट', 'खाले', 'ऊद' आदि अवधी के लोक-जीवन में प्रचलित अनेक शब्द मिल जाते हैं । इनसे काव्य-भाषा की व्यंजकता में वृद्धि ही हुई है ।

1-'करुण-सतसई' का कवि-वक्तव्य-'अपनी ओर,' पृष्ठ ३

समसामयिक-जीवन पर दृष्टिपात करने के कारण लोक-प्रचलित अंग्रेजी के शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी इस कृति में दिखाई पड़ती है। यथा—'निब', 'होल्डर', 'कौंसिल', 'अवार्ड' 'कमीशन' 'ट्रंक' 'क्रीम' 'केक' इत्यादि कुछ अंग्रेजी शब्दों को व्रजभाषा के अनुकूल बनाकर भी प्रयुक्त किया गया है। जैसे 'काउन्सिल' के लिए 'कौंसिल', 'रैली-ब्रदर्स' के लिए 'राली-ब्रदर' आदि, और कुछ अंग्रेजी शब्दों के लिए अपनी ओर से नये शब्द भी बनाये गये हैं। यथा—'लंकाशायर' के लिये 'लंका-शहर' और 'ह्वाइट पेपर' के लिए 'कोरा कागद' आदि।

उर्दू के शब्द भी स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण करने की प्रवृत्ति इस कृति में देखी जाती है। यथा—'बकसीस', 'कुरकी', 'बदोलत', 'हमाम', 'अंजाम', 'नीम हकीम', 'इलहामी', 'कबीला' आदि। कहीं-कहीं इनको व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार परि-वर्तित भी कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं के शब्द भी प्राप्त होते हैं। यथा—समीप के अर्थ में पंजाबी शब्द 'कोल' तथा पुरुष की पूरी लम्बाई के लिये बुन्देलखण्डी शब्द 'पोरसा' का प्रयोग। कुछ चिन्त्य प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—'गन्नेस', 'पश्चिमा', 'चौपेन' (चौपायों)। कहीं-कहीं मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी दर्शनीय है, यथा—ह्वे कौड़ी के तीन, माई को लाल, माथे मढ़ना, अपनी-अपनी ढपली अपनो-अपनो राग आदि।

जहां तक अलंकारों के प्रयोग का सम्बन्ध है, कवि की दृष्टि उन्हें यत्नपूर्वक प्रयोग करने की ओर नहीं रही है, फिर भी यत्र-तत्र अलंकारों का सुन्दर प्रयोग दिखाई पड़ जाता है, यथा—नवरंग नवरंग कीन्ह, पसरो सरो पयार (यमक), मजहब की मनुमंथरा (उत्प्रेक्षा), कवि से कविवर धन्य (अनन्वय), जियत जरत जठरागि की जालिम ज्वालन जोर (अनुप्रास), खेत पटे, कूपहुं घटे, लटे लटपटे वेस (पद-मैत्री), सरे पनारे मल भरे बज-बजात बुबुआत (ध्वन्यार्थ व्यंजना)। फिर भी कवि की दृष्टि मुख्यतः भावपक्ष पर ही केन्द्रित रही है, अलंकारिता की ओर नहीं।

भाषा में सर्वत्र ही प्रसाद गुण की अधिकता है और सामयिक प्रसंगों के समावेश तथा लोक-प्रचलित शब्दों के प्रयोग द्वारा तो वह और भी अधिक ग्राह्य बन गई है। हां, कहीं-कहीं व्याकरण का उल्लंघन और व्रजभाषा की मूल प्रकृति की अपेक्षा भी देखी जाती है, पर ऐसे स्थान बहुत कम ही हैं।

अनेक स्थानों पर करुण सतसई का लेखक पूर्ववर्ती कवियों---बिहारी, तुलसी रहीम, वियोगीहरि आदि से प्रभावित दिखाई पड़ता है, और इस प्रभाव को उसने स्वेच्छापूर्वक स्वीकार भी किया है। पर, समसामयिकता तथा नवीन परिस्थितियों का जामा पहन लेने पर ये पूर्ववर्ती भाव पराये न लगकर, कवि के अपने से ही लगते हैं। यथा—'सीस गठा पग पानही' में बिहारी की छाया स्पष्ट है। प्रचार का

स्वर मुखर होते हुए भी अपनी समसामयिकता के कारण यह कृति आधुनिक ब्रज-भाषा-कविता में सर्वदा स्मरणीय रहेगी।

अभिमन्यु-बध

आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में ऐतिहासिक या पौराणिक कथानकों को लेकर जो खण्ड-काव्य लिखे गये हैं उनमें रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' लिखित इस कृति का उल्लेखनीय स्थान है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें महाभारत की उस घटना का वर्णन किया गया है, जिसमें एक अल्प-वयस्क वीर ने अपूर्व रण-कौशल एवं वीरता प्रदर्शित करके अन्त में शत्रुओं की अनीति द्वारा वीरगति प्राप्त की थी। लेखक के अनुसार इसका कथानक महाभारत के ही अनुसार रक्खा गया है, और जहाँ कल्पना से भी काम लिया गया है, वहाँ भी घटनाओं की तथ्यता को उचित मर्यादा और सीमा में रक्खा गया है। कथा की स्वल्पता को सरस सम्वादों और चित्रोपम वर्णनों द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया गया है, जिसमें कवि को यथेष्ट सफलता मिली है।

जहाँ तक पात्रों का सम्बन्ध है, इसमें गिने-चुने चरित्रों का ही समावेश हुआ है, यथा—अभिमन्यु, उत्तरा, दुर्योधन, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर, शकुनि इत्यादि। और खण्ड-काव्य की सीमित परिधि को देखते हुये यह उचित भी था। जहाँ अभिमन्यु के चरित्र में पुरुषोचित धीरता, वीरता, उत्साह, निर्भीकता तथा हास्यप्रियता का प्रचुर समावेश दिखाई पड़ता है, वहीं उत्तरा के चरित्र में नारी-सुलभ कोमलता, भावुकता तथा संशयशीलता के दर्शन होते हैं।

परन्तु, कृति का वास्तविक महत्व उसके सरस, स्वाभाविक और चित्रोपम वर्णनों को लेकर ही है। उसमें स्थान-स्थान पर रूप-वर्णन, मुद्रा-वर्णन, मनोदशा-वर्णन तथा बाह्य प्रकृति वर्णन के सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। यथा:—

नयन सरोजनि मैं आयो नयो रंग, अंग-
ओजनि समायो, चित्त चिन्ता सब भागी है।
थरकन लागी रद-कोर कुटिलौ—है होय-
भौंहैं दोय, बीर-बाहु फरकन लागी है॥ (रूप वर्णन)

———

कम्पित सी ह्वै कै भई झम्पित सी दीप-सिखा,
बाम ओर औचकि सधूम ह्वै दवै लगी।
चकि, जकि, थहरि, थिरानी यौं अनैसी लेखि,
देखि मुख, ध्यावन त्यौं सुरनि सबै लगी। (मुद्रा-वर्णन)

———

आयो ढिग समर-थली कै रथ मांहि बली,
चौंकि रिपु-सैन चली सोचि भानु भ्राजै है।

लखि अभिमन्यु कौं जितै के ते तितै के रहे,
चकित चितै कै रहे सोचि, को बिराजै है। (मनोदशा-वर्णन)

जहां तक प्रकृति-वर्णन का सम्बन्ध है, वर्णित घटना को ध्यान में रखकर उसके अत्यल्प अवसर ही कवि को मिले हैं, फिर भी अलंकरण के प्रसंग में उसने प्रकृति को सदैव स्मरण रखा है। यथा :—

पावस में मंडल दिखात चन्द्रमा पै जैसौ,
तैसौ मंडलीकृत सरासन लखावै है।

जैसा कि इस कृति के नाम से ही स्पष्ट है, इसमें वीररस की प्रधानता पाई जाती है, पर यथावसर अन्य रसों, जैसे -शृंगार, रौद्र, हास्य तथा करुण की भी सुन्दर व्यंजना दृष्टिगोचर होती है। यथा:—

परम तरंगी रन-रंगी पारथी है बीर,
तीखे-तीर आनि भट-भीरि छांटि देत है।
करि प्रलयंकर, भयंकर सक्रुद्ध जुद्ध,
रुद्र लौ बरूथिनि-समुद्र पाटि देत है। (वीररस)

———

'सरस' कहै, त्यों बाल-प्रकृति-कुतूहल के,
काहू कौ बिचारि डरपोक डांटि देत है।
नासा-कान काहू कै हंसी ही में निपाटि देत,
कौतुक सौं काहू की कलाई काटि देत है। (हास्य रस)

———

सींचि निज सर तैं निकासे पुनि जीवन सौं,
टारी अरि-इति-भीति सारी बाहु-बल तैं।
काटि-काटि फूले-फरे बिरवा सुकीरति कैं,
रासि के सुभद्रानन्द सोयौ परि कल तैं। (करुण-रस)

और एक छन्द में तो कवि ने सभी रसों को एक स्थान पर ही वर्णित कर दिया है:—

रासि रस-राज की बिराजि रही मूरति पै,
मुद्रा मुख-हास कै बिलास की ढरी परै,
'सरस' बखाने, करुना की छांह कोयनि में,
लोयनि में लाली रुद्रता की उतरी परै।
बक्र भृकुटीनि मैं भयानकता भूरि भरी,
मद्भुत आभा सान्त-भाव सौं झरी परै।

उस उभरी सी परै बीर-रस की तरंग,
अंग प्रति अंग सौं उमंग उछरी परै ।

जहां तक कलापक्ष का सम्बन्ध है, इस कृति में साहित्यिक ब्रजभाषा की एक-रूपता को यथा सम्भव सुरक्षित रखने का प्रयास पाया जाता है, और इस प्रकार स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' के अधिनायकत्व में ब्रजभाषा के परिष्कार का जो समयोपयोगी प्रयत्न आरम्भ किया गया था, इस कृति के लेखक ने उसमें अपना यथा सम्भव योगदान किया है । इसी कारण, यहां भाषा को प्रान्तिक प्रयोगों से दूर रखने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट दिखाई देती है, और इस क्षेत्र में कवि-सुलभ स्वच्छंदता के नाम मात्र को भी दर्शन नहीं होते हैं । वैसे, भाषा सर्वत्र ही ओज, प्रसाद और माधुर्य गुण मंडित है, जिससे कवि को भाव-व्यंजना में अभीष्ट सफलता मिली है । स्थान-स्थान पर सूक्तियों का मार्मिक प्रयोग भी दृष्टव्य है । यथा:—

मूल हूं तै व्याज प्यारौ होत–बृद्धि ना करै है गुरु बैठै जाहि घर मैं ।

अलंकार शास्त्र के आचार्य, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के अनुज के रूप में 'सरस' जी की इस कृति में अलंकारों का प्रयोग गुण और मात्रा, दोनों ही दृष्टियों से, प्रचुरता के साथ हुआ है । ग्रन्थ की पंक्ति-पंक्ति में अनुप्रास और शब्द-मैत्री की छटा मिलती है । साथ ही अन्य शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का भी सफल प्रयोग हुआ है, जो रचना सौन्दर्य की वृद्धि में पूर्ण सहायक है । यथा:—

कम्पित सी ह्वै कै भई झम्पित-सी दीप-सिखा । (उपमा)

खलबल भारी खल-बल मैं मचैगी जब (यमक)

दूरि दुरै द्वेष-दुराभाव (अनुप्रास)

प्रेम-पय बन्धुता को कपट-खटाई पाय,
द्वैष-दधि, खोटी लै खटाई जम्यौ घर मैं । (सांग रूपक)

वैसे, श्लेष, यमक, सांग रूपक और अनुप्रास की ओर कवि की विशेष रुचि है । कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि सरस सम्वादों, सजीव वर्णनों तथा सुव्यवस्थित और सुष्ठु काव्य-भाषा के कारण 'अभिमन्यु बध' आधुनिक ब्रजभाषा-कविता की श्री-वृद्धि में सहायक सिद्ध हुआ है ।

षष्ठ अध्याय

प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियाँ

उपक्रमः

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य के विकास-क्रम के अवलोकन के लिये पिछले अध्यायों में प्रमुख रचनाकारों तथा प्रमुख रचनाओं पर विचार किया जा चुका है। अतएव, इसी क्रम से प्रस्तुत अध्याय में विकास के विभिन्न आयामों के रूप में विवेच्य-कालीन ब्रजभाषा-कविता की प्रमुख विशेषताओं का निरीक्षण-परीक्षण स्वाभाविक ही होगा। देखना यह है कि उक्त रचनाकारों तथा उनकी रचनाओं के माध्यम से कौन-कौन विशेष प्रवृत्तियाँ तथा जीवन्त-धारायें इस काल की ब्रजभाषा-कविता में उपलब्ध हैं। कविता के दोनों पक्षों में इनकी उपस्थिति ही विकास-क्रम का यथार्थ आभास दे सकेगी। इसी कारण आधुनिक कविता के अंतरङ्ग की परीक्षा के लिये उसकी भाव-भूमि की व्यापकता, वर्ण्य-वस्तु का विस्तार, समसामयिक जीवन से उसकी समीपता परिवर्तित काव्यादर्शों के संदर्भ में उसमें उपलब्ध नूतनता का समावेश, प्राचीन परम्पराओं को ग्रहण करके भी उनके परिष्कार की स्वस्थ प्रवृत्ति, वादों के विवाद से अलग रहकर जन-निष्ठ काव्य-सृजन की प्रकृति आदि पर विचार करना अभीष्ट होगा। साथ ही वहिरङ्ग के सम्यक आलेखन के लिये भाषा की व्यंजना-शक्ति, लाक्षणिकता के समावेश, काव्य-रूपों के विस्तार और छन्दों के प्रयोग-वैविध्य की चर्चा आवश्यक होगी।

वस्तुतः, इन सभी विशेषताओं के आधार-भूत मापदण्डों के सहारे हमें यह जानने में सहायता मिलेगी कि आलोच्य-कालीन काव्य-धारा प्रगति के पथ की ओर उन्मुख है, अथवा युग के साथ-साथ आगे बढ़ने में असमर्थ है, या फिर जहाँ सम-सामयिक युग आगे बढ़ रहा है, वहाँ वह हमें पीछे की ओर ढकेल रही है। सजीव कविता पुराना परम्पराओं के साथ युगानुरूप नवीन प्रयोगों को अपनाती चलती है, आदर्श के साथ यथार्थ का समुचित संतुलन करती हुई आगे बढ़ती है, अपने अंतरङ्ग और बहिरङ्ग में उचित सामंजस्य का प्रदर्शन करती हुई साहित्यिक उत्कृष्टता का उदाहरण प्रस्तुत करती है, और उन्नत तथा लोक-प्रिय भाषाओं से भाव तथा कला-दोनों ही पक्षों में समुचित आदान-प्रदान करती हुई संकीर्णता को त्याग कर व्यापकता का परिचय देती है। प्रस्तुत अध्याय में इन्हीं कतिपय दृष्टिकोणों को लेकर विक्रम की बीसवीं शताब्दी अर्थात हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में ब्रजभाषा-कविता के विकास के विभिन्न आयामों पर विचार किया जायगा।

काव्यादर्श में परिवर्तन

काव्यादर्श को लेकर संस्कृत के प्राचीन आचार्यों और कवियों ने परियाप्त विचार किया है। काव्य-रचना के प्रेरणात्मक रहस्य का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचन करके उन्होंने अनेक अनूठे सत्यों का उद्घाटन किया है तथा आनन्द और कीर्ति को काव्य-रचना का प्रयोजन बताने में वे प्रायः एकमत रहे हैं। स्थूल रूप से काव्यादर्श के तीन अङ्ग हैं। प्रथम उद्देश्य सम्बन्धी, द्वितीय विषय सम्बन्धी और तृतीय शैली सम्बन्धी आदर्श। परिवर्तित परिस्थितियों में वैसे तो तीनों ही प्रकार के आदर्शों में परिवर्तन होना अपरिहार्य होता है पर उद्देश्य सम्बन्धी आदर्शों में परिवर्तन का सबसे अधिक महत्व है। जहाँ इस प्रकार का परिवर्तन हुआ अन्य दोनों प्रकार के परिवर्तन स्वयमेव ही समाविष्ट हो जाते हैं।

वस्तुतः, आदर्शों का निर्माण सदा यथार्थ की भूमि पर ही होता है, जिसके परिणामस्वरूप साहित्य क्षेत्र में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार कवियों तथा रचनाकारों के आदर्श भी बदला करते हैं। उदाहरण के लिए वीरगाथा-कालीन परिस्थितियों ने जिस प्रकार की रचनाओं को जन्म दिया, निश्चय ही वे उन भक्ति कालीन रचनाओं से भिन्न थीं जिनका निर्माण नितान्त भिन्न परिस्थितियों में हुआ था। कारण स्पष्ट है कि आदर्श, कोरी कल्पना की प्रसूति न होकर समसामयिक वातावरण के अनुसार ही बनते बिगड़ते रहते हैं। यद्यपि इस नियम के अपवाद स्वरूप कभी–कभी ऐसे रचनाकार भी उत्पन्न हो जाते हैं जो परिस्थितियों से संघर्ष कर उन्हें अपने अनुकूल बना डालते हैं। पर ऐसे कवि बिरले ही होते हैं और साहित्य का इतिहास उन्हें युगान्तरकारी कवि या साहित्यकार के रूप में स्मरण करता है। भूषण, 'रत्नाकर', 'निराला' आदि इसी प्रकार के साहित्यकार हैं। पर बहु-संख्यक कवि समसामयिक युग के अनुरूप ही अपने काव्यादर्श निश्चित करके तदनुकूल ही रचनाएें करते हैं।

जहाँ तक आधुनिक काल के ब्रजभाषा कवियों का सम्बन्ध है, इस काल के आरम्भिक वर्षो के कविगण मुख्यतः रीतिकालीन आदर्शों से प्रभावित थे। आधुनिक युग के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व के ब्रजभाषा कवियों में रीतिकालीन छाया इतनी स्पष्ट थी कि साहित्य के विद्यार्थी को सहसा यह संकोच लगने लगता है कि वह उन्हें आधुनिक युग के कवियों में परिगणित करे भी अथवा नहीं। उदाहरण के लिए सरदार, सेवक, द्विज (मन्नालाल), राजा रघुराजसिंह, लछिराम ब्रह्म भट्ट, गिरिधरदास आदि की कृतियों में परिपाटी विहित लक्षण ग्रन्थों की रचना के अप्रौढ़ लक्षण के उदाहरण के रूप में जो कविता लिखी जाती थी, वह कवि-हृदय की अनुभूति आकुलता के कारण कम परन्तु आचार्यत्व के प्रदर्शन के लिए ही अधिक लिखी जाती थी। राधा और कृष्ण को माध्यम बनाकर द्विविधि शृंगार की उदाहरणात्मक परिपाटी का अनुकरण ही मुख्य हो चला था और नायिका-भेद, नखशिख, बारहमासा,

समस्यापूर्ति आदि के संकीर्ण क्षेत्र में ही उपमानो और उपमेयों के रूढिगत प्रयोगों की योजना करके कवि-कर्म की इतिश्री समझी जाती थी। इस प्रकार भाषा का बन्धन, छन्दों का बन्धन और परम्पराओं का बन्धन काव्य के सुकुमार कलेवर को जकड़ता जा रहा था। कारण भी स्पष्ट था कि इन कवियों का संसर्ग मुख्यतः आश्रयदाता राजाओं और राज्यसभाओं से ही था। जहां उनका रचनोद्देश्य मुख्यतः अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना और अपने साथी दरबारियों पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाना था। इस प्रकार काव्य-रचना स्वान्तःसुखाय के स्थान पर स्वामिनःसुखाय होने लगी थी और आंशिक रूप से इसी के साथ पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी सन्निहित थी। विषयों के विस्तार के स्थान पर कुछ गिने चुने विषयों को लेकर ही हाथ की सफाई, कलम की कारीगरी और बात की करामात दिखाई जा रही थी, जिसके फलस्वरूप, जनसामान्य की वेदना और पीड़ा, प्रजा का प्रेम और उसका शोक, लोक की वीरता और विभीषिका की पुकार इन कवियों को रंचमात्र प्रभावित न कर पाई थी। पर विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आते आते देश का भाग्य सूत्र कुछ ऐसे लोगों के हाथ में आया जिनका जीवन और जगत सम्बन्धी दृष्टिकोण हमसे बिल्कुल भिन्न था। मुसलमानों के साम्राज्य के क्षीण होते ही शक्ति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में आई और पश्चिम के ज्ञान विज्ञान, नीति आचार आदि से उत्तरोत्तर परिचित होने के फलस्वरूप नवीन प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक जागृति धीरे-धीरे फैलने लगी। अतः भारतेन्दु युग में युग-जर्जर, रूढिग्रस्त और निर्जीव आदर्शों का क्रमशः त्याग अनिवार्य हो गया। १८५७ ई० के सिपाही विद्रोह ने आदर्शों की परिवर्तनावस्था को और अधिक बल दिया। स्थूल दृष्टि रखने वाले इतिहासकार भले ही इस विद्रोह को विफल घोषित करें पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इस घटना तथा सके पश्चात की परिस्थितियों ने देश का नक्शा ही बदल दिया। हिन्दी भाषा भाषी प्रदेश ही मुख्यतः इस विद्रोह का केन्द्र था अतः इस युगान्तरकारी घटना का प्रभाव वहां के निवासियों पर पड़ना अपरिहार्य था। कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश सरकार के हाथ में राज्यसत्ता जाते ही देश में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। शिक्षा के प्रचार तथा प्रसार, मुद्रण-यन्त्र के प्रचलन, समाचार पत्रों के प्रकाशन तथा अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सम्पर्क ने जन-जीवन के दृष्टिकोण में विचित्र परिवर्तन ला खड़ा किया। जब जन साधारण की यह दशा थी तो समाज के अपेक्षाकृत अधिक जागरूक वर्ग, साहित्यकारों के दृष्टिकोण में और अधिक परिवर्तन अवश्यम्भावी था। स्थान-स्थान पर कवि मण्डलों की स्थापना ने कवियों को जन साधारण के सम्पर्क में ला दिया और इस प्रकार उस समय का कवि अपने को कोरा राज्य या धर्म के आश्रित प्राणी न समझकर, अन्य लोगों की भांति व्यवहारिक व्यक्ति बन गया था। उसकी कविता भी दरबारों के संकीर्ण

घेरे से बाहर निकलकर जन-जीवन के धरातल पर पैर जमाने लगी थी। इस प्रकार एक ओर कविगण अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख, आशा-निराशा को कविता में व्यक्त करने लगे थे और दूसरी ओर समसामयिक जन-जीवन की अभिव्यक्ति के लिए अपने उत्तरदायित्वों को अनुभव करने लगे थे। परिणाम यह हुआ कि जहां इस समय की कविता में लोकहित की भावना का समावेश उत्तरोत्तर अधिक होता गया वहीं कवि की व्यक्तिगत सत्ता भी उपेक्षित न रह सकी। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों क्षेत्रों को आत्मसात कर जो रचना हमारे सम्मुख आई वह निश्चय ही अपेक्षाकृत विस्तृत परिधि को समेटे थी। इस प्रकार इस समय का कवि जन-जीवन के इतने अधिक समीप आगया था कि यहां उसे काव्य-विषयों का इतना व्यापक प्रसार दिखाई पड़ा कि एक क्षण के लिए वह परिवर्तित परिस्थिति और बदले हुए काव्यादर्शों पर विस्मित रह गया। कहां तो राज दरबारों की सीमित दुनिया और राज्याश्रिति कवियों का संकुचित कल्पना लोक और कहां जन साधारण का यह अकूल, अपार ससार और वास्तविकता की विशद-व्यापक धरती। दोनों में भयंकर वैषम्य था। आरम्भ में तो परिवर्तन की यह प्रक्रिया तीव्रता से हुई, पर आगे चलकर अनुभव के आधार पर इसकी गति कुछ मन्द होगई और भारतेन्दुयुग के साहित्यकारों ने समन्वय का मार्ग ग्रहण किया। भारतेन्दु युग, वस्तुतः, सांस्कृतिक पुनर्जागरण, सामाजिक सुधारों और राजनीतिक परिवर्तनों का युग था। जिसके फलस्वरूप एक ओर तो आदर्शवाद का स्वर ऊँचा उठा और दूसरी ओर देश की समसामयिक स्थिति के अवलोकन से यथार्थवाद की स्वरलहरी मुखरित हुई।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि इस युग का कवि आदर्श और यथार्थ, नूतन और पुरातन, प्राच्य और पाश्चात्य के द्वन्द्व में निरत हो गया। उसकी दुविधा यह थी कि एक ओर तो वह लौकिक जीवन की वासनाओं और कामनाओं तथा राष्ट्रीय, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं की जटिलता में ग्रस्त रहा और दूसरी ओर आध्यात्म, पारलौकिकता व धर्मनिष्ठा में उलझा रहा। इस युग के समस्त काव्य साहित्य में यही द्विविध प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। स्वयं भारतेन्दु एक ओर तो राधा और कृष्ण के कीर्तिगायन में विमुग्ध दिखाई पड़ते हैं और दूसरी ओर वे पाखण्डी तथा आडम्बर रचने वाले पण्डे-पुजारियों की खिल्ली उड़ाते हैं। पर यह स्थिति अधिक दिनों तक न रही। कालान्तर में दुविधा की दशा समाप्त हो गई और साहित्यकार के सामने उसका आदर्श बहुत स्पष्ट और निश्चित रूप में मूर्त हो गया। अब वह देवी-देवताओं, महापुरुषों, राजा-राजकुमारों के अतिरिक्त अकाल और टैक्स से पीड़ित जनता को भी अपनी सहानुभूति प्रदान करने लगा। यही नहीं, अब वह इहलौकिक जीवन को सर्वस्व मानकर साहित्य क्षेत्र में सृजन-रत हो गया। पर समसामयिक जीवन कुछ ऐसा था कि उसमें रंगीनियों की अपेक्षा मलिनता, कदर्य और

घूसरता ही अधिक थी अतः वह इन्हीं के चित्रण को अपेक्षाकृत अधिक महत्व देने लगा। अतीत में उसका चिन्तन कल्पना-लोक तक सीमित था पर अब वह आंखें खोलकर जीवन और जगत को देखने लग गया था और ऐसा करते समय उसकी आंखों पर दूसरों के अनुभव का नहीं स्वय अपनी अनुभूति का चश्मा था।

उत्तर-भारतेन्दु युग में परिस्थितियों ने पुनः पलटा खाया। यथार्थवाद का स्वर अपेक्षाकृत क्षीण पड़ गया और आदर्शवाद की स्वरलहरी अधिक मुखरता के साथ ध्वनित होने लगी, जिसके फलस्वरूप कविता के क्षेत्र में इतिवृत्तात्मकता और उपदेशमयता की बाढ़ सी आगई। एक क्षण के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा मानो साहित्य और विशेषकर कविता में सुन्दरम् का दृष्टिकोण लुप्त ही हो जायेगा और उसके स्थान पर कोरे शिवम् और उसमें भी नीरस और शुष्क उपदेश भावना का प्राधान्य हो जाएगा। आर्य समाज के आन्दोलन के फलस्वरूप कुछ कवितायें तो ऐसी रची गईं जिनमें कोरे उपदेश के अतिरिक्त और कोई काव्य-तत्व न था। पर परिस्थितियां पुनः बदलीं और कवियों में बढ़ती हुई राजनैतिक जागृति तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की भावना ने स्वछन्दतावाद को जन्म दिया। परिणाम यह हुआ कि भाव, भाषा, शैली आदि सभी क्षेत्रों में स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को बल मिला। साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में हरिऔध[1], भाव के क्षेत्र में रामेश्वर 'करुण'[2] तथा किशोरीदास बाजपेयी[3] और शैली के क्षेत्र में रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'[4] तथा उमाशंकर बाजपेयी 'उमेश'[5] के प्रयत्न परिवर्तित काव्यादर्श के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। शबरी[6], दैत्यवंश और रावण[7] आदि पर रचित काव्य ग्रन्थ भी परिवर्तित दृष्टिकोण के प्रतीक हैं।

यहां यह उल्लेख कर देना उचित ही होगा कि ब्रजभाषा कविता के क्षेत्र में काव्यादर्श में परिवर्तन की यह प्रक्रिया खड़ी बोली की अपेक्षा मन्थर और अलसचरण रही है। फिर भी काव्यादर्शों में परिवर्तन का व्यापक प्रभाव आलोच्य युग के काव्य साहित्य पर पड़ना अनिवार्य ही था और उसी का प्रभाव था कि आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य पुरातन संस्कारों के प्रति आस्था रखता हुआ भी अपने नव्य और नूतन स्वरूप में अत्यन्त भव्य तथा प्रगतिशील है।

जीवन के अधिक समीपता

साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अविच्छिन्न है, दोनों अन्योन्याश्रित हैं, और दोनों का उत्कर्ष पारस्परिक नैकट्य में सन्निहित है। जहां सामीप्य का सूत्र टूटा कि अपकर्ष की स्थिति आ घेरती है। इसी कारण जिस युग के कवि और साहित्यकार समसामयिक जीवन के चित्रण को भुला बैठते हैं, उस युग का साहित्य निष्प्राण हो जाता है। रीतिकालीन कवियों पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि वे जन-जीवन से बहुत दूर जा पड़े थे। आश्रयदाताओं

---

[1]रसकलस [2]करुण सतसई [3]तरंगिणी [4]सौरभ [5]ब्रजभारती [6]वचनेश [7]हरदयालु सिंह

की मनस्तुष्टि ही उनकी रचनाओं की एक मात्र सिद्धि थी और इस प्रकार इस काल के कवियों का देश के सामान्य जीवन से कोई सम्पर्क न रह गया था[1]। साहित्यिक रूढ़ियों के अन्धानुकरण कर्ता के रूप में वे कोरी कल्पना की दुनियां में विचरण करते थे और पूर्ववर्ती कवियों तथा आचार्यों के चश्मे से जीवन को देखने के अभ्यस्त हो गये थे। पर विक्रम की १९ वीं शताब्दी की समाप्ति तक आते-आते परिवर्तित राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में कवियों का उक्त दृष्टिकोण शनैः शनैः बदलने लगा। विगत जीवन की विघ्न बाधा विहीन शान्ति अब छिन्न-भिन्न हो उठी थी। कहना न होगा कि सामन्तयुगीन निस्पन्द जीवन की अलस-धारा धीरे-धीरे गतिमति होने लगी थी और उसकी यह मांग हो चली थी कि कवि-गण परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति जागरूक रहें। ऐसी दशा में जीवन को अधिक समीप से देखना, सुनना तथा परखना अपरिहार्य हो गया था। वह काव्य जो जन-जीवन से कुछ दिनों के लिए विलग हो गया था, अब पुनः उससे संलग्न हो गया[2]।

जीवन के प्रति विरक्ति और उदासीनता की भावना जो बहुत दिनों तक भारतीय साहित्य की मूल-स्वर रही थी, परिवर्तन के कशाघात से छिन्न-भिन्न होने को विवश हो गई थी। परिणामतः अब कवियों में धर्म-साधना, अध्यात्म, परलोक-चिन्तन एवं वैराग्य के प्रति बहुत कम रुझान रह गया था। वे पहले तो परिस्थितियों से विवश होकर जीवन में रस लेने को बाध्य हुए पर बाद में जीवनरस के कटु तथा मधुर घूंटों को पीते-पीते उसमें स्वयमेव सहज आनन्द पाने लगे। ऐसी स्थिति में जीवन के अधिक समीप आना अनिवार्य था। वस्तु स्थिति यह थी कि उस समय का जीवन आशा की अपेक्षा निराशा, रंगीनियों की अपेक्षा मलिनता, शौर्य के स्थान पर कदर्य तथा राजनीतिक और सामाजिक सुरक्षा-जन्य सरलता के स्थान पर जटिलता से ही आक्रान्त था। परिवर्तित दृष्टिकोण के परिणाम-स्वरूप इस युग के कवियों की दृष्टि में लौकिक जीवन की वासनायें एवं कामनायें तथा राष्ट्रीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की अगणित समस्यायें अलौकिक एवं अध्यात्म की अपेक्षा अधिक सत्य और सुग्राह्य प्रतीत होने लगीं[3]। इस प्रकार जीवन को उसके वास्तविक रूप में, जिसमें कुरूपता ही अधिक थी, देखने के फलस्वरूप इन कवियों में परम्पराओं को बाबावाक्यप्रमाणं के रूपमें स्वीकार न करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। भारतेन्दु काल से आरम्भ होकर द्विवेदी युग तक तथा उसके बाद की ब्रजभाषा कविता में जीवन के अधिकाधिक समीप जाने की प्रवृत्ति क्रमशः फलित और पुष्पित होती रही

[1]आधुनिक काव्यधारा (डा० केशरीनारायण शुक्ल) प्रथम संस्करण, पृष्ठ ११.

[2]भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) पृ० सं०—पृष्ठ ३२७

[3]हिन्दी कवियों का काव्यादर्श (सम्पादक प्रेमनारायण टण्डन) में प्रो० जगन्नाथ मिश्र द्वारा लिखित—'आधुनिक काव्यादर्श' नामक लेख—पृष्ठ १२२।

है। कहना न होगा कि खड़ी बोली कविता में जो यथार्थवादी पुट छायावादोत्तर प्रगतिवादी युग की रचनाओं में उपलब्ध है, ब्रजभाषा-कविता में उस यथार्थवादिता के अंकुर ६०-७० वर्ष पूर्व ही फूटने लगे थे। वस्तुतः हिन्दी कविता में भारतेन्दु ने सर्व प्रथम जीवन की धड़कन को सुना और उनके अनुकरण स्वरूप आर्थिक जीवन में मंहगी और अकाल, टेक्स और धन का विदेश प्रवाह, धार्मिक क्षेत्र में पूजा और मत-मतान्तर के झगड़े, सामाजिक क्षेत्र में जाति-पांति के टण्टे, खान-पान के पचड़े और नैतिक क्षेत्र में पारस्परिक कलह और विरोध, उद्यम-हीनता और आलस्य, भाषा, भूषा और भेष की विस्मृत बाल-विवाह, तथा राजनीतिक क्षेत्र में पराधीनता और दास्ता, जीवन के ये विभिन्न स्वर समसामयिक साहित्य की वेणु से प्रसूत होने लगे।[1] उदाहरण के लिए भारतेन्दु, प्रेमधन तथा प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में ये स्वर अधिक मुखर हैं:—

जागो जागो रे भाई
सोअत निसि बैस गंवाई। जागो जागो रे भाई।
+ + +
देखि परत नहि हित अनहित कछु परे बैरि बस आई
निज उद्धार पन्थ नहि सूझत सीस धुनत पछिताई। (भारतेन्दु)

अब नहीं यहाँ खाने भर को भी जुरता,
नहिं सिर पर टोपी नहीं बदन पर कुरता,
है कभी न इसमें आधा चावल चुरता,
नहि साग मिलै नहि कन्द मूल का भुरता। (प्रेमधन)

तब लखि हौं जहं रह्यो एक दिन कंचन बरसत
तहं चौथाई जन रूखी रोटिहु कहं तरसत
जहं आमन की गुठली अरु बिरछन की छालैं
ज्वार-चून मंह मेलि लोग परिवारहिं पालैं,
नोंन तेल लकरी घासहु पर टिक्स लगै जहं,
चना चिरौंजी मोल मिलै जहं दीन प्रजा कह।(प्रतापनारायण मिश्र)

'प्रसाद' जी के शब्दों में भारतेन्दु हिन्दी के पहले यथार्थवादी हैं।[2] इस

---

[1]हिन्दी कविता में युगान्तर (डा० सुधीन्द्र) प्रथम स० पृष्ठ ६०

[2] 'श्री हरिश्चन्द्र ने राष्ट्रीय वेदना के साथ ही जीवन के यथार्थ रूप का चित्रण आरम्भ किया था। 'प्रेमयोगिनी' हिन्दी में इस ढंग का पहला प्रयास है और 'देखी तुमरी कासी' वाली कविता को भी मैं इसी श्रेणी की समझता हूं। प्रतीक-विधान चाहे दुर्बल रहा हो परन्तु जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयत्न हिन्दी में उसी समय प्रारम्भ हुआ था"—काव्य-कला और अन्य निबन्ध, पृ० ११६

प्रकार यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि इसी युग में प्रथम बार देवी-देवताओं, महापुरुषों, अवतारों राजा-राजकुमारों के अतिरिक्त साधारण जन-जीवन की कटुताओं की ओर भी कवियों की दृष्टि गई है।

भारतेन्दु युग के पश्चात् उत्तर भारतेन्दु युग में जीवन से यह समीपता और अधिक बढ़ी। यह युग वस्तुतः सुधारवादी युग था। आर्य समाज के बढ़ते हुए प्रभाव तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के फलस्वरूप इस युग के कवियों का प्रमुख वर्ण्य-विषय समसामयिक जीवन ही था। यद्यपि ऐसा करने में कहीं-कहीं कोरे उपदेश की ध्वनि सुनाई देने पड़ती है, पर यह प्रवृत्ति मुख्यतः ऐसे कवियों में ही पाई जाती है, जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध आर्य समाज अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन से था। उदाहरण के लिए नाथूराम 'शङ्कर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', माधव शुक्ल आदि की रचनाओं में यत्र-तत्र शुष्क उपदेश की गन्ध आती है पर ऐसी कवितायें मात्रा की दृष्टि से अधिक नहीं हैं। पण्डित श्रीधर पाठक, आयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'वचनेश', सत्यनारायण, वियोगीहरि, दुलारेलाल भार्गव तथा उमाशंकर बाजपेयी 'उमेश' की कविताओं में जीवन और जगत की प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर जो मार्मिकता उपलब्ध है वह पाठकों के मन को सहज ही प्रभावित करती है। यथा

छन-छन छीजत न देखहिं समाज-तन,
हेरहिं न विधवा छ्टूक होत छतियान।
जाति को पतन अवलोकहिं न आकुल ह्वै,
भूलि न विलोकहिं कलङ्की होत कुल-मान।
'हरिऔध' छिनकु लखहिं न सलोने लाल,
लुटत निहारहिं न लोनी-लोनी ललनान।
खोले कछु खुलीं पै कहां हैं ठीक-ठीक खुलीं।
अध खुलीं अजहुं हैं हमारी खुली अंखियान। शोक (हरिऔध)

और आज के स्त्रैण नवयुवकों का एक व्ययंग्यपूर्ण चित्र इस प्रकार है।

बादि दिखावति खोलि इत, तुपक तीर, तरवार।
सुरमा-मीसी के जहां बसत बिसाहन हार ॥
कवच कहा ये धारि हैं लचकीले मृदु-गात।
सुमन-हार के भार ते तीन-तीन बल खात ॥ (वियोगी हरि)

यही नहीं, विदेशी राज सत्ता से अप्रभावित कवि उसे इस प्रकार चुनौती देता है।

जाहिर जहान में है कुटिल कुचाल तेरी।
मित्र ह्वै करत जैसी करनी अरीन की ॥

पच्छिम को सूर धूरि देखहि का लाल ह्वै कै।
अब महमान तू तो चन्द ही घरीन को ।। (अम्बिकेश)

इतिहास प्रसिद्ध कवियों को छोड़कर यदि हम साधारण और उपेक्षाकृत अल्प-ज्ञात तथा स्वल्प-परिचित कवियों की ओर मुड़ें तो यह स्वर और अधिक मुखर मिलेगा। उदाहरणार्थ—

आयो विकराल काल भारी है अकाल परयौ,
पूरो नहीं खर्च घर भर की कमाई कौन भांति दैवे टैक्स,
इनकम लैसन औ पानी की पियाई लैटरन की सफाई में।
कैसे हैल्थ साहित्र की बात कछु कान परे,
पडे न सुशील भूमि पौढ़ै चारपाई मैं।
किमि कै बचावैं स्वांस और कौन ओर घुसैं,
सोवैं साथ चार–चार एक ही रजाई में।।

(बाबू पन्नलाल वर्मा[1])

जीवन और जगत को खुली आंखों देखने की यह प्रवृत्ति वर्तमान ब्रजभाषा कविता में इस सीमा तक पाई जाती है कि प्राचीनकाल से चली आने वाली विभिन्न साहित्यिक परम्पराओं जैसे— ऋतु-वर्णन, समस्यापूर्ति, भ्रमरगीत प्रसंग, नायिका भेद आदि को भी इस रङ्ग में रङ्गकर प्रस्तुत किया गया है। यथा—

पैन्हि के स्वेत तगा को झगा, नितही फिरे नाचती हाट बजारन।
कारी कुरूप कुजाति महा, तऊ मोहती नीके हजार जवानन।।
जानती है कछु जादू भलो, किधौं याहू में है सखि और ही कारन।
या नठिहाई नई तकुली को करै तबहूं सदा प्रीतम धारन।।

(महादेव प्रसाद अग्निहोत्री)

पढ़ीन आखर एक, ज्ञान सपने ना पायो,
दूध-दही चारन में सबरो जनम गंवायो।
मात-पिता बैरी भये, शिक्षा दई न मोहि,
सबरे दिन यों ही गये, कहा कहे तो होहि।।
मनहि मन में रही।

भ्रमर दूत (सत्यनारायण कविरत्न)

बहुधौस सों अन्न भयो मंहगो, मिलै दूने औ चौगुने दामन में।
पढिवौ, लिखिबो गयो छूटि सबै, लगे पेट के हेतु जु धामन में।।

[1] आधुनिक हिन्दी साहित्य (डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय) संशो० एवं परि० सं० में पृष्ठ ३४१ पर उधृत।

बरसौ बहु अन्न बढ़ै धरनी तौ लगैं सुख सौं तुव पामन में।
सब भारत आरत ह्वै बिनवै, धुरवान की धावन सामन में॥
रतनेश (रसिक बाटिका, पहली क्यारी)

इस प्रकार जीवन और जगत को माध्यम बनाकर काव्य रचना करते समय ब्रजभाषा कवियों ने किन-किन नवीन विषयों को अपनी कविता में ग्रहण किया यह अगले उप-प्रकरण में वर्णित किया जायेगा।

विषय विस्तार हिन्दी साहित्य के आरम्भिक तीनों काल मुख्य रूप से विषय संकोच के काल रहे हैं। उनमें जीवन की विविधता के अपेक्षाकृत कम दर्शन होते हैं। यद्यपि यह सत्य है कि उनमें प्रतिपाद्य विषय को लेकर गहराई तक जाने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है पर विषयों के विस्तार की ओर उनका कम ध्यान गया है। कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य के विगत तीनों कालों को क्रमशः वीरगाथा काल, भक्तिकाल और रीतिकाल की संज्ञा देना ही इस विषय-संकोच का द्योतक है। अन्यथा रस विशेष या प्रवृत्ति विशेष के ऊपर नामकरण न करके केवल कालक्रमानुसार नाम रख दिये जाते। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उक्त युगों के विपरीत आधुनिक काल में इतना विषय-विस्तार हो गया कि उसका नामकरण किसी एक रस या प्रवृत्ति विशेष के नाम पर नहीं हो सका। यह सत्य है कि संघर्ष-संकुल आधुनिक काल की अपेक्षा उन तीनों कालों में जीवन अधिक शान्तिपूर्ण, निस्पन्द और व्यवस्थित था, जिसके फलस्वरूप कवियों और साहित्यकारों की दृष्टि विषय-वैविध्य की ओर न जाकर केवल गिने चुने विषयों तक सीमित रही। पर रीति काल में आकर तो वह बहुत संकीर्ण हो गई। रीतिकालीन कविता के लगभग सभी समीक्षकों-पं० रामचन्द्र शुक्ल[1], डा० श्यामसुन्दर दास[2], डा० केशरी नारायण शुक्ल[3], डा० गुलाबराय, डा० नगेन्द्र आदि को उस से यह शिकायत रही है कि वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित-सी हो गई है। इसी कारण उस युग के रीति-बद्ध और रीति मुक्त कवियों को रचना के लिए नये-नये विषय न मिल सके। वस्तुतः रीतिकाल के अधिकांश कवियों को बंधी हुई लीक पर चलना पड़ा और उन्हें अपनी ही बनाई सीमा में जकड़ जाना पड़ा। पर विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आते-आते और मुख्य रूप से उसके दूसरे दशक में विषय-संकोच की यह दशा बदली और कविगण नये-नये विषयों की ओर उन्मुख हुए। बदली हुई राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के परिपार्श्व में बहुमुखी जीवन को निरखने और परखने के प्रयत्न में

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास-संशो०और परि०छं० दसवां सं० पृष्ठ २३७
2 हिन्दी भाषा और साहित्य-प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३६
3 आधुनिक काव्य-धारा-द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ १०

लीन इस युग के कवियों को अपनी रचनाओं के लिए नये-नये विषय ढूंढने के हेतु साहित्य शास्त्र के पन्ने नहीं पलटने पड़े, अपितु वे उन्हें व्यापक जीवन रूपी पुस्तक में ही अनायास मिलते गये। विषयों की इस अनेकरूपता में—सबसे ऊंचा स्वर देश-भक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाज-सुधार, मातृ-भाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नये विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए। रीतिकाल के कवियों की दृष्टि में हास्यरस के आलम्बन कंजूस ही चले आते थे। पर साहित्य के इस नये युग के प्रारम्भ से ही कई प्रकार के नये आलम्बन सामने आने लगे—जैसे पुरानी लकीर के फकीर, नये फैशन के गुलाम, नोच-खसोट करने वाले अदालती अमले, मूर्ख और खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देश-भक्त इत्यादि। इस प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्म-भूमि के उद्धार के लिए रक्त बहाने वाले, अन्याय और अत्याचार का दमन करने वाले इतिहास-प्रसिद्ध वीर होने लगे[1]। राम, कृष्ण आदि पौराणिक महापुरुषों की जीवन-गाथायें तो वीरगाथा काल से ही कविता की विषय-वस्तु बनती आरही थीं पर अब उनके अतिरिक्त समाचार पत्रों के द्वारा ज्ञात देश-विदेश के विभिन्न भागों में घटने वाली महत्वपूर्ण घटनायें भी कविता की वर्ण्य-वस्तु बनने लगीं। उदाहरण के लिए—प्रिन्स आफ वेल्स (पीछे सम्राट सप्तम एडवर्ड) का आगमन तथा उनका राज्याभिषेक, महारानी विक्टोरिया की हीरक-जुबली तथा उनका निधन, मिश्र पर भारतीय सेना द्वारा ब्रिटिश सरकार की विजय, दादा भाई नौरोजी का पार्लियामेंट का सदस्य चुना जाना, हिन्दी का कचहरी प्रवेश, भारतेन्दु का स्वास्थ्य लाभ तथा उनका देहावसान, दयानन्द सरस्वती की मृत्यु, कांग्रेस के विविध अधिवेशन-आदि विषयों को काव्य-बद्ध किया गया। यथाः—

आनन्द सों बौरी प्रजा, धाए मधुप-समाज।
मन-मयूर हरखित भए, राज कुंवर-रितुराज॥

(युवराज के काशी पधारने पर भारतेन्दु द्वारा सं० १९२६ में रचित)

———

कारे काम, राम, जलधर जल बरसन वारे
कारे लागत ताहीसन कारन को प्यारे।
तासो कारे ह्वै तुम लागत औरहु प्यारे,
याते नीको है तुम कारे जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुम कंह, मिलि हम सब कारे,
सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुम्हारे।

(दादा भाई नौरोजी के पार्लियामेंट में चुने जाने के अवसर पर प्रेमधन द्वारा 'मंगलाशा' शीर्षक कविता)

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (पं० रामचन्द्र शुक्ल) संशो० पांर० दसवां सं० पृ० ५८८

बांधि जवाहर की गठरी हरिचन्द जू हाय हेराय गयो है

(अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध' द्वारा भारतेन्दु के निधन पर लिखित)

कालान्तर में शिक्षा प्रचार के फलस्वरूप और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार द्वारा विषयों की यह परिधि विस्तृत से विस्तृततर होती चली गई और उत्तर भारतेन्दु युग तक पहुंचते-पहुंचते तो साइकिल, रेल, मोटर, हवाई जहाज, अहिंसा, सत्याग्रह, तकली, राष्ट्रीय झण्डा, गांधी, तिलक, किसान, मज़दूर, गो, गंगा, गीता, गायत्री आदि ही क्या रुमाल, प्रदर्शनी, कचहरी, चपरासी, सरकारी अहलकार, वकील, चाय, हौकी का खेल, मेंहदी, मूंछ आदि दैनिक जीवन के साधारण से साधारण पदार्थ भी कविता के विषय बन गए। देशी नरेशों की विलासिता, महाजनों की निर्दयता, किसानों की करुण दशा, ज़मीदारों के अत्याचार, आलोचकों की छिद्रान्वेषी प्रकृति तथा कवियों का कोरी कल्पना के गीत गाना-आदि विषय भी साहित्यकारों की दृष्टि से उपेक्षित न रह सके। यहाँ तक कि इन्जकशन, बिजली, रेडियो और पावर हाउस जैसे नीरस वैज्ञानिक विषय भी काव्य की सरसता का संस्पर्श पाकर धन्य हो उठे। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण यों हैं—

मोटर : अति प्रबला अति चंचला, सदा नेह आधार।
चक्रपाणि अनुगामिनी, रमा कि मोटर कार ।। (भगवानदीन 'दीन')

रेल : रेल की सवारी ते सवारी सब हारी परीं,
मारी परी सेखी सब इन्द्र के विमान की।

आंधी की है दादी और नानी है भमूरे की ये,
भूआ कलानन्द की, बहिन बड़े भान की।

गाड़ी, रथ, घोड़ा, ऊंट, डांकऊ परी है झूठ,
'ग्वाल' कवि कहैं जै है मौसी हनुमान की।

पानी की पियासी और ज्वाला की सरीखनी है,
धनकी है दाता, जे है माया भगवान की ।। (ग्वाल)

वकील : पढ़न समय मासिक खरच सो नहिं सकत कमाय।
हाथ लिये कागज खबर, रहि जाते मुंह बाय ।।
(दामोदर सहाय 'कविकिंकर')

पटवारी : खेती वारी पट्ट सब क्रुद्ध भये करि देत।
अहै जगत में ख्यात ये, पटवारी यहि हेत ।। (अबोध मिश्र)

आलोचक : आलोचक कविता करै, तौ यह समुझौ भूल।
माली में है कब लगे, कहु गुलाब के फूल ।। (किशोरीदास वाजपेयी)

चाय : गरमी में सीतल सुखद, गरम सीत रितु मांह ।
सो स्यामारस दायिनी, धनि लिपटन की चाह ।। (किशोरीदास बाजपेयी)

बहुमत : छन में गज को खर करै, खर कौं गज सुख भौन ।
सो है बहुमत अमित बल, ब्रह्म बापुरो कौन ।। (किशोरीदास बाजपेयी)

पावर हाउस : एक जोति जग जगमगै, जीव जीव के जीय ।
बिजुरी बिजुरी घर निकसि ज्यों जारति पुर-दीय ।।
(दुलारे लाल भार्गव)

इन्जेक्शन : गुरुजन के कटु बैंन, सूई हैं औषधि सुखद ।
छन भर को दुख दैन और बाद में स्वास्थ्यकर ।। (अज्ञात)

सत्तू : भाई है विमान को, किसानहूं की सान चोखी,
सतुआ सलोनो बड़ो हितुआ बटोही को ।। (भगवानदीन 'दीन')

कम्पोजीटर : पाण्डु बनाये पाण्डुलिपि, पेट गडाये दीठ ।
जोरहिं अक्षर कौन ये, नित्य नवाये पीठ ।। (रामेश्वर 'करुण')

कलियुगी साधु : धन को खटका नहिं रहै, रहै न रिन की चोट ।
देखि परै धमधूसरे, याही कारन मोट ।। (रामेश्वर 'करुण')

विषयों के इस विस्तार को मोटे तौर से चार-पांच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(एक) प्रकृति (दो) राष्ट्र (तीन) राजनीति (चार) साहित्य और भाषा (पांच) धर्म व पुराण (छै) विज्ञान ।

ब्रजभाषा कविता में उत्तर भारतेन्दु युग, जो खड़ी बोली में द्विवेदी युग का समसामयिक है, उपेक्षितों के उद्धार का युग कहा जाता है । खड़ी बोली में अनेक काव्यों की रचना करके राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा, विष्णुप्रिया आदि का साहित्यिक समुद्धार किया है । पर इस दिशा में ब्रजभाषा के कवि भी पीछे न रहे । उन्होंने इस समय से लगभग आधी शताब्दी पूर्व उपेक्षितों के उद्धार का साहित्यिक प्रयत्न प्रारम्भ किया । ग्वाल कृत 'कुविजाष्टक,' नवनीत चतुर्वेदी लिखित 'कुब्जापच्चीसी,' उजियारेलाल 'ललितेश' लिखित 'दशानन दिग्विजय'—इस परम्परा के प्राथमिक प्रयास हैं । तत्पश्चात वियोगी हरि द्वारा प्रणीत 'मन्दिर-प्रवेश,' वचनेश लिखित 'शवरी,' शिवरत्न शुक्ल 'सिरस' रचित 'भरत-भक्ति' और हरिदयालु सिंह लिखित 'रावण' और 'दैत्यवंश' इसी परम्परा की रचनाएं हैं ।

द्विवेदी युग के पश्चात् खड़ी बोली में छायावादी कविता का प्रादुर्भाव होता है । जिसमें वर्ण्य वस्तु की जो संकीर्णता तथा कुछ गिने चुने विषयों को लेकर ही विभिन्न कवियों द्वारा उनके पिष्ट पेषण की जो प्रवृत्ति पाई जाती है, उसने काव्य-

क्षेत्र को बहुत संकुचित परिधि में सीमित कर दिया था। पर इसी युग के ब्रजभाषा कवि वर्ण्य-विषयों की बहुलता का सम्बल लेकर साहित्य-यात्रा में प्रवृत्त हुए और जहां खड़ी बोली की अधिकांश छायावादी रचनाएं (कुछ अपवादों को छोड़कर) हृद-तन्त्री के तारों में ही उलझी रहीं, ब्रजभाषा कविता जीवन और जगत को अपने आंचल में समेट कर जीवन्त तथा प्राणवान बनी रही। आज का सामान्य ब्रजभाषा कवि, विगत युगों के विपरीत, अपनी रचना के लिए साहित्य शास्त्र का मुंह नहीं जोहता है। वह तो दैनिक जीवन से ग्रहण किए हुए चिर-परिचित विषयों पर अपनी प्रतिभा की पालिश कर उन्हें चमकाता रहता है। प्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में तथा लोक रुचि की उपेक्षा की शिकार रहकर भी आधुनिक ब्रजभाषा कविता ने अपने को समसामयिक जीवन से विलग नहीं रक्खा है और यह उसके विकास का विशिष्ट लक्षण है।

(इधर एक ब्रजभाषा कवि ने रूस के चन्द्रमा तक रोकेट-अभियान का भी अत्यन्त रोचक वर्णन किया है, जो इस प्रकार है) :—

सिंगारी कवि बन्धु चन्द्र की यात्रा कीजै,
ससि बदनिनि संग सुधा सोमरस सुख सों पीजै।
जनि रूसहु, विन रोक, रूस के राकेट बैठौ,
वेगि, सवेग सदेह कछुक छन मंह तहं पैठौ॥ (हृषीकेश चतुर्वेदी)

इससे पता चलता है कि ब्रजभाषा के आधुनिक कवि समय के साथ चलने में कितने जागरूक हैं और वे अपनी रचनाओं में समसामयिकता का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करते हैं।

प्राचीन परम्पराओं को लेकर उनमें समयानुकूल परिष्कार की प्रवृत्ति

प्रत्येक युग विगत से कुछ लेता और आगत को कुछ न कुछ देता है। आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है, भले ही विनिमय के इस उपक्रम में मात्रा का न्यूनाधिक अन्तर आ जाय। अधिक ग्रहण करने वाले युग को अनुन्नत और अधिक देने वाले को समुन्नत युग की संज्ञा दी जाती है। बहुत अधिक मात्रा में आगत को दे जाने वाले युग को ही स्वर्णयुग के नाम से पुकारा जाता है पर ऐसे युग किसी देश या जाति के इतिहास में बहुत कम होते हैं।

आधुनिक युग की ब्रजभाषा कविता के आरम्भिक दो दशकों में तो विगत अर्थात रीतिकाल का प्रभाव इतना व्यापक रहा कि संक्रांतिकालीन संधि-युग की सीमा रेखा पर स्थित इन वर्षों में कवियों ने किसी विशेष विदग्धता का परिचय नहीं दिया। पर सवत् १९२५ के आते-आते प्राचीनता के इस निर्मोक को त्याग कर नवीनता के स्वागत की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। प्राचीनता और नवीनता का

एक अद्‌भुत सम्मिश्रण सम्पूर्ण भारतेन्दु युग में परिव्याप्त दीखता है। उदाहरण के लिए अकेले भारतेन्दु के काव्य में ही पूर्ववर्ती साहित्य की सभी धाराओं का प्रतिनिधित्व उपलब्ध है।[1] पर जैसे-जैसे समय बीतता गया, प्राचीनता की मात्रा घटती गई और नूतनता का विस्तार होता गया। पर इस प्रक्रिया के अन्तर्गत जो प्रवृत्ति हमें सम्पूर्ण ब्रजभाषा कविता में अद्यावधि मिलती है, वह है प्राचीन परम्परा को ग्रहण करके उसमें युगानुकूल परिष्कार करने की प्रवृत्ति। वैसे तो यह भावना इतनी व्यापक है कि सम्पूर्ण काव्य क्षेत्र को अपने परिवेश में समेटे है फिर भी जिन प्रमुख परम्पराओं में इसके दर्शन होते हैं वे इस प्रकार हैं।

(अ) **सतसई परम्परा** – कविता की यह परिपाटी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई तथा ज्ञान, भक्ति, नीति, शृंगार आदि क्षेत्रों को आत्मसात् करती हुई रीतिकाल में बिहारीलाल तक आते-आते अपने चरम सौन्दर्य को प्राप्त हो गई थी। पर चरमोत्कर्ष के पश्चात् रीतिकाल के उत्तरार्ध में कविता की यह धारा उत्कृष्टता की दृष्टि से क्षीण-प्राय सी हो गई थी। कारण यह था कि बिहारी सतसई से बाद की रचनाओं[2] में अनुकरण की मात्रा इतनी अधिक हो गई थी कि कविता के भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में मौलिकता का अभाव खटकने लगा था।[3] पर परिवर्तित परिस्थितियों के साथ-साथ आधुनिक युग तक आते-आते नवीन विषयों, नूतन भावों और नए ढङ्ग की अभिव्यंजना शैली से युक्त इस परम्परा की नवीन रचनाओं में भावगत मौलिकता तथा भाषागत नवीनता के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं। इस प्रकार की जो प्रमुख रचनाएं विवेच्य काल में उपलब्ध हैं वे इस प्रकार हैं।

रचना	रचनाकार
१—टेकचन्द सतसई	टेकचन्द
२—मोहन सतसई	मोहनसिंह
३—सुविचार सतसई	रामस्वरूप मिश्र
४—सुकवि सतसई	अम्बिकादत्त व्यास
५—शृंगार सतसई	रामसहाय
६—प्रेम सतसई	गुलाबसिंह धाऊ
७—जानकी सतसई	जानकी प्रसाद द्विवेदी
८—ब्रज सतसई	रामचरित उपाध्याय

[1]भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) पृ० सं० पृष्ठ १

[2]मतिराम सतसई, भूपति सतसई, राम सतसई, चन्दन सतसई, वृन्द सतसई, सतसई, विक्रम सतसई, बुधजन सतसई, कुलपति सतसई इत्यादि।

[3]हिन्दी साहित्य का अतीत (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ ५८२

क्षेत्र को बहुत संकुचित परिधि में सीमित कर दिया था। पर इसी युग के ब्रजभाषा कवि वर्ण्य-विषयों की बहुलता का सम्बल लेकर साहित्य-यात्रा में प्रवृत्त हुए और जहां खड़ी बोली की अधिकांश छायावादी रचनाएं (कुछ अपवादों को छोड़कर) हृद-तन्त्री के तारों में ही उलझी रहीं, ब्रजभाषा कविता जीवन और जगत को अपने आंचल में समेट कर जीवन्त तथा प्राणवान बनी रही। आज का सामान्य ब्रजभाषा कवि, विगत युगों के विपरीत, अपनी रचना के लिए साहित्य शास्त्र का मुंह नहीं जोहता है। वह तो दैनिक जीवन से ग्रहण किए हुए चिर-परिचित विषयों पर अपनी प्रतिभा की पालिश कर उन्हें चमकाता रहता है। प्रकाशन की सुविधाओं के अभाव में तथा लोक रुचि की उपेक्षा की शिकार रहकर भी आधुनिक ब्रजभाषा कविता ने अपने को समसामयिक जीवन से विलग नहीं रक्खा है और यह उसके विकास का विशिष्ट लक्षण है।

(इधर एक ब्रजभाषा कवि ने रूस के चन्द्रमा तक रोकेट-अभियान का भी अत्यन्त रोचक वर्णन किया है, जो इस प्रकार है) :—

सिंगारी कवि बन्धु चन्द्र की यात्रा कीजै,
ससि बदनिनि संग सुधा सोमरस सुख सो पीजै।
जनि रूसहु, विन रोक, रूस के राकेट बैठौ,
बेगि, सवेग सदेह कछुक छन मंह तहं पैठौ॥ (हृषीकेश चतुर्वेदी)

इससे पता चलता है कि ब्रजभाषा के आधुनिक कवि समय के साथ चलने में कितने जागरूक हैं और वे अपनी रचनाओं में समसामयिकता का पूर्ण प्रतिबिम्ब प्रद-र्शित करते हैं।

प्राचीन परम्पराओं को लेकर उनमें समयानुकूल परिष्कार की प्रवृत्ति

प्रत्येक युग विगत से कुछ लेता और आगत को कुछ न कुछ देता है। आदान-प्रदान की यह प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है, भले ही विनिमय के इस उपक्रम में मात्रा का न्यूनाधिक अन्तर आ जाय। अधिक ग्रहण करने वाले युग को अनुन्नत और अधिक देने वाले को समुन्नत युग की संज्ञा दी जाती है। बहुत अधिक मात्रा में आगत को दे जाने वाले युग को ही स्वर्णयुग के नाम से पुकारा जाता है पर ऐसे युग किसी देश या जाति के इतिहास में बहुत कम होते हैं।

आधुनिक युग की ब्रजभाषा कविता के आरम्भिक दो दशकों में तो विगत अर्थात रीतिकाल का प्रभाव इतना व्यापक रहा कि संक्रांतिकालीन संधि-युग की सीमा रेखा पर स्थित इन वर्षों में कवियों ने किसी विशेष विदग्धता का परिचय नहीं दिया। पर संवत् १६२५ के आते-आते प्राचीनता के इस निर्मोक को त्याग कर नवी-नता के स्वागत की प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं। प्राचीनता और नवीनता का

एक अद्भुत सम्मिश्रण सम्पूर्ण भारतेन्दु युग में परिव्याप्त दीखता है। उदाहरण के लिए अकेले भारतेन्दु के काव्य में ही पूर्ववर्ती साहित्य की सभी धाराओं का प्रतिनिधित्व उपलब्ध है।[1] पर जैसे-जैसे समय बीतता गया, प्राचीनता की मात्रा घटती गई और नूतनता का विस्तार होता गया। पर इस प्रक्रिया के अन्तर्गत जो प्रवृत्ति हमें सम्पूर्ण ब्रजभाषा कविता में अद्यावधि मिलती है, वह है प्राचीन परम्परा को ग्रहण करके उसमें युगानुकूल परिष्कार करने की प्रवृत्ति। वैसे तो यह भावना इतनी व्यापक है कि सम्पूर्ण काव्य क्षेत्र को अपने परिवेश में समेटे है फिर भी जिन प्रमुख परम्पराओं में इसके दर्शन होते हैं वे इस प्रकार हैं।

(अ) **सतसई परम्परा** - कविता की यह परिपाटी संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश से होती हुई तथा ज्ञान, भक्ति, नीति, शृंगार आदि क्षेत्रों को आत्मसात् करती हुई रीतिकाल में बिहारीलाल तक आते-आते अपने चरम सौन्दर्य को प्राप्त हो गई थी। पर चरमोत्कर्ष के पश्चात् रीतिकाल के उत्तरार्ध में कविता की यह धारा उत्कृष्टता की दृष्टि से क्षीण-प्राय सी हो गई थी। कारण यह था कि बिहारी सतसई से बाद की रचनाओं[2] में अनुकरण की मात्रा इतनी अधिक हो गई थी कि कविता के भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में मौलिकता का अभाव खटकने लगा था।[3] पर परिवर्तित परिस्थितियों के साथ-साथ आधुनिक युग तक आते-आते नवीन विषयों, नूतन भावों और नए ढङ्ग की अभिव्यंजना शैली से युक्त इस परम्परा की नवीन रचनाओं में भावगत मौलिकता तथा भाषागत नवीनता के प्रचुर मात्रा में दर्शन होते हैं। इस प्रकार की जो प्रमुख रचनाएं विवेच्य काल में उपलब्ध हैं वे इस प्रकार हैं।

रचना	रचनाकार
१—टेकचन्द सतसई	टेकचन्द
२—मोहन सतसई	मोहनसिंह
३—सुविचार सतसई	रामस्वरूप मिश्र
४—सुकवि सतसई	अम्बिकादत्त व्यास
५—शृंगार सतसई	रामसहाय
६—प्रेम सतसई	गुलाबसिंह धाऊ
७—जानकी सतसई	जानकी प्रसाद द्विवेदी
८—ब्रज सतसई	रामचरित उपाध्याय

[1] भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) पृ० सं० पृष्ठ १

[2] मतिराम सतसई, भूपति सतसई, राम सतसई, चन्दन सतसई, वृन्द सतसई, सतसई, विक्रम सतसई, बुधजन सतसई, कुलपति सतसई इत्यादि।

[3] हिन्दी साहित्य का अतीत (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) पृष्ठ ५८२

रचना	रचनाकार
९—राष्ट्र सतसई	गोस्वामी मदन मोहन
१०—स्वदेश सतसई	महेशचन्द्र प्रसाद
११—हरिऔध सतसई	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
१२—बीर सतसई	वियोगी हरि
१३—सिरस नीति सतसई	शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'
१४—किसान सतसई	जगनसिंह सेंगर
१५—किसान सतसई	उलफतसिंह चौहान 'निर्भय'
१६—फलक़ सतसई	नबीबक्स फलक़
१७—करुण सतसई	अध्यापक रामेश्वर 'करुण'
१८—संयमी सतसई	संयमी जी
१९—राजेश सतसई	राजेश दयालु

उपरोक्त रचनाओं के अतिरिक्त इसी परम्परा में कुछ ऐसी उत्कृष्ट रचनाएं भी उपलब्ध हैं, जिनके नाम में तो सतसई शब्द नहीं जुड़ा है, पर उनमें भी विभिन्न विषयों पर दोहे प्राप्त हैं। इस कोटि की कृतियों में देव पुरस्कार विजेता दुलारेलाल भार्गव रचित 'दुलारे दोहावली', दामोदरसहाय 'कविकिंकर' लिखित 'सुधासरोवर', किशोरीदास वाजपेयी प्रणीत 'तरङ्गिणी', अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य' लिखित 'दिव्य दोहावली' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रसङ्ग में खड़ीबोली के प्रसिद्ध कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' द्वारा रचित 'उर्मिला' नामक प्रबन्ध काव्य के पंचम सर्ग को भी लिया जा सकता है, जिसमें ब्रजभाषा के ७०४ दोहों में उर्मिला के वियोग का मार्मिक वर्णन किया गया है। खड़ी बोली की कविता में इस प्रकार ब्रजभाषा का समावेश जहाँ एक ओर नूतन साहित्यिक परिपाटी की ओर संकेत करता है, वहीं साथ ही इस बात का भी द्योतक है कि रसव्यंजना में ब्रजभाषा का महत्व खड़ी बोली से कहीं अधिक है।

उपरि लिखित रचनाओं में काल क्रमानुसार नवीन से नवीन विषयों और भावों का समावेश होता गया है। पूर्व भारतेन्दु और भारतेन्दु युग की इन रचनाओं में विषय-वैविध्य के दर्शन कम होते हैं पर उत्तर-भारतेन्दु युग तक आते-आते समसामयिक जीवन की विविधता इन रचनाओं में शनैः शनैः अवतरित होती गई है। कोरी कल्पना-जनित कलाबाज़ी के स्थान पर स्वानुभूति-प्रेरित व्यापकता, उक्ति वैचित्र्य के स्थान पर सहज और स्वाभाविक व्यंजना तथा प्राचीन भावों को लेकर ही उन्हें अधिक उत्कर्ष प्रदान करने की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। भावपक्ष की नवीनता के साथ-साथ इन रचनाओं का पूर्वपरिचित अलंकृत स्वरूप धीरे-धीरे लुप्त होता गया और कहीं-कहीं तो अभिव्यंजना इतनी सहज और सजीव होगई है कि स्थूल रूप से

देखने वाले को इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति का आभास होने लगता है, पर एक ओर तो ब्रजभाषा की सहज माधुरी और दूसरी ओर सामयिक जीवन से ग्रहण की हुई जानी पहिचानी भावनाओं का समावेश इन कृतियों को पूर्ण रूपेण विरस होने से बचाता रहा है। उदाहरण के लिए इन रचनाओं में ग्रहीत कुछ नए विषय इस प्रकार हैं:—

रोटी : सौ बातन की बात यह, बादि करौ का तूल।
है इक रोटी प्रश्न ही, सब प्रश्नन कौ मूल।। (करुण सतसई)

आधुनिक कवि : खेवत कल्पित नाव नित, संसृति सागर पार।
डूबत लखत न देश को, तरनी बिन पतवार।। (करुण सतसई)

हल : हर ही दुख-हर जगत को, हर ही जीवन मूर।
सब कर हर-तर जानिए, हर सौं हरि नहिं दूर।। (किसान सतसई—'निर्भय')

फुटबाल : फूलि रह्यौ फुटबाल तू, बृथा न नीच लजात।
ठोकर दैबे काज ही, उदर भरयौ तुव जात।। (तरंगिणी)

इन रचनाओं में कहीं-कहीं प्राचीन कवियों के भावों को ग्रहण करने की और कहीं-कहीं उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली तक को उधार ले लेने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है पर इनके रचनाकारों की काव्य-कुशलता इस बात में निहित है कि उन्होंने प्राचीन भाव को लेकर ही उस पर आधुनिकता का पुट दिया है और वह भी इस कुशलता के साथ कि पुराना भाव और अधिक चमक गया है। तुलसी, कबीर, रहीम तथा बिहारी के दोहों का परोक्ष प्रभाव कहीं-कहीं उक्त रचनाओं में स्पष्ट रूप से उपलब्ध है पर नए युग के संदर्भ में फिट होकर पूर्ववर्ती भाव और अधिक आकर्षक हो गए हैं। उदाहरण के लिए:—

किते न ज्ञानी गुन भरे, काहि न कौन सिखाय।
कौने तजी न सुम गली, सत्ता-मद बौराय।। (करुण सतसई)

उक्त दोहे पर बिहारी का प्रभाव स्पष्ट है पर इसमें वर्णित समसामयिक प्रवृत्ति का दिग्दर्शन इसे आधुनिक युग के बहुत अधिक अनुकूल बना देता है।

कहीं-कहीं नवीनता का इतना अधिक आग्रह इन रचनाओं में उपलब्ध है कि प्राचीन युग से चली आने वाली इस परम्परा में नवीनता के समावेश को देखकर विस्मित रह जाना पड़ता है। यथा:—

देखी तो मैं गजब की बिजुरी पालीवाल।
होत गरम अति छनक में जासौं नैनीताल।। (तरंगिणी)

उपरोक्त दोहे में बिजुरी, पालीवाल (प्रसिद्ध राजनीतिक कार्यकर्त्ता पं० कृष्ण दत्त पालीवाल) तथा उत्तर प्रदेश की राजधानी, नैनीताल का समावेश इसे अति-

आधुनिक स्वरूप प्रदान करने के साथ-साथ, दोहे की मार्मिकता को अत्यधिक बढ़ा देता है। कहीं-कहीं उक्ति-वैचित्र्य के दर्शन भी इन रचनाओं में मिलते हैं पर इस क्षेत्र में भी पर्याप्त नवीनता के दर्शन होते हैं यथा:—

अति की भली न बात कोउ, कैसी ही संसार।
होत तुरत आचार हू, अति सौं अत्याचार॥
(तरंगिणी—किशोरीदास वाजपेयी)

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल से चली आने वाली इस परम्परा में पर्याप्त परिष्कार करके आधुनिक ब्रजभाषा कवियों ने उसे युग के अनुकूल बना लिया है जो उसकी प्रगतिशीलता का प्रतीक है।

(आ) भ्रमरगीत परम्परा—तर्क और विज्ञान के इस युग में विभिन्न प्रकार के उपयोगी यन्त्रों की सहायता लेता हुआ तथा उनके आविष्कार में निरत आधुनिक मानव आज तक भी अपने को पूर्ण रूपेण यन्त्रवत जड़ नहीं बना सका है। हाँ, इतना अवश्य है कि परिवर्तित परिस्थितियों के संदर्भ में उसका दृष्टिकोण बहुत बदल गया है। प्राचीन कथाओं तथा आख्यानों को वह अपने अनुकूल नया रूप रङ्ग प्रदान कर उन्हें समसामयिक जीवन के अनुरूप बनाने की चेष्टा करता रहा है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि रस की मूर्ति-कृष्ण के जीवन के सबसे सरस प्रसङ्ग-भ्रमरगीत को लेकर उसमें प्राप्त कोरी भावुकता के स्थान पर तर्कशीलता का समावेश किया जाय। यही नहीं, समसामयिक परिस्थितियों के समावेश के कारण उक्त प्रसङ्ग की शृंगारिकता के स्थान पर सामाजिकता, धार्मिकता तथा राजनीति के स्वर मुखर होने लगें। पर यह सब परिवर्तन भी कुछ दिनों, महीनों, वर्षों तथा दशकों की उपलब्धि न होकर पूरी एक शताब्दी की प्रसूति है। अतः जहां विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आरम्भ का ब्रजभाषा कवि इस परम्परा में रीतिकालीन शृंगार तथा भक्ति का आधिक्य देखता था, वहीं इस शताब्दी के मध्य और अन्त का रचनाकार देश की पराधीनता, अशिक्षा, दरिद्रता आदि समस्याओं के माध्यम से इस प्रसङ्ग पर कलम चलाता है। पुराना कवि जहां कृष्ण के वियोग में विकल गोपियों के मानस-मन्थन का रस-सिक्त चित्र प्रस्तुत करता था, वहीं आज का ब्रजभाषा कवि नारी की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार कर उसके अधिकारों की चर्चा करते हुए रंचमात्र संकोच नहीं करता है।

वैसे तो भ्रमरगीत प्रसङ्ग की अपार आकर्षण शक्ति कृष्ण-काव्य की रचना करने वाले लगभग सभी कवियों को इस विषय पर कुछ न कुछ लिखने को बाध्य करती है, पर इस परम्परा की कुछ उल्लेखनीय रचनाएं और उनके रचनाकार इस प्रकार हैं।

रचना	रचनाकार
१—गोपी पच्चीसी, कुब्जा पच्चीसी	ग्वाल
२—नटनागर विनोद (कुछ अंश)	रत्नसिंह भटनागर
३—भ्रमरगीत	रसनायक
४—प्रेमरस-सागर	घनश्याम कवि
५—विरह-बतीसी	मथुराप्रसाद
६—प्रेम-पच्चीसी	शिवराम
७—विश्राम-सागर (कुछ अंश)	रघुनाथदास रामसनेही
८—स्फुट पद, सवैये तथा कवित्त	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
९—भ्रमरगीत संबंधी फुटकर पद और छन्द	'प्रेमधन'
१०—भंवरगीत	प्रागनि
११—ऊधों ब्रजागमन	रसीले
१२—गोपी प्रेमपीयूष-प्रवाह, गोपी पच्चीसी	नवनीत चतुर्वेदी
१३—सनेह-लीला	हरिराय
१४—रसिक पच्चीसी	रसिक राय
१५—वियोग वल्ली, उपालम्भ शतक	रसरूप
१६—ऊधों-पच्चीसी	हरदेवप्रसाद कायस्थ
१७—उद्धव शतक	'रत्नाकर'
१८—भ्रमर-दूत	सत्यनारायण 'कविरत्न'
१९—उद्धव-गोपी-संवाद	डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
२०—भ्रमरगीत सम्बन्धी स्फुट छन्द	डा० रामप्रसाद त्रिपाठी
२१—श्याम-सन्देश	डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित
२२—श्याम-सदैसो	अमृतलाल चतुर्वेदी

उपरोक्त रचनाओं में 'ग्वाल', 'रत्नाकर', सत्यनारायण 'कविरत्न', डा० 'रसाल' तथा डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित की रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

यदि तल्लीनता ही गीति-काव्य की कसौटी है तो उसकी पूर्ण प्राप्ति हमें भ्रमरगीत के इस पुरातन प्रसङ्ग में हो जाती है, पर इस परम्परा की रचनाओं में नूतनता का समावेश तब विशेष महत्वपूर्ण बन जाता है जब इस मार्मिक प्रसङ्ग को आधुनिक परिवेश में परिवद्ध करके नई शैली के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। जैसे 'रत्नाकर' लिखित 'उद्धव शतक' में कवि स्मरण अलंकार के सहारे एक

सामान्य पर मार्मिक घटना को इस प्रसङ्ग के उठाने में बड़े कलात्मक रूप से प्रयुक्त करता है। यथा—

न्हात जमुना में जलजात एक देख्यौ जात,
जाको अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।

और इस प्रकार इस प्रसंग को यों उठान देता है—

कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं,
नीकै तहाँ नेहकी नदी में न्हाय आए हैं।

कुछ रचनाओं में तो भ्रमर-गोपियों, नंद, यशोदा आदि का उल्लेख तक नहीं हुआ है। उदाहरण के लिए सत्यनारायण कविरत्न लिखित—'भ्रमरदूत' में न तो गोपियाँ हैं, न उद्धव हैं और न उनके बीच ज्ञान और भक्ति का तर्क-वितर्क-बहुल बाद-विवाद ही उपलब्ध है। वहाँ तो वात्सल्य—विकला यशोदा और उसका पुत्र के वियोग में शोकातुर मातृ-हृदय है जो अपनी और ब्रज की करुण दशा के माध्यम से देश की तत्कालीन दशा का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करता है। यथा—

वा बिनु ग्वालन को, हित की को बात सुनावै,
अरु स्वतंत्रता, समता, सहभ्रातृता सिखावै।
यदपि सकल बिधि ये संहत दारुण अत्याचार,
पै न कछु मुख सों कहत कोरे बने गंवार।
कोउ अगुवा नहीं।

उस समय के विवश भारतीयों की दशा का इससे और अधिक मार्मिक वर्णन क्या हो सकता है। इस रचना में छूछ-छात, परतन्त्रता, अशिक्षा, अकाल, कुवृष्टि, अति-वृष्टि, आर्थिक-शोषण आदि समस्याओं को बड़े कौशलपूर्वक सन्निविष्ट किया गया है और समाज तथा स्वदेश, ब्रजभाषा, काले-गोरों का भेद तथा पश्चिम के अन्धानुकरण पर प्रकाश डाला गया है।

विवेच्यकालीन भ्रमरगीत परम्परा की एक अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें राधा, कृष्ण, उद्धव, नंद, यशोदा, गोप, गोपी आदि प्राचीन पात्रों को नितान्त नए रूप में उपस्थित किया गया है। उदाहरण के लिए डा० श्याम सुन्दर लाल दीक्षित रचित—'श्याम-सन्देश' में कंस-वध के बाद जनता द्वारा मनाए गए मुक्ति-पर्व में कृष्ण नंगे पैरों जलूस में भाग लेते हैं—

पाँय पयादे चले सबनि को दरसन दीन्हें,
पुष्प, अरघ आसीरबाद सबही सौं लीन्हें।
पुष्प, अरघ आसीरबाद सबही सौं लीन्हें।
अखिल लोक सुख-पुंज प्रभु दीनदयालु विशेष,

गो गोपी, ग्वालन सुखद, सुभ साधारन वेष ।
मिले सबसौं मुदित ।

इन पंक्तियों में युग का प्रत्यक्ष प्रभाव अंकित है और उसमें भी जनतंत्रीय भावना का प्राधान्य है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लीलामय कृष्ण के जीवन का यह रस-सिक्त प्रसंग आज के नीरस और शुष्क युग में भी युग के अनुरूप परिस्कृत होकर भी जन-मन को आकृष्ट करने में समर्थ है और जब तक ब्रजवाणी रहेगी तब तक इस प्रसंग की रचनाएं होती रहेंगी, ऐसी आशा है।

(इ) **लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा :**–जहाँ रीतिकाल में लक्षण-ग्रंथ रचना की बाढ़ सी आगई थी जो साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक अनिवार्य नियम सी बन गई थी, वहाँ आधुनिक युग के उषः काल–अर्थात् भारतेन्दु युग में यह प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में विद्यमान रही। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, सहज कवि-कर्म के बहुत कुछ विपरीत पड़ने वाली यह परिपाटी काव्य-क्षेत्र से सवेग समाप्त होती गई। कारण यह था कि गद्य के अधिकाधिक प्रचार के साथ शास्त्रीय विवेचन और विश्लेषण से युक्त इन रचनाओं का अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक माध्यम गद्य ही हो गया और विक्रम की बीसवीं शताब्दी के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते तो लक्षण-ग्रन्थों की यह परम्परा अधिकाधिक विरल होती गई। रीतिकाल में कवित्व और आचार्यत्व दोनों के ही सम्मिलित दर्शन इस परम्परा में होते हैं पर प्राक्-भारतेन्दु युग में जो रचनाएं सामने आई उनमें विवेचन की ओर कम और कवित्व की ओर अधिक आग्रह पाया जाता है। परिणामतः इस युग में लक्षण-ग्रन्थ नाम को ही लक्षण-ग्रन्थ रह गए थे, वस्तुतः वे लक्ष्य-ग्रन्थ ही बन गए थे। पर भारतेन्दु युग से यह प्रवृत्ति परिवर्तित दिखाई देती है और बाद की रचनाओं में तो शास्त्रीय विवेचन के साथ साथ पर्याप्त मौलिकता के दर्शन होते हैं। लक्षण-ग्रन्थों की इस परम्परा के मोटे तौर पर विषयानुरूप ७ भेद दिखाई पड़ते हैं–

१. जिनमें मुख्य रूप से अलंकार काव्य-गुण, काव्य-दोष, शब्द-शक्ति आदि का विवेचन हुआ है। इस वर्ग के उल्लेखनीय ग्रन्थ ये हैं–

भुवनेश भूषण (त्रिलोकीनाथ सिंह)—रावणेश्वर कल्पतरु (लछिराम) जसवन्त जसो भूषण (मुरारिदान)—गंगाभरण (लेखराज) भारती-भूषण (गिरिधरदास)—प्रताप विनोद (द्विजबलदेव) हनुमत भूषण (सरदार) —तुलसी-भूषण (सरदार) मानस-भूषण (सरदार)—काव्य सुधाकर (रसिकबिहारी) महेश्वर चन्द्रिका (द्विजगंग) — भूषण मंजरी (गोविन्दगिल्ला भाई)।

२. जिनमें प्रमुख रूप से रस के अंग-उपांगों का विश्लेषण उपलब्ध है :—

रसकुसमाकर (प्रतापनारायणसिंह)— रसिकानंद (ग्वाल) रसरत्नाकर-अपूर्ण (गिरिधरदास)—काव्य-प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद 'भानु') रसरसांग निर्णय (ब्रजेश)—रसकलस (अयोध्यासिंह उपाध्याय)।

३. जिनमें नायिका-भेद का विवेचन ही मुख्य रूप से प्राप्त है :—

वाग्विलास (सेवक)—महेश्वर विलास (लछिराम) श्रृंगार दर्पण (नंदराम)—रसकुसमाकर (प्रतापनारायण सिंह) ब्रजविनोद नायिका-भेद (जगदीशलाल)—रसकलस (हरिऔध) बिरहा नायिका-भेद (बलबीर)—दिग्विजय-भूषण (गोकुलप्रसाद 'ब्रज')।

४. पिंगल ग्रन्थ, जिनमें छन्द शास्त्र का विवेचन उपलब्ध है :—

रुद्र-पिंगल (ज्वालास्वरूप)—छन्द प्रदीप (कन्हैयालाल शर्मा) छन्दोबोध (हृषीकेश भट्टाचार्य)—छन्द भास्कर (रामकिशोर सिंह) पिंगल (हरदेवदास वैश्य)—चित्र चंद्रिका (बलवानसिंह राजा) छन्द प्रभाकर (जगन्नाथप्रसाद 'भानु')—घनाक्षरी नियम-रत्नाकर।

(जगन्नाथदास 'रत्नाकर)

५. जिनमें दृश्य-काव्य अर्थात् नाटक के विभिन्न अंगों का विवेचन किया गया है :—

नाट्य-निर्णय (डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल')

६. ऐसी रचनाएं जिनमें संपूर्ण काव्य-शास्त्र पर विचार किया गया है :—

काव्य-सुधाकर (जानकीप्रसाद)—दिग्विजय भूषण (गोकुलप्रसाद 'ब्रज') काव्य-कल्पद्रुम (कन्हैयालाल पोद्दार)—साहित्य-सागर (बिहारी ब्रह्मभट्ट)।

७. ऐसे ग्रन्थ जिनमें उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त लक्षण ग्रन्थों से संबन्धित अन्य समस्याएं विवेच्य हैं :—

व्यंग्य विलास (सरदार), दूषण दर्पण (ग्वाल)

यह ठीक है कि पूर्वोक्त सतसई तथा भ्रमर गीत परम्परा की भांति यह परिपाटी विवेच्य काल में अधिक फलित और पुष्पित नहीं हो पाई है और जो कुछ भी ग्रंथ लिखे गये हैं व या तो प्राक् भारतेन्दु युग में रचित हैं या फिर भारतेन्दु युग में। उत्तर भारतेन्दु युग में केवल कुछ गिनी चुनी रचनायें ही सामने आती हैं, पर उनमें नवीनता और मौलिकता के प्रति आग्रह वर्तमान है। उदाहरण के लिये रीतिकाल में इस विषयक जितने ग्रन्थ लिखे गये उनमें शास्त्रीय विवेचन के प्रति कम और कवित्व प्रदर्शन के प्रति अधिक उत्साह दिखाई देता है। पर आधुनिक युग तक आते-आते, जो भी दो चार ग्रन्थ लिखे गये उनमें आचार्यत्व और कवित्व दोनों पक्षों का समुचित

समन्वय दृष्टिगोचर होता है। विज्ञान और तर्क के इस युग में अप्रौढ़ लक्षणों के लिए अप्रौढ़ उदाहरणों का गढ़ना, शास्त्र-पक्ष की अवहेलना थी। अतः इस प्रकार के ग्रन्थ लेखन की ओर उन्हीं व्यक्तियों ने कदम बढ़ाया जो विषय के अधिकारी विद्वान या कम से कम उसके मर्मज्ञ तो थे ही। अलंकार के क्षेत्र में डा० रसाल और कन्हैयालाल पोद्दार, रस के क्षेत्र में गोकुल प्रसाद 'ब्रज' तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पिंगल के क्षेत्र में जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' तथा नायिका भेद के क्षेत्र में हरिऔध के प्रयत्न पर्याप्त प्रौढ़ हैं तथा मौलिक चिन्तन और युगानुकूल परिस्कार की प्रवृत्ति के परिचायक हैं। रस के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण काव्यमयी कृति 'हरिऔध' रचित 'रसकलस' है, जिसमें एक साथ ही रस तथा नायिका-भेद के क्षेत्र में अनेक नये परिवर्तनों की संभावना की ओर प्रौढ़ दिशा-निर्देश उपलब्ध है। प्रतिपाद्य विषय की प्रौढ़ विवेचना, प्राचीनता के साथ नूतनता का संतुलित समन्वय और आचार्यत्व के साथ कवित्व का मणिकांचन संयोग इस ग्रंथ का प्रमुख कृतित्व है। इस प्रकार विवेच्य काल में लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में युगानुरूप परिष्कार-परिमार्जन हुआ है।

प्रकृति-वर्णन की समृद्ध परम्परा और उसके विभिन्न प्रकार

मानव का मनुष्येतर वाह्य प्रकृति से अनादि और अनंत सम्बन्ध है। वह अपने उत्पत्ति-काल से ही प्रकृति की सहज पर विविधिरूपा माधुरी, व्यापक विराटता, तथा चिरनूतन विचित्रता पर मुग्ध, आतंकित तथा विस्मित होकर वाङ्मय की विविध विधाओं द्वारा उक्त भावों की अभिव्यक्ति करता आया है। प्रकृति वर्णन की यह अजस्रधारा जहां वैदिक साहित्य में मुख्यतः रहस्यात्मक रूप धारण करती है वहीं प्राचीन सस्कृत साहित्य में मुख्यतः आलम्बन, उद्दीपन और उपदेश की तरल त्रिवेणी के रूप में प्रवाहित है। हिन्दी काव्य का आरम्भ संग्राम, शौर्य तथा शक्ति के वातावरण में हुआ अतः वीरगाथा काल के कविगण प्रकृति की ओर सम्यक् दृष्टिपात करने का अवसर ही न पा सके, भक्ति काल तक आते-आते उसमें उद्दीपन, अलंकरण तथा उपदेश ग्रहण प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा और रीतिकाल की ड्योढ़ी पर पैर रखते-रखते वह राज्यप्रसादों के केलि-कुंजों, विलासोपवनों आदि में बन्दिनी बन कर बारहमासे, अष्टयाम, षट्ऋतु वर्णन की सांकारी गली में भटकती रही। सत्य यह है कि मध्य युग में भक्ति के आधिक्य के कारण प्रकृति को ब्रह्म की माया शक्ति के रूप में ग्रहण करके उसे अधिक महत्वपूर्ण पद नहीं दिया गया है। रीतिकाल में कवियों का राज्याश्रित होना उनके प्रकृति निरीक्षण तथा प्रकृति वर्णन में बड़ा व्याघात था। राज-दरबारों में चहल-पहल, सामन्ती, वैभव की चकाचौंध और राज्य महलों में चलने वाले राजनीतिक कुचक्रों तथा दरबारियों की बात की करामात के चक्कर में पड़कर इन कवियों की दृष्टि प्रकृति सौन्दर्य की ओर आकृष्ट ही नहीं हो सकी। केशव, बिहारी, भूषण आदि कवियों के प्रकृति वर्णन में जो बात स्पष्ट रूप से

देखी जा सकती है वह यही है कि या तो उन्होंने परम्परागत रीति से प्रकृति के प्रांगण में पाई जाने वाली वस्तुओं का उल्लेख मात्र कर उनकी सूची प्रस्तुत करदी है या फिर अलंकारों के आवरण से उसे इतना ढक दिया है कि उसका रम्यरूप ही ओझल हो गया है। बेचारी प्रकृति नायिका की विभिन्न मनोदशाओं को निहारने वाली अनुचरी मात्र रह गई है। यदि नायिका प्रसन्न है तो प्रकृति का रूप भी प्रफुल्लित दिखाई देगा पर यदि वह मान, रोष अथवा कोप की दशा में है तो बेचारी प्रकृति भी उदास, विवर्ण, शोकातुर और निष्प्रभ दिखाई देगी। यही नहीं, आचार्य बनने की धुन में विभिन्न रसों, अलंकारों, नख-शिख आदि का विवेचन करते समय उन्होंने बड़ी निर्ममता पूर्वक प्रकृति का उपयोग किया है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के आरम्भिक दो दशकों-अर्थात् प्राक्-भारतेन्दु युग में उस समय के कवियों पर रीतिकालीन रंग इतना गहरा है कि 'द्विजदेव' दीनदयाल गिरी, महाराज रघुराज सिंह और ग्वाल जैसे प्रतिभाशाली कवि भी प्रकृति को खुली आंखों देखने की इच्छा रखकर भी इस क्षेत्र में पूरी स्वतन्त्रता नहीं बरत पाये हैं। यद्यपि 'द्विजदेव' के कुछ प्रकृति-चित्र बहुत सरल और हृदयहारी उतरे हैं, पर उस संपूर्ण युग में वे अपवाद स्वरूप ही दिखाई देते हैं। किन्तु भारतेन्दु युग के आरम्भ में उक्त प्रवृत्ति कुछ-कुछ बदली दिखाई पड़ती है। यद्यपि यह सत्य है कि भारतेन्दु वाह्य प्रकृति की अपेक्षा मानव प्रकृति की ओर अधिक प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं पर उनकी बाद की रचनाओं में आलम्बन रूप से प्रकृति वर्णन की हलकी झलक दिखाई पड़ती है। उनके सहयोगियों में बदरीनारायण चौधरी (प्रेमधन) तथा ठाकुर जगमोहनसिंह प्रकृति के प्रति अधिक अनुरक्त दिखाई पड़ते हैं। 'प्रेमधन' उपनाम ही प्रकृति प्रेम का प्रतीक है और उन्हें तथा उक्त ठाकुर साहब को विन्ध्याटवी के सुरम्य प्रदेश से प्रकृति प्रेम की प्रेरणा मिली। आगे चलकर उत्तर भारतेन्दु युग में पंडित श्रीधर पाठक के काव्य-क्षेत्र में पदार्पण के साथ प्रकृति वर्णन का एक नया अध्याय आरम्भ होता है। उनके रूप में हमें एक ऐसे कवि के दर्शन होते हैं जो प्रकृति के विभिन्न अंगों की शोभा पर विमुग्ध दिखाई पड़ता है। हिमालय, काश्मीर देहरादून आदि के सरस और समवेदनात्मक वर्णन इतने चित्रोपम हुए हैं कि उनसे कवि के प्रकृति विषयक अनुराग का पूरा पता चलता है। पर पाठक जी का प्रकृति-प्रेम नगरों के क्षेत्र तक ही सीमित है, जबकि पंडित रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति वर्णन में ग्राम्य वातावरण की सरस सुषमा का प्राधान्य है। प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करके शुक्ल जी ने अपने समसामयिक कवियों के सामने यह आदर्श रक्खा कि आलम्बन रूप में ही उसका चित्रण सर्व श्रेष्ठ है। आधुनिक युग में प्रकृति वर्णन की अधिकता का प्रमुख कारण यह रहा है कि इसके अधिकांश कवि या तो गांव में जनमे थे, या फिर संस्कृत साहित्य के अध्ययन के फलस्वरूप प्रकृति के आलम्बन

रूप की ओर विशेष आकृष्ट थे अथवा उन्हें सुन्दर तथा सुरम्य प्राकृतिक प्रदेशों में भ्रमण करने का पर्याप्त अवसर मिला था। इसी कारण प्रकृति के निरीक्षण और परीक्षण की स्वतन्त्र परिपाटी इस काल में उपलब्ध है। उदाहरण के लिए पंडित रामचन्द्र शुक्ल, श्रीधर पाठक, जगमोहनसिंह, हरिऔध, सत्यनारायण कविरत्न तथा डा० जगदीश गुप्त किसी न किसी रूप में प्रकृति के प्रेमी रहे हैं और इसीलिए उनकी कृतियों में प्रकृति के चित्रमय वर्णन अधिक मात्रा में प्राप्त हैं, अंग्रेजी साहित्य अध्ययन भी इस दिशा में बहुत सहायक रहा है। वैसे तो आज के यान्त्रिक युग में प्रकृति को अधिक महत्व नहीं मिलना चाहिये था पर भौतिकता से ऊबा हुआ मानव-मन जब उसकी गोद में जाकर शरण ग्रहण करता है तो ऐसी स्थिति में प्रकृति के प्रति अनुराग स्वाभाविक हो जाता है।

यहाँ तक तो रहा, आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में प्रकृति वर्णन का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण, पर आगे की पंक्तियों में प्रकृति-वर्णन की विभिन्न प्रणालियों का संक्षिप्त विवेचन करते हुए उसकी उपलब्धियों तथा अभावों का विश्लेषण अभीष्ट होगा। सामान्यत: प्रकृति-वर्णन के पांच प्रकार कविता में पाये जाते हैं १—उद्दीपन २—आलम्बन ३—अलंकरण ४—उपदेश अथवा शिक्षा ग्रहण ५—रहस्यात्मक या परोक्ष-सत्ता रूप में उसका चित्रण। वैसे, मानव-भावनाओं की पृष्ठ भूमि, मानवीकरण, प्रतीक पद्धति, दूत काव्य, बिम्ब-प्रतिबिम्ब ग्रहण आदि के रूप में भी इसका न्यूनाधिक प्रयोग कविता में उपलब्ध है पर प्रमुखता उक्त पाँच प्रकार की प्रकृति-वर्णन प्रणालियों की ही है। पहले उद्दीपन रूप को लें :—

(१) उद्दीपन रूप में प्रकृति-वर्णन—उद्दीपन शब्द का अर्थ है उद्दीप्त करना, बढ़ाना, जागृत करना आदि। जहां लौकिक आलम्बन के प्रति जगे हुए रतिभाव को प्रकृति के द्वारा और अधिक बढ़ाकर आश्रय या भाव के अनुभवकर्ता को अनेक मार्मिक परिस्थितियों के बीच में दिखाया जाता है, वहां प्रकृति का उद्दीपन रूप से चित्रण कहा जाता है।[1] वैसे तो हिन्दी के सभी युगों में उद्दीपन रूप से प्रकृति-वर्णन की प्रणाली प्रचलित रही है पर रीतिकाल तक आते-आते तो मानो यह प्रवृति अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई। कुछ काल के लिए तो ऐसा लगने लगा मानो प्रकृति-वर्णन की इस शैली के अतिरिक्त अन्य प्रणालियों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। प्राक-भारतेन्दु युग के अधिकांश कवियों का प्रकृति-वर्णन इसी प्रकार का है। ग्वाल, सेवक, लछिराम, सरदार आदि की रचनाओं में इसी पद्धति का प्राधान्य है। भारतेन्दु युग में आकर यह पद्धति उपेक्षाकृत क्षीणता को प्राप्त हो गई और बाद में तो पुराने खेवे के कुछ गिने चुने कवियों को छोड़कर अन्य कविगण उद्दीपन रूप से प्रकृति-वर्णन की परिपाटी को लगभग त्याग बैठे। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के इस युग

[1]कविता में प्रकृति-चित्रण (डा० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल) पृष्ठ १५५

में प्रकृति की भी स्वतन्त्र सत्ता अपनाई गई, जिसके परिणाम स्वरूप उद्दीपन रूप के स्थान पर आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन की परम्परा चल पड़ी। प्रकृति-वर्णन की इस प्रणाली के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

गरजे घन दौरि रहै लपटाइ, भुजा भरि कै सुख पागी रहैं।
'हरिचन्द' जू भीजि रहैं हिय में मिलि पौन चले मद जागी रहैं।
नभ दामिनी के दमके सतराइ, छिपी पिय-अङ्ग सुहागी रहैं।
बड़ भागिनी बेई रहैं बरसात में, जे पिय कन्ठ सों लागी रहैं।
(भारतेन्दु)

फूलि कै फूलन में तनको तरु किंसुक कोतनिको लरजै ना।
आम हू बौरि कै बाग मैं बूझत बौरी बनावन मैं हरजै ना।
गूंजिवा त्यागि कै भृंग न ताइबे की 'हरिऔध' रखै गरजै ना।
कूकि कै काढ़त प्रान क्यों कोऊ कसाइनी बवैलिया को बरजै ना॥
(हरिऔध)

कूकन कौन सिखाई पिकीन जो बान लौ बेधि करै हिय पार ये।
कैसे समीर 'दमोदर' जू मकरन्द मिलै ते चलै बिषधार ये।
काहे पुरान गये झरि पल्लव, काहै नवीन भये रतनार ये।
हाय पलासन की डरियान पै, कौन धरै हैं अधूम अङ्गार ये॥
(दामोदर सहाय 'कविकिंकर')

(२) आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन—आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन करते समय कवि प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है और इस प्रकार वह कवि के लिए साधन न रह कर साध्य बन जाती है। इस प्रकार का प्रकृति वर्णन मध्ययुगीन हिन्दी कविता में बहुत कम मिलता है। सेनापति पहले कवि थे जिन्होंने इस रूप में प्रकृति-वर्णन का सूत्रपात किया। बाद में रीतिकालीन कवियों की उद्दीपन रूप से प्रकृति-वर्णन करने की परिपाटी की प्रधानता के कारण यह परम्परा बहुत कुछ दब सी गई। रीतिकाल के अन्तिम चरण में और आधुनिक काल की संधि-वेला पर स्थित आयोध्या नरेश 'द्विजदेव' के काव्य में इसकी हलकी झलक मिलती है। पर वे अपवाद स्वरूप ही हैं। स्वयं भारतेन्दु की कविता में प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली उनकी बाद की रचनाओं में ही स्वल्प रूप में मिलती है। वस्तुतः 'प्रेमधन' और ठाकुर जगमोहनसिंह की कविताओं में इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन का अपेक्षाकृत आधिक्य है। बाद में पण्डित श्रीधर पाठक ने इस प्रकार की प्रकृति-वर्णन प्रणाली को बल दिया। उनके रूप में हमें प्रथमबार एक ऐसे कवि के दर्शन होते हैं जो प्रकृति की सुरम्य दृश्यावलि को देखकर हर्ष-विभोर होता है और बड़े उत्साह पूर्वक अपने काव्य में उसका चित्राङ्कन करता है। पाठक जी के पश्चात् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल,

'हरिऔध', सत्यनारायण 'कविरत्न', देवीप्रसाद 'पूर्ण' तथा डा० जगदीश गुप्त की रचनाओं में प्रकृति-वर्णन की इस प्रणाली के प्रचुर रूप में दर्शन होते हैं। इसके कुछ उदाहरण यों हैं।

जलनिधि जल गहि जलधर धारन धरनीधर घर आए।
पटल पयोधर नवल सुहावन इत उत नभ घन छाए।
फरफरात चंचल चपला मन धन-अवली दृग राजै।
रगजत धूमि घूमि छवै बादर धूम धूसरे साजै।
बारिद वृन्द बीच बिजुरी बलि चंचल चारु सुहानी।।
छिन उधरत छिपि जात छिनक छिन घटा छकित
सुखदानी।। (जगमोहनसिंह)

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगी बसुधा लगौ सुखमा लहन।
लह लही लहरान लागी सुगन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगै झूमन बृच्छ मंजुल विपुल।।
(राय देवीप्रसाद 'पूर्ण')

कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत।
सुख सरसावत, हिय हरसावत जल बरसावत।
उछरि ज्छरि जल धार छिरक छित छररर छमकत।
चंचल चपला चम चमात पहुंधा चलि चमकति।।
(सत्यनारायण 'कविरत्न')

(३) **उपदेश-ग्रहण**:—प्रकृति से उपदेश-ग्रहण करने की प्रणाली मुख्य रूप से हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में पनपी और रीतिकाल में अत्यधिक क्षीण होकर उत्तर-भारतेन्दु युग में यत्र-तत्र दिखाई पड़ी। वस्तुतः, आज के युग में कोरे उपदेश को सच्ची कला की सीमा से बाहर माना जाता है, इसी कारण प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली बहुत अधिक लोकप्रिय न हो सकी। फिर भी, विक्रम की बीसवीं-शताब्दी के मध्य में, देश में सुधारवाद की धारा के फलस्वरूप, यह प्रवृत्ति कुछ जोर पड़ती दिखाई पड़ती है। अतः जो भी बिरले उदाहरण उपलब्ध हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

सूखे जरे बिरवा पुनिहूं हरि जू कै प्रताप सबै हरिएहैं।
मालती चारु चमेली गुलाब की सौरभ फेरि समीर समैहैं।
ते नलिनी अरविन्द के वृन्द सरोवर-वारि में सोभा सजैहैं।
कीजै न सौंच कछू अलि रावरै, बीते दिना सुख के पुनि ऐहैं।।
भ्रमराष्टक– (श्रीधर पाठक)

में प्रकृति की भी स्वतन्त्र सत्ता अपनाई गई, जिसके परिणाम स्वरूप उद्दीपन रूप के स्थान पर आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन की परम्परा चल पड़ी। प्रकृति-वर्णन की इस प्रणाली के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

गरजे घन दौरि रहै लपटाइ, भुजा भरि कै सुख पागी रहैं।
'हरिचन्द' जू भीजि रहैं हिय में मिलि पौन चले मद जागी रहैं।
नभ दामिनी के दमके सतराइ, छिपी पिय-अङ्ग सुहागी रहैं।
बड़ भागिनी वेई रहैं बरसात में, जे पिय कन्ठ सों लागी रहैं।
(भारतेन्दु)

फूलि कै फूलन में तनको तरु किंसुक कोतनिको लरजै ना।
आम हू बौरि कै बाग मैं बूझत बौरी बनावन मैं हरजै ना।
गूंजिबा त्यागि कै भृंग न ताइबे की 'हरिऔध' रखै गरजै ना।
कूकि कै काढ़त प्रान क्यों कोऊ कसाइनी बवैलिया को बरजै ना॥
(हरिऔध)

कूकन कौन सिखाई पिकीन जो बान लौ बेधि करै हिय पार ये।
कैसे समीर 'दमोदर' जू मकरन्द मिलै ते चलै बिषधार ये।
काहे पुरान गये झरि पल्लव, काहै नवीन भये रतनार ये।
हाय पलासन की डरियान पै, कौन धरै हैं अधूम अङ्गार ये॥
(दामोदर सहाय 'कविकिंकर')

(२) **आलम्बन रूप में प्रकृति-वर्णन**—आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन करते समय कवि प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है और इस प्रकार वह कवि के लिए साधन न रह कर साध्य बन जाती है। इस प्रकार का प्रकृति वर्णन मध्ययुगीन हिन्दी कविता में बहुत कम मिलता है। सेनापति पहले कवि थे जिन्होंने इस रूप में प्रकृति-वर्णन का सूत्रपात किया। बाद में रीतिकालीन कवियों की उद्दीपन रूप से प्रकृति-वर्णन करने की परिपाटी की प्रधानता के कारण यह परम्परा बहुत कुछ दब सी गई। रीतिकाल के अन्तिम चरण में और आधुनिक काल की संधि-वेला पर स्थित अयोध्या नरेश 'द्विजदेव' के काव्य में इसकी हलकी झलक मिलती है। पर वे अपवाद स्वरूप ही हैं। स्वयं भारतेन्दु की कविता में प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली उनकी बाद की रचनाओं में ही स्वल्प रूप में मिलती है। वस्तुतः 'प्रेमधन' और ठाकुर जगमोहनसिंह की कविताओं में इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन का अपेक्षाकृत आधिक्य है। बाद में पण्डित श्रीधर पाठक ने इस प्रकार की प्रकृति-वर्णन प्रणाली को बल दिया। उनके रूप में हमें प्रथमबार एक ऐसे कवि के दर्शन होते हैं जो प्रकृति की सुरम्य दृश्यावलि को देखकर हर्ष-विभोर होता है और बड़े उत्साह पूर्वक अपने काव्य में उसका चित्राङ्कन करता है। पाठक जी के पश्चात् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल,

'हरिऔध', सत्यनारायण 'कविरत्न', देवीप्रसाद 'पूर्ण' तथा डा० जगदीश गुप्त की रचनाओं में प्रकृति-वर्णन की इस प्रणाली के प्रचुर रूप में दर्शन होते हैं। इसके कुछ उदाहरण यों हैं।

जलनिधि जल गहि जलधर धारन धरनीधर घर आए।
पटल पयोधर नवल सुहावन इत उत नभ घन छाए।
फरफरात चंचल चपला मन धन-अवली दृग राजै।
रगजत घूमि घूमि छवै बादर धूम धूसरे साजै।
बारिद वृन्द बीच बिजुरी बलि चंचल चारु सुहानी॥
छिन उधरत छिपि जात छिनक छिन घटा छकित
सुखदानी॥ (जगमोहनसिंह)

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगी बसुधा लगौ सुखमा लहन।
लह लही लहरान लागी सुगन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगै झूमन बृच्छ मंजुल विपुल॥
(राय देवीप्रसाद 'पूर्ण')

कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत।
सुख सरसावत, हिय हरसावत जल बरसावत।
उछरि उछरि जल धार छिरक छित छररर छमकत।
चंचल चपला चम चमात पहुंधा चलि चमकति॥
(सत्यनारायण 'कविरत्न')

(३) उपदेश-ग्रहण :—प्रकृति से उपदेश-ग्रहण करने की प्रणाली मुख्य रूप से हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल में पनपी और रीतिकाल में अत्यधिक क्षीण होकर उत्तर-भारतेन्दु युग में यत्र-तत्र दिखाई पड़ी। वस्तुतः, आज के युग में कोरे उपदेश को सच्ची कला की सीमा से बाहर माना जाता है, इसी कारण प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली बहुत अधिक लोकप्रिय न हो सकी। फिर भी, विक्रम की बीसवीं-शताब्दी के मध्य में, देश में सुधारवाद की धारा के फलस्वरूप, यह प्रवृत्ति कुछ जोर पड़ती दिखाई पड़ती है। अतः जो भी बिरले उदाहरण उपलब्ध हैं उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

सूखे जरे बिरवा पुनिहूं हरि जू कै प्रताप सबै हरिएहैं।
मालती चारु चमेली गुलाब की सौरभ फेरि समीर समैहैं।
ते नलिनी अरविन्द के वृन्द सरोवर-वारि में सोभा सजैहैं।
कीजै न सौंच कछू अलि रावरै, बीते दिना सुख के पुनि ऐहैं॥
भ्रमराष्टक– (श्रीधर पाठक)

रितु बसन्त तृन, तरु, बल्लरि सब नव दल फूलन छावैं।
ज्यों सुकती जन राम कृपा ते सुख-सम्पति जस पावैं ।।
कूजत पिक, गूंजत अलिमाला, कलरव जन-मन मोहै।
ज्यों उदार जन-द्वार सदा ही जय-जय धुनि जुत सोहै ।।
रामगिर्याश्रम (भगवानदीन 'दीन')

(४) **रहस्यात्मक या परोक्ष सत्ता के रूप में**—वाह्य प्रकृति के कार्य-व्यापार में केवल जड़ और कार्य-कारण सम्बन्ध जनित क्रियाओं के अतिरिक्त किसी अन्य अलौकिक सत्ता की अनुभूति करना-प्रकृति वर्णन की इस प्रणाली के अन्तर्गत आता है वैसे तो यह प्रवृत्ति उतनी ही पुरानी है जितनी कि स्वयं मानवता, पर इसके सबसे पहले उदाहरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध हैं। बाद में संस्कृत साहित्य, तथा हिन्दी के आदि और भक्ति काल में यह प्रवृत्ति बहुत पनपी। समस्त रहस्यवादी कवियों की प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी रचनाएं किसी न किसी रूप में इसी भावना की व्यापक परिधि में अन्तर्भुक्त हो जाती हैं। कबीर, जायसी, आदि प्राचीन तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'हरिऔध' तथा बचनेश आदि नवीन कवियों की रचनाओं में इस प्रकार के वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए।

तू ही है सुमन, तू ही रङ्ग है प्रसूनन मैं,
सुखमा असीम तू ही तू ही हरियाली है।
तू ही नीर-नाली, घट-कुण्ड, तरु-मूल तू ही,
तू ही फलवाली, तू ही पात, तू ही डाली है।
जगत की बाटिका को सार सब भाँति तू ही,
तू ही ब्रह्म 'पूरन' करत रखवाली है।
भृंगन पतीर तू ही, भीर है बिहंगन की,
सौरभ समीर तू ही, स्वामी तू ही माली है। (पूर्ण)

———

तेरी ही कला से कलानिधि है कला-निधान,
है सकेलि तेरी केलि कलित पतङ्ग मैं।
गुरू गिरिगन हैं तिहारी गुरुता के लहे,
पावन प्रसङ्ग है तिहारी पूत सङ्ग में।
'हरिऔध' तेरी हरियाली से हरे हैं तरु,
ही हरि बिहर रहा है हर अङ्ग में।
तेरो रङ्ग ही है रङ्ग-रङ्ग के प्रसूनन में,
तू ही है तरङ्गित तरंगिनी-तरंग में। (हरिऔध)

———

भौन है जाको सवै बरम्हाण्ड, प्रदीप जहां रवि-चन्द उजारे।
पौन को पन्खा फरासी चलै 'बचनेस' जू झाड़ फनूस है तारे।। (बचनेश)

(५) **अलंकरण रूप में प्रकृति-वर्णन**—जहां प्रकृति के नाना पदार्थ कवि की अलंकरण वृत्ति के उपकरण-उपादान बनते हैं, वहाँ अलंकरण रूप में प्रकृति-वर्णन की सम्भावना देखी जाती है। इस प्रकार के वर्णन में प्रकृति का पूर्ण स्वतन्त्र चित्रण नहीं हो पाता है, अपितु केवल कुछ तत्वों; पदार्थों या व्यापारों का स्फुट नियोजन या आभास ही होता है। प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली सम्भवतः उतनी ही प्राचीन है जितनी स्वयं कविता, और संस्कृत साहित्य में तो कालिदास के पश्चात् की कविता में इसका प्राधान्य है। हिन्दी के विद्यापति, जायसी, सूर, तुलसी, केशव, बिहारी, देव आदि भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन कवियों में प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। रीतिकाल में तो इसकी इतनी प्रबलता दिखाई पड़ती है कि कहीं-कहीं अलंकारों के बोझ से दबकर प्रकृति का स्वरूप ही ओझल हो गया है। प्राक्-भारतेन्दु युग के कवियों में प्रकृति–वर्णन की यही प्रवृत्ति सबसे अधिक परिलक्षित होती है और स्वयं भारतेन्दु की पूर्ववर्ती रचनाओं में इसकी अधिकता है। भारतेन्दु-मण्डल के सभी कवि प्रकृति-वर्णन के लिए इसी प्रणाली का सर्वाधिक प्रयोग करते हैं। पर युग परिवर्तन के साथ-साथ सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के साथ-साथ यह परिपाटी भी क्षीण होने लगी। वस्तुतः, अलंकरण की यह प्रवृत्ति रीतिकालीन वैभव-विलास की प्रतीक थी और ज्यौं-ज्यौं उसका पतन होता गया त्यौं-त्यौं प्रकृति-वर्णन की यह परिपाटी भी क्षीण होती चली गई। गाँधी जी के सादा जीवन तथा उच्च-विचार वाले उपदेश के कारण यह प्रवृति और अधिक क्षीण हो गई। खड़ी बोली कविता के छायावादी युग में यद्यपि अलंकरण की प्रवृत्ति का प्रावल्य दिखाई पड़ता है पर देश की आर्थिक विपन्नता और राजनीतिक दुर्दशा के युग में इस प्रकार की परम्परा कहाँ तक शोभन थी—यह निर्णय करना कठिन है। गद्य के इस युग में, वैसे भी, सादगी और सरलता का साम्राज्य है। परिणामतः अलंकरण की प्रवृत्ति मन्द से मन्द तर होती चली गई। कविता के क्षेत्र में रस सिद्धान्त की पुर्नप्रतिष्ठा तथा विज्ञान और तर्क की प्रधानता में अलकरण की पद्धति को कम करने में बड़ा महत्वपूर्ण योग दिया है। वैसे, खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा-कविता में अलंकरण की पद्धति अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्राप्त है और पुरानी धारा के कवि आज भी इसी पद्धति का अवलम्बन कर काव्य-सृजन करते हैं। प्रकृति-वर्णन की इस प्रणाली के कुछ उदाहरण अधोलिखित हैं:—

बाहन बयारि बैल ओपत अपार पुनि,
विमल बकाली मुण्ड माल कंठ धारे है।
बादर विभूत वेष अंगनि लगाय लसै,

डमरू निनाद नेक दादुर पुकारे है।
घुरवा घसान जटा फैलि कै फलत पुन,
भाल में त्रिपुंड वोरी भाय बहु भारे हैं।
'गोविन्द' कहत राखे संकर को रूप यहि,
नैननि निहारि आली पावस पधारे हैं।
(गोविन्द गिल्लाभाई)

———

परत चन्द्र प्रतिबिंब कहूं जलमधि चमकायो,
लोल लहर लहि नचत कबहुं सोई मन भायो।
कबहुं होत सत चन्द, कबहुं प्रगटत, दुरि भाजत,
पवन गवन बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत।
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करत कलोलै।
कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी सोहत इत उत धावती,
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रजरमनी जल आवती।
(भारतेन्दु)

———

विकसित विपिन बसंतिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिनि के अंग पियराने मैं।
बौरे वृन्द लसत रसाल वरु वारिनि के,
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं।
होत पतझार झार तरुनि-समूहनि कौ,
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं।
काम-बिधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने मैं। (जगन्नाथदास 'रत्नाकर')

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में प्रकृति-वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है और प्रकृति-चित्रण की प्रायः सभी प्रचलित प्रणालियां उसमें प्राप्त हैं। कहना असंगत न होगा कि आज का सामान्य ब्रजभाषा-कवि अपने खड़ी बोली के रचनाकार की अपेक्षा प्रकृति-चित्रण में अधिक अभिरुचि रखता है और आज जब साहित्य-क्षेत्र में मानव-प्रकृति के चित्रण को प्रधानता दी जा रही है, वह पूरी तल्लीनता के साथ प्रकृति देवी की अर्चना में रत है।

अलंकारमयता के स्थान पर रस-मयता की प्रतिष्ठा आधुनिक काल जिस रीतिकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप आगे आया, उसे हिन्दी साहित्य के कई इतिहासकारों ने कला-काल[1] और अलंकृत काल की संज्ञा दी है। कुछ आलोचक भले ही इन

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (डा० रामशंकर शुक्ल रसाल) पृष्ठ ३७६

नामों और इनके साथ ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रदत्त रीतिकाल अभिधान से सहमत न हों, पर इस बात में हिन्दी के प्रायः सभी समीक्षक एकमत हैं कि वह युग भावपक्ष की अपेक्षाकृत क्षीणता और कलापक्ष की समृद्धि का युग था। अतः ऐसे युग के ठीक बाद आने वाले काल पर अपने पूर्ववर्ती युग का थोड़ा बहुत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। साथ ही, साहित्य के इतिहास में, साधारण इतिहास की भांति दो विभिन्न कालों में, गणित जैसी स्पष्ट सीमा-रेखा खींचना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव होता है। इस दशा में पूर्ववर्ती युग की थोड़ी बहुत छाया परवर्ती युग को विरासत के रूप में अवश्यमेव प्राप्त होती है। अतएव यह कहना समीचीन ही होगा कि आधुनिक काल के प्रारम्भिक दो-तीन दशकों में रीतिकालीन काव्य प्रवृत्तियों का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। इस युग की पतनोन्मुखी प्रवृति बुझते हुए दीपक की भाँति एक बार अपनी समस्त क्षीण शक्ति संचित कर, अपना पूरा प्रभाव दिखाना चाहती थी। नवयुग के वैतालिक-भारतेन्दु स्वयं भी वंश-परम्परा, शिक्षा-दीक्षा तथा संस्कार से उसी वैभवशाली परिपाटी की एक कड़ी थे। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने युग की परिवर्तित परिस्थिति को पहचान कर अपने को बहुत सीमा तक उन जीर्ण-शीर्ण संस्कारों से मुक्त करने की चेष्टा की। इसी के परिणाम स्वरूप उनके जीवन काल में ही साहित्यिक आदर्शों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा था। अलंकार-मयता के स्थान पर साहित्य-क्षेत्र में रसमयता की प्रतिष्ठा भारतेन्दु युग की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि है। साहित्य और जीवन को परस्पर सम्बद्ध करने के महत्वपूर्ण कार्य में भारतेन्दु को पुनः भारतीयों की चिर प्राचीन प्रवृत्ति—शरीर की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्व देने की परिपाटी को पुर्नजीवित करना पड़ा। समग्र भारतीय साहित्य और दर्शन में इस धारणा के अपवाद भले ही मिल जांय पर वे इतने विरल हैं कि उन्हें इस देश की चिन्तन-धारा के प्रतिकूल ही कहा जायगा। अतः जब भारतेन्दु ने अलंकार और रीति का कृत्रिम बाना उतार कर काव्य के वास्तविक, स्वस्थ और शोभन स्वरूप को परखा तो उन्हें अपने जन्मजात संस्कारों से अवश्य जूझना पड़ा होगा। पर भारतेन्दु के युगान्तरकारी व्यक्तित्व में ऐसी अपार क्षमता विद्यमान थी और उन्हें छोड़कर आधुनिक युग का अन्य कोई साहित्यकार इतना क्रान्तिकारी पग नहीं उठा सकता था। इस प्रकार उन्होंने जो महत्वपूर्ण कार्य किया वह बहिरंग पर अंतरंग की और शरीर पर आत्मा की विजय का द्योतक था। यही नहीं, कृत्रिम पर सहज की और बनाव-शृंगार पर सरल सौन्दर्य की विजय थी। इस युग के सभी कवियों पर इस महत्वपूर्ण परिवर्तन की स्पष्ट छाप दिखाई देती है और विशेष कर 'प्रेमधन' प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहनसिंह, रामकृष्ण वर्मा तथा राधा-चरण गोस्वामी पर तो इसकी बहुत गहरी छाप है। जो दो-चार कवि उस समय भी अलंकारमयता की उपासना में तल्लीन दिखाई पड़ते हैं, उन पर निश्चय ही रीति-कालीन वैभव-विलास के अन्तिम अवशेषों की क्षयग्रस्त छाया है।

उत्तर-भारतेन्दु युग में रसधारा की यह पयस्विनी क्षीण पड़ती हुई दिखाई देती है पर इतना अवश्य है कि रस के स्थान पर अलंकारों की पुनर्प्रतिष्ठा नहीं हो पाई। द्विवेदी जी जैसा व्यावहारिक और व्यवस्था-पटु व्यक्ति इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति को तो सहन कर सकता था पर अलंकरण की प्रवृत्ति को पुनः प्रतिष्ठित करना कभी न सह सकता था। कल्पना की रंगीनी पर आधारित यह प्रवृत्ति उस समय के कवियों को वास्तविक जीवन से बहुत दूर घसीट ले जाती थी और इस प्रकार वे अपनी साहित्यिक निष्ठा की जड़ें हिलती हुई अनुभव करते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस युग में भी कुछ गिने चुने राज्याश्रित कवियों—रत्नाकर, ब्रजेश, अम्बिकेश, बिहारी ब्रह्मभट्ट, रामाधीन खरे तथा काव्य-रचना में लीन कुछ देशी नरेशों—राव कृष्णदेव शरण सिंह 'गोप' राजेन्द्र सिंह 'सुधाकर' व सर रामसिंह ने इस पुरानी प्रवृत्ति से चिपके रहने की भावना का प्रदर्शन किया है। पर ऐसे लोग या तो धीरे-धीरे कम हो रहे हैं अथवा उनमें भी युग के अनुरूप साहित्य रचना की प्रवृत्ति घर करती जा रही है। इस प्रवृत्ति-भेद को स्पष्ट करने के लिए हमें भारतेन्दु की पूर्ववर्ती और परवर्ती रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करना होगा तथा उत्तर-भारतेन्दु युग के साधारण कवियों और राज्याश्रित कवियों की रचनाओं के मूल स्वर का अन्तर परखना पड़ेगा। उदाहरण के लिए भारतेन्दु की एक पूर्ववर्ती कविता इस प्रकार है: -

> प्यारी-रूप-नदी छवि देत,
> सुखमा-जल भरि नेह-तरंगनि बाढ़ी पिय के हेत ॥
> नैन-मीन कर-पद-पंकज से सोभित केस-सिवार।
> चक्रवाक जुग उरज सुहाए लहर लेत गल हार ॥
> रहत एक-रस भरी सदा यह जदपि, तऊ पिय भेंटि।
> 'हरीचद' बरसै साँवल घन बढ़त कूल-कुल मेटि ॥

—प्रेमाश्रु वर्षण १८

और उनकी परवर्ती कविता इस प्रकार है:—

> आजु लौं न मिले तो कहा, हमतो तुम्हरे सब भांति कहावैं।
> मेरो उराहनो है कछु नाहिं, सबै फल आपुने भाग को पावैं ॥
> जो 'हरिचंद' भई, सो भई अब प्रान चले चहैं, तासों सुनावै।
> प्यार जु है जग की यह रीति, बिदा के समै सब कंठ लगावैं ॥

—प्रेम माधुरी ५६

स्पष्ट है कि पहली कविता में सांग-रूपक का चमत्कार है जबकि दूसरी रचना में अनुभूति-जन्य मार्मिक भावनाओं का सहज और स्वाभाविक चित्रण ही दीखता है। इसी प्रकार उत्तर-भारतेन्दु युग के साधारण और राज्याश्रित कवियों की रचनाओं में जो मूलभूत अन्तर है, वह निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा—

घर बार विसारि दियो सिगरौ, गुरु लोगन की नहिं भीति करी।
सखियान की सीख सुनी ना कछू, कुछ न्यारी ही लोक तें रीति करी।।
समझावति ही बहु भाँति हमैं, सब भूलि कै हा परतीति करी।
हमही यह लाल अनीति करी, तुम ते बिनु जाने जो प्रीति करी।।

उक्त रचना भारतेन्दु के एक सहयोगी—रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर' की है जिसमें अत्यन्त सीधी-साधी भाषा में अनुभव पर आधारित प्रेम-भावना को मार्मिकता के साथ व्यक्त किया गया है। जबकि नीचे लिखी कविता में एक राज्याश्रित कवि की अतिशय अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। यथा—

सौरभित सारी सेत, सोहत सुमन-हार,
सारदा ते सुषमा सवाई उछरति है।
कहत 'ब्रजेश' बैठी सोलहो शृंगार करि,
रम्भा कौ, रमा कौ, रंग-रूप निदर्रति है।
आरसी से आंगुरी में चन्दन लगाइ चारु,
चित्र चारु गोलन कपोलन करति है।
आरसी सु छवि स्यामा, आरसी करन स्यामै,
आरसी में मानों जंत्र आरसी भरति है।।

उक्त छन्द रींवा राज्य के राज्याश्रित कवि 'ब्रजेश' का है, जिसमें एक साथ ही अनुप्रास, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा तथा यमक आदि अलंकारों का जो घटाटोप दिखता है, उसके कारण कवि की वर्ण्य-वस्तु अर्थात नायिका की श्री-सुषमा पर पाठक की दृष्टि जा ही नहीं पाती।

वर्तमान युग में तो एक प्रकार से अलंकारिता को काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। वस्तुतः, आज का कवि यथार्थ जगत की बातों को सहज स्वाभाविक शैली तथा दैनिक प्रयोग की भाषा में प्रकट करना चाहता है। अलंकार प्रयोग की रमणीयता को समझने के लिए मस्तिष्क पर जो जोर डालना पड़ता है, वह अनायास ही अन्तर में उतर कर पाठक के मर्म को स्पर्श नहीं कर पाता है। सुधारवादी आन्दोलन के फलस्वरूप अतिशय शृंगार से घृणा करने की प्रवृत्ति ने भी अलंकारमयता को कम करने में योग दिया है और आलोचना के क्षेत्र में रस-सिद्धान्त की महत्ता तथा समीक्षा-शास्त्र के सतत अध्ययन द्वारा काव्य-जगत में रस-मयता की महत्ता, अपने आप बढ़ने लगी। परिणाम स्वरूप अलंकारों का प्रयोग रस के सहायक रूप में होने लगा। उनका अपना निजी महत्व समाप्त हो गया। ज्यों-ज्यों बात की करामात वाली चमत्कार-प्रधान कथन-प्रणाली, जो कि मुख्यतः सामन्ती युग की देन थी, समाप्त होने लगी, लोगों का ध्यान वाणी-विलास और कोरे कला वैभव की ओर से हटने लगा। वह तो मुख्यतः बैठे-ठाले राजा-महाराजाओं के मनोरंजन

अथवा शास्त्र के विवेचन में निरत कोरे विद्वानों के उपयोग की वस्तु थी। जन-सामान्य से उसका विशेष सम्बन्ध न था। ऐसी स्थिति में अलंकारों का महत्त्व धीरे-धीरे घटता गया और उसके स्थान पर रस की महत्ता होती गई। यहां यह उल्लेख कर देना उचित ही होगा कि पुरानी ब्रजभाषा-कविता पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि अपनी अतिशय मधुरता के कारण उसमें शृंगार, शान्त, करुण आदि कोमल रसों की व्यंजना तो प्रचुरता से हुई है, पर वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, रौद्र आदि कठोर रसों की व्यंजना पर्याप्त रूप में नहीं हो पाई है। पीछे दूसरे अध्याय के अन्तर्गत इस बात की विस्तृत चर्चा करदी गई है कि ब्रजभाषा-कविता में सभी रसों को सफलतापूर्वक व्यंजित करने की पूरी-पूरी शक्ति विद्यमान है। यहां तो संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त है कि वीर-रस के क्षेत्र में 'अनूप', 'ब्रजेश', 'अम्बि-केश' तथा 'सरस', भयानक रस के क्षेत्र में 'रत्नाकर' तथा 'हरिऔध', रौद्र के क्षेत्र में रसिकबिहारी तथा लछिराम, अद्भुत के क्षेत्र में 'पूर्ण' तथा 'शंकर' और वीभत्स रस के क्षेत्र में हरिश्चन्द्र तथा 'हरिऔध' की रचनाएं विशेष धार्मिक बन पड़ी हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक काल की ब्रजकाव्य-धारा अलंकारों के दल-दल से निकलकर रस की पयस्विनी की ओर प्रवाहित है और उसमें सभी रसों की उप-धाराएं उपलब्ध हैं।

वादों के विवाद से अलगाव मिलती-जुलती भाव-धारा को लेकर लिखी गई विभिन्न रचनाओं के समूह या समुच्चय में सन्निहित प्रबल समान-धर्मी प्रवृत्ति को साहित्य क्षेत्र में 'वाद' की संज्ञा दी जाती है। यद्यपि वादों का नारा आजकल बहुत सुनाई पड़ता है पर आज से शताब्दियों पूर्व संस्कृत-साहित्य के दर्शन और काव्य-क्षेत्र में इस शब्द का बहुत प्रचार था। अतः यह कहना तो बहुत कठिन है कि 'वाद' शब्द का सर्व प्रथम प्रयोग कब और कहाँ मिलता है, पर दर्शन और काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद, शून्यवाद, अद्वैतवाद, अलक्षणीयता-वाद, वक्रोक्तिवाद आदि शब्दों की प्राचीनता इस बात की सूचक है कि इनका प्रचलन अत्यधिक प्राचीन काल से पाया जाता है। यद्यपि इन्हें आज जो महत्व मिला है, वह विगत में कभी भी प्राप्त न था। आज तो प्रत्येक-प्राचीन या नवीन विचार-धारा को 'वाद' के 'लेबिल' से संयुक्त करके ही देखा जाता है। आधुनिकवादों के जन्म-स्थान पश्चिम में भी वादों के धूमकेतु १९ वीं शताब्दी के मध्य तक साहित्यिक-क्षितिज पर उदय नहीं हो पाए थे। भारत में इनकी इतनी अधिक चर्चा विशेष रूप से वहीं के अनुकरण पर हुई। जहाँ तक हिन्दी का सम्बन्ध है, पश्चिम से आई हुई विचार-धारा बंगला के माध्यम से हिन्दी तक आती थी और फिर अन्धानुकरण के रूप में सर्वत्र व्याप्त हो जाती थी। खड़ी बोली कविता में द्विवेदी युग के मध्य से ही वादों की चर्चा जोर पकड़ने लग गई थी पर इसका व्यवस्थित सूत्रपात पंडित रामचन्द्र शुक्ल के 'काव्य

में रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् हुग्रा । फिर तो ग्रंग्रेजी ग्रौर ग्राधुनिक भारतीय भाषाग्रों के ग्रध्ययन के परिणामस्वरूप साधारण से साधारण कवि की सामान्य से सामान्य रचना को किसी न किसी वाद की कोटि में परिगणित किया जाने लगा । सूक्ष्म विवेचन ग्रौर ग्रध्ययन की प्रवृत्ति की वृद्धि के साथ-साथ वादों की संख्या में भी वृद्धि होती गई ग्रौर फिर तो रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, यथार्थवाद, ग्रतियथार्थवाद, प्रभाववाद, हालावाद, निराशावाद, दुःखवाद ग्रादि की भीड़ ग्राजमी ।

वस्तुत: वाद शब्द के मूल में विवेचन ग्रौर विश्लेषण की प्रवृत्ति सन्निहित है, क्योंकि हमारे यहाँ कहा भी गया है–'वादे वादे जायते तत्वबोधः । पर जब 'वाद' साधन न रहकर साध्य बन जाता है तो साहित्य के लिए ग्रहितकर हो जाता है। उस स्थिति में रची गई कविता तत्वबोध की मंगलमयी स्थिति से हटकर केवल गतानुगतिक या परम्परा-मुक्त बन जाती है ग्रौर शब्दावली तथा भाषा-शैली में पूर्वाग्रह के कारण स्वाभाविकता की समाप्ति हो जाती है । खड़ी बोली कविता में सन् १९२० से ग्रब तक का समय विभिन्न वादों के विवाद से ग्रस्त रहा । परिणाम यह हुग्रा कि इस काल की कुछ महत्वपूर्ण रचनाग्रों को छोड़कर शेष में एकरसता, परम्परा पालन ग्रौर संकीर्णता की गन्ध ग्राने लगी । उदाहरण के लिए छायावादी युग की किन्हीं सौ कविताग्रों को पढ़ जाइए । सभी में लौट फिराकर वे ही गिने-चुने वर्ण्य-विषय, घुमा फिराकर वही मिलती-जुलती शब्दावली ग्रौर बहुत सीमित ग्रप्रस्तुत-योजना मिलेगी । इस प्रकार वाद-विशेष में जकड़ी हुई कविता एक स्थान पर रुके हुए पानी की भाँति ग्रस्वस्थकर तथा ग्रनाकर्षक हो जाती है । यद्यपि बाद में प्रगतिवादी ग्रौर प्रयोगवादीर चनाग्रों में यह प्रवत्ति कुछ कम होने लगी। पर वादों का बाहुल्य राजनीति की भाँति साहित्य में भी यथापूर्व रहा ।

सौभाग्य का विषय है कि ग्रारम्भ से ही ग्राधुनिक ब्रजभाषा-कविता 'वादों' की ग्रोर ग्राकृष्ट नहीं हुई । वह किसी संकीर्ण परिधि में बन्दिनी बनकर बैठ न गई ग्रौर इसके कुछ निश्चित कारण थे । सर्व प्रमुख कारण यह था कि ब्रजभाषा के कवि केवल कवि ग्रौर निरे कवि थे । वे कवि होने के साथ-साथ ग्रालोचक, साहित्य-शास्त्र के विद्वान या साहित्यिक नेता ग्रादि कुछ न थे ग्रौर न वैसा होने का दम्भ ही भरते थे । वादों की महत्त्व वृद्धि में उक्त तीनों वर्ग के लोग ही विशेष सहायक होते हैं । ग्रपनी व्यक्तिगत महत्ता की भूख, ग्रपनी विचारधारा के पीछे ग्रनुयायियों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भीड़ को देखने की बलवती लालसा ग्रौर भावी इतिहास में विशिष्ट सम्मान के साथ ग्रपने उल्लेख की सम्भावना—ये ही कुछ प्रवृत्तियाँ हैं जो वादों का प्रवर्तन करती हैं ग्रौर इस युग में ब्रजभाषा कवियों में, जो भी विशिष्ट व्यक्तित्व थे, उनके मन में कभी भी इस प्रकार की कल्पना तक नहीं जगी । कारण

यह था कि इन कवियों के लिए कविता स्वान्तः सुखाय थी, वह हृदय और अनुभूति की वस्तु थी, विवेचन और विश्लेषण की नहीं। अतः ये कवि वादों के पचड़े में नहीं पड़े। यही नहीं, कुछ गिने चुने अपवादों को छोड़कर, निम्न मध्य वर्ग से सम्बन्धित होने के कारण इन कवियों में साहित्यिक नेता या वाद विशेष के प्रवर्तक बनने की अभिलाषा पनप ही न पाई। साथ ही, पश्चिमी सभ्यता और साहित्य के अत्यल्प प्रभाव के कारण ब्रजभाषा-कविता वादों के विवाद में पड़ने से बचती रही।

इस सबका परिणाम बहुत शुभ और सुखद हुआ। कवियों की दृष्टि अत्यन्त व्यापक, उन्मुक्त और उदार बनी रही। भाव, भाषा या शैली — किसी भी क्षेत्र में वे प्रवृत्ति-विशेष से बंधकर नहीं बैठ गए। परिणाम यह हुआ कि विषयों का विस्तार, काव्य रूपों की विविधता, छन्दों के प्रयोग, वैविध्य तथा समसामयिक भाषाओं और साहित्यों से प्रभाव ग्रहण करने की स्वस्थ प्रवृत्ति — की गतिशील प्रवृत्तियां आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में स्थान पाती रही। गद्य की गरिमा, तर्क और विज्ञान की महिमा तथा श्रद्धा-भक्ति की लघिमा के इस युगमें ब्रजभाषा-कविता की धारा जीवन्तगति से प्रवाहित होती रही इसके मूल में जो अनेक तत्व सहायक हैं उनमें वादों के विवाद से अलगाव भी प्रमुख स्थान रखता है। यदि वादों के विवाद में ग्रस्त हो गई होती तो उसकी विकासशीलता स्वयमेव नष्ट हो गई होती। समसामयिक खड़ी बोली कविता की तुलना में ब्रजभाषा-कविता की यह स्वस्थ परम्परा साहित्यिक विकास की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है और हिन्दी कविता का विवेचन करने वाला भावी इतिहासकार जब भी कभी विवेकपूर्ण दृष्टि से विक्रम की बीसवीं शताब्दी में काव्य-धारा का विश्लेषण करेगा तो ब्रजभाषा-कविता की यह विशेष प्रवृत्ति अत्यधिक गौरव के साथ स्मरण करेगा — यह निर्विवाद है।

ब्रजभाषा—नाटकों में काव्य

अलोच्य-काल में मौलिक काव्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त साहित्य की एक अन्य विधा के माध्यम से भी प्रचुर मात्रा में काव्य-राशि सामने आई। यह माध्यम था नाटकों का, जिनकी मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार की कृतियों में कविता का प्राधान्य उपलब्ध था। सुदूर भविष्य में हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने वाले सुधी समीक्षक को यह बात अवश्य भ्रम में डाल देगी कि कविता और नाटक साहित्य की दो परस्पर विभिन्न विधायें होते हुए भी, इस काल में किस प्रकार एक दूसरे के इतना समीप आगए कि नाटकों में काव्य-तत्व का प्राधान्य होने लगा। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इस समन्वय और सम्मिश्रण के अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि संस्कृत साहित्य में नाटकों की गणना दृश्य-काव्यों के अन्तर्गत ही की जाती थी। अतः बहुत प्राचीनकाल से संस्कृत नाटकों में गद्य की उपेक्षा पद्य और पद्य में भी सरस कविता का प्राधान्य होता आया था। संस्कृत की प्रत्यक्ष उत्तराधिकारिणी के रूप में

हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति आ घुसी और इस प्रकार नाटकों में बहुत दिनों तक काव्य-तत्व की प्रधानता दृष्टिगोचर होती रही। दूसरा कारण यह था कि गद्य के सशक्त माध्यम के अभाव में इस काल के हिन्दी नाटकों में पद्य का प्राधान्य ही पाया जाता है, जिसका कारण सम्भवत: यह है कि अभिनय करते समय गद्य की अपेक्षा पद्य को स्मरण करना अधिक सरल और सुगम होता है। इन्हीं कारणों से प्राक्-भारतेन्दु तथा भारतेन्दु युग के नाटकों में व्रजभाषा कविता की अधिकता रही। उत्तर भारतेन्दु युग के भी कुछ गिने चुने नाटकों में यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, पर वहां यह बहुत कम मात्रा में है। आश्चर्य यह है कि इन नाटकों में नाटकीयता का तत्व तो कम है पर कविता-तत्व की प्रधानता है।

हिन्दी नाट्य-साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन करने वाले लगभग सभी विद्वान[1] इस विषय में एकमत हैं कि इन पद्य-प्रधान या साहित्यिक-नाटकों में नाटकीय गुणों का न्यूनाधिक अभाव है, लेकिन जहां तक उनके पद्य-भाग का सम्बन्ध है उनमें कहीं-कहीं बहुत सरस और मार्मिक कविता की सृष्टि हुई है। भारतेन्दु ने रींवां नरेश महाराजा विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' को हिन्दी का प्रथम मौलिक नाटक माना है। पर सत्य यह है कि हिन्दी का पहला नाटक, जिसे सच्चे अर्थों में नाटक कहा जा सकता है, स्वयं उन्हीं के पिता बाबू गोपालचन्द्र उर्फ गिरिधर दास का लिखा हुआ नहुष (सम्वत १९१६) नाटक था। फिर तो भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के प्रयत्नस्वरूप नाटक लेखन की एक समृद्ध परम्परा सामने आती है। यही नहीं, संस्कृत तथा बंगला से अनूदित नाटकों की भी एक महत्वपूर्ण परिपाटी इस समय देखने को मिलती है। मौलिक तथा अनूदित नाटकों के अतिरिक्त कुछ अर्ध-मौलिक या विभिन्न भाषाओं के मूल नाटकों के आधार पर रचित नाटकों की भी रचना हुई है। इस युग की प्रमुख नाट्य-कृतियां इस प्रकार हैं:—

मौलिक—नीलदेवी, सती प्रताप, प्रेमयोगिनी, भारत-दुर्दशा, विषस्यविषमौषधम् (भारतेन्दु) तप्तासंवरण, संयोगिता स्वयंवर (श्रीनिवास दास) महाराणा प्रताप दुखिनीवाला, पद्मावती (राधाकृष्णदास) मयंकमंजरी (किशोरीलाल गोस्वामी) माधुरी रूपक (राव कृष्णदेव शरण 'गोप)

अर्धमौलिक या रूपान्तरित —सत्य हरिश्चन्द्र, श्रीचन्द्रावली (भारतेन्दु)।

अनूदित—रत्नावली, मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी, विद्यासुन्दर(भारतेन्दु) शकुन्तला, विक्रमोर्वसीयम् (लक्ष्मणसिंह) रत्नावली, मालविकाग्निमित्रम (लाला सीता राम) मृच्छकटिक (गदाधर भट्ट)।

---

[1]बाबू व्रजरत्नदास, डा० सोमनाथ गुप्त, बाबू गुलाबराय, डा० गोपीनाथ तिवारी डाक्टर दशरत ओझा, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि।

प्रत्येक क्रिया एक प्रतिक्रिया होती है। इसी नियम के अनुसार विक्रम की १९वीं शताब्दी की समाप्ति तक आते-आते साहित्य का यह सामंती तिलिस्म टूटा। राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों की चोट खाकर तथा कथित अभिजात्य वर्ग का यह कुचक्र घहरा कर गिरा, जिसके परिणाम स्वरूप राजाओं का आश्रय या तो समाप्त होने लगा या धीरे-धीरे कम होने लगा। ऐसी स्थिति में राज्याश्रय-विहीन कविगण सहसा कल्पना-लोक की ऊंचाई से धरती पर आ गिरे। फल वही हुआ जो होना था। आकाश में उड़ने वाले जीव जब कुरूप और धूलि-धूसरित धरती पर आ गिरे और कोई अन्य विकल्प न देखकर अस्तित्व की रक्षा के लिए कटु और तिक्त यथार्थ से समझौता कर बैठे। लोक-काव्य के सृजन का रहस्य कुछ ऐसा ही रहा होगा।

आधुनिक काल के अग्रदूत-भारतेन्दु ने युग की नाड़ी देखकर यह भाव लिया था कि अतीत भले ही व्यष्टि की मुट्ठी में छटपटाता रहा हो, पर भविष्य की मुस्कान समष्टि के अधरों पर ही खेल सकेगी। जन्म, शिक्षा-दीक्षा और संस्कारों से राजसी वर्ग से सम्बन्ध रखकर भी वे मुख्यतः जनता के व्यक्ति थे, और जीवन की गहराइयों में डूब-डूब कर रस लेने के अभ्यस्त। वे उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो किनारे पर बैठकर भयभीत दर्शक के रूप में लहरें गिनकर ही संतोष कर लेते। ऐसी दशा में उनके लिए यह उचित ही था कि साहित्य के क्षेत्र में नवयुग का शंख फूंकते समय वे केवल गिने चुने जागरूक, उद्बुद्ध, शिक्षित तथा अभिजात्य लोगों को जागरण का मन्त्र-नाद न सुनाते अपितु अशिक्षित, दीन-हीन, साधन विहीन तथा निम्न वर्ग के लोगों के कानों में भी प्रभाती की धुन छेड़ते। नवयुग के इस वैतालिक ने जन-भाषा और जन-गीति में लोक-रंजन के इस शक्तिशाली माध्यम के प्रति प्रेम की विरासत लेकर उसका उपयोग व्यापक मात्रा में किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की : उनके संगीत-शास्त्र के ज्ञान तथा गायन-प्रेम ने इस क्षेत्र में उनकी बड़ी सहायता की, जिसके फलस्वरूप उन्होंने कजली, बारहमासा, ठुमरी, दादरा, डफ, होली, चैती, लावनी, गज़ल आदि प्रत्येक लोक-प्रिय शैली में जन-काव्य की रचना की और इन सब को शिष्ट-काव्य की प्रसादी देकर न केवल पल्लवित किया अपितु कृष्ण-काव्य की गाथा-काल की लोक-प्रियता को भी इनके द्वारा प्रसृत और पुनर्जीवित किया[1]। इसी कारण उनके जीवन काल में उनकी रचनाएं दूर-दूर तक के गायक और गायिकाओं की जीभ पर नाचने लगीं।

भारतेन्दु की इस प्रवृत्ति का प्रभाव उनके समसामयिक सभी साहित्यकारों पर पड़ा, जिनमें प्रेमघन, प्रतापनरायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास तथा खड्गबहादुर मल्ल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इन साहित्य-प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त काशी-

[1] सम्मेलन पत्रिका (भाग ३७, अंक १) में विद्यानिवास मिश्र का लेख, पृष्ठ ५२

गिरि बनारसी, श्यामाचरण मुखोपाध्याय, आदितराम, जमशेदजीहोरमसजी पीरान आदि लोक-काव्यकारों के नाम भी इस क्षेत्र में आदर के साथ लिये जा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लोक-काव्य की इस धारा के वर्ण्य-विषय पूर्णतया लोक-जीवन से ही लिए गए हैं और उनमें लगभग उन सभी विषयों का समावेश पाया जाता है जो समसामयिक जीवन को प्रभावित कर रहे थे। उदाहरण के लिए टैक्स, अकाल, अंग्रेजी भाषा, अदालत, अहल्कार, कंजूस, देश की दयनीय स्थिति आदि। जहां तक भाषा का सम्बन्ध है यह निश्चित है कि इनमें विशुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग कम ही मिलता है। स्थानीय बनारसी बोली, अवधी तथा भोजपुरी के पुट ने इस लोक-काव्य की परम्परा को जन-जीवन के अधिक निकट ला दिया था। इस काव्य के कुछ उल्लेखनीय उदाहरण इस प्रकार हैं:—

होली— हम चाकर राधा रानी के
ठाकुर श्री नंदनंदन के, वृषभानु लली ठकुरानी के
निरभय रहत बदत नहि काहू, डर नहिं डरत भवानी के
'हरीचद' नित रहत दिवाने सूरत अजब निवानी के। (भारतेन्दु)

लावनी— रसहू अनरस में एक सरिस रस राखै
सोइ सरस हृदय बस प्रेम सुधा रस चाखै
चित ते बिसरावे चिन्ता दुहु लोकन की
सब सक तजे निज जीवन और मरन की
समुझै इक ही सी प्रीति बैर जग जन की
मन-भावनमै सब करै भावना मन की
मोरे भावनहू और न कछु अभिलाखै
सोइ सरस हृदय बस प्रेम सुधा रस चाखै (प्रतापनरायण मिश्र)

ठुमरी— सजन तोरी हो मुख देखे की प्रीत
तुम अपने जोबन मद माते कठिन बिरह की रीति
जहां मिलत तहां हंसि हंसि बोलत, गावत रस के गीत
'हरीचंद' घर घर के भौंरा, तुम मतलब के मीत। (भारतेन्दु)

दादरा— तोहि छैला मैं छाती लगाए रहिहों
आंखिन ते कछु दूरि न करिहौं, पुतरी प्यारे बनाए रहिहौं
पलकन ते नित पांय दाबि कै, उर पर सदा सोआए रहिहौं
जो कछु भौंह चढ़ी देखिहों तौ, परि परि पैयां मनाए रहिहौं
डारि गरे तोरे अपनी बहियाँ, प्रेम के जाल फंसाय रहिहौं
प्रिय प्रताप तोरी इक इक छबि पर, दूनो लोक लुटाए रहिहौं।

कजली—बन बन गाय चरावत घूमो, ओढे कारी कमरी।
तुम का जानो रस की बतियाँ, हौ बालक रगरी,
बेईमान, दान कस मांगत, गहि गहि बहियाँ हमरी
सीखौ प्रेम 'प्रेमघन' अबहीं, छोड़, मोरी डगरी। (प्रेमघन)

भारतेन्दु युग के पश्चात् लोक-काव्य की यह धारा धीरे-धीरे क्षीण होने लगी। कारण यह था कि इस में कविगण तथा-कथित शिष्ट साहित्य की महत्ता को ध्यान में रखकर इस प्रकार की रचनाओं को कुछ निम्न स्तर की वस्तु समझने लगे। यद्यपि इस काल में रंगपाल, वचनेश, सारदरसेन्द्र, हृषीकेश चतुर्वेदी आदि ने लोक-काव्य की इस धारा को यथा सम्भव जीवित रखने का प्रयत्न किया पर उसकी साहित्यिक उत्कृष्टता में अन्तर अवश्य आगया। इसके साथ-साथ ब्रज-प्रदेश के बाहर रहने वाले ब्रजभाषा-कवियों ने इस धारा को लगभग त्याग सा दिया। अतः इस प्रकार का काव्य बहुत कुछ मूल ब्रजभाषा-भाषी प्रदेश की ही परिधि में सीमित हो गया और आगे चलकर तो हिन्दी कविता में इतिवृत्तात्मिकता और शिष्टता की जो आंधी आई तो हिन्दी का कवि श्रीहर्ष और पोप का प्रपितामह बनने में गौरव समझने लगा। उसे अपने बगुल पंख के आगे बन-विहारिणी पिकी की श्यामल-कांति तुच्छ लगने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी कविता के सौंदर्य का मापदण्ड बनी उसकी दुर्बोधता और उसकी रुनझुन, अशिक्षित लोक रुचि को अपनी प्यास बुझाने के लिए दूसरी गन्दी नालियों का आसरा जोहना पड़ा। शिष्ट साहित्य की प्रतियोगिता में सिनेमा के अश्लील गाने आए जिनसे प्यास बुझने के बजाय और बढने लगी[1]।

इधर कुछ दिनों से लोक काव्य की धारा को पुनर्जीवित करने का अभिनव प्रयास आरम्भ हुआ है पर इसके माध्यम के लिए कोई एक निश्चित भाषा न अपनाई जाकर, विभिन्न लोक-भाषाओं तथा आँचलिक बोलियों का आश्रय लिया जा रहा है। कुछ भी हो, भारतेंदु युग में आरम्भ की गई लोक-काव्य की उक्त सरस और सजीव परम्परा अपनी नूतनता और मौलिकता के कारण साहित्य के इतिहास में विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी रहेगी।

हास्य रस की सरस-समृद्ध काव्य-धारा

भारतवर्ष को दार्शनिकों का देश कहा जाता है। एक विदेशी पर्यटक ने यहां के प्रत्येक बालक को जन्मजात दार्शनिक की उपाधि दे डाली थी। इसका मुख्य कारण यही है कि भारत के निवासी स्वभाव से ही दर्शन और अध्यात्मवाद में गहरी निष्ठा रखते हैं। ऐसी दशा में उनके जीवन में गम्भीर चिन्तन, मनन, आदि का तो प्राधान्य रहता है पर वे

[1]सम्मेलन पत्रिका (वर्ष ३७अंक १) के भारतेन्दु अंक में विद्यानिवास मिश्र द्वारा लिखित-'कृष्ण-काव्य और भारतेन्दु' शीर्षक लेख (पृष्ठ ५३)।

खुलकर हंस तक नहीं सकते हैं। यदि आनंद-पूर्वक जीवन व्यतीत करना एक कला है तो अन्य देशवासियों की अपेक्षा, भारत-वासियों को यह कला ठीक तरह से नहीं आती है। पर इस प्रवृत्ति के कुछ विशेष कारण हैं। शताब्दियों की पराधीनता ने इस देश के निवासियों के दृष्टिकोण में निराशावाद की अधिकता भरदी है। अतः जब जीवन में ही हास्य के उपदानों की कमी रही तब फिर यहां के साहित्य में हास्य रस की प्रधानता किस प्रकार होती। संस्कृत साहित्य में शुद्ध और शिष्ट हास्य की सफल व्यंजना नहीं हो पाई है और हिन्दी कविता ने उसी का अनुकरण किया। आरम्भ में वीरता, मध्य में भक्ति और तत्पश्चात् शृंगार रस की धाराओं में डूबे रहने के कारण हिन्दी साहित्य के उक्त तीनों कालों में सुरुचिपूर्ण हास्य की संतोष-प्रद व्यंजना नहीं हो पाई। हाँ उसके हलके फुलके छींटे यत्र-तत्र अवश्य मिल जाते हैं। जैसे, तुलसी कृत रामचरित मानस में 'नारदमोह प्रसङ्ग', कवितावली में 'विन्ध्य के वासी उदासी, वाली पंक्ति में तथा आगरा निवासी 'प्रीतम' (अलीमुहिबखां) लिखित 'खटमल बाईसी' के रूप में। वैसे, समस्त रीतिकाल में साहित्याचार्य लोग अन्य रसों की भांति हास्य रस के लक्षण और उदाहरण लिखते थे और इन उदाहरणों द्वारा भी हास्य का समुचित परिपाक नहीं हो पाता था[1]। इसके अतिरिक्त रीतिकाल के उत्तरार्ध में कुछ 'भडौए' अवश्य लिखे गये जिनमें आश्रयदाताओं के प्रति कटु व्यग्योक्तियां की गई हैं और 'बेनी' कवि के भडौए इस क्षेत्र में विशेष प्रसिद्ध हैं पर आठ-नौ सौ वर्ष की लम्बी काव्य परम्परा में हास्य रस की कुल मिला कर इतनी अल्प पूंजी किसी प्रकार भी संतोषप्रद नहीं कही जा सकती है।

वास्तव में, हिन्दी काव्य में शुद्ध और स्वस्थ हास्य की परम्परा आधुनिक युग से ही आरम्भ हुई और भारतेन्दु युग को निश्चय रूप से इस रस की रचनाओं का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है[2]। भारतेन्दु स्वयं बड़े जिन्दा दिल, सजीव तथा विनोदी व्यक्ति थे। वे स्वयं हंसते थे और दूसरों को हंसाने की सामग्री एकत्र कर देते थे। उनकी जिन्दा दिली की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं[3]। पर व्यवहारिक हंसी के साथ-साथ साहित्य में हास्य रस सम्बन्धी अनेक रचनाएं भी उन्होंने की और उनके प्रभाव के फलस्वरूप उनके मण्डल के अन्य अनेक साहित्यकारों ने इस रस की धारा प्रवाहित करने में जी भर कर योगदान दिया। भारतेन्दु की हास्यमयी रचनाओं की संख्या उनकी अन्य रसों से सम्बन्धित रचनाओं की अपेक्षा कम नहीं कही जा सकती और उनके सहयोगी कवियों ने भी इस दिशा में उदारता से ही काम लिया है। भारतेन्दु की प्रमुख हास्य रचनाए इस प्रकार हैं उर्दू का स्यापा, समधिन मधुमास,

[1]भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) पृष्ठ २४४
[2]हिन्दी साहित्य में हास्य–रस (डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी) पृष्ठ १८७
[3]भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) पृष्ठ २४४

रामलीला गारी, बन्दर सभा, नए जमाने की मुकरी इत्यादि। प्रतापनारायण की इस रस-विषयक कविताओं में उल्लेखनीय हैं कलियुगी ककहरा, हरगङ्गा, तृप्यन्ताम, बुढ़ापा, इतना दे करतार अधिक नहीं बोलना इत्यादि। राधाचरण गोस्वामी की हास्य विषयक कविताओं में प्रमुख हैं नापित स्तोत्र, रेलवे स्तोत्र, यमलोक की यात्रा आदि। निश्चय ही, भारतेंदु के पश्चात् इस युग के हास्य रस के कवियों में प्रताप-नारायण मिश्र का व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और इस क्षेत्र में उनके साथ बालमुकुन्द गुप्त को भी भुलाया नहीं जा सकता है।

इस काल की हास्यरसमयी कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें हास्य के लगभग सभी भेद और उपभेद उपलब्ध हैं। जैसे—उपहास, व्यंग्य, परिहास, आभास-काव्य (पेरोडी) वचन-वैदग्ध्य (विट) विरूप (केरीकेचर) विकृति (सेटायर) आदि और इन सब में उन्होंने तात्कालीन सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक दशा को लक्ष्य करते हुए पुलिस, अंग्रेजी भाषा, सरकारी अमला, ग्रेजुएट, टैक्स तथा अन्य सामयिक घटनाओं को माध्यम बनाया है। अपनी इन रचनाओं के लिए उन्होंने साहित्य क्षेत्र में प्राचीन काल से प्रचलित प्रसिद्ध काव्य-रूपों के अतिरिक्त पहेलियों, मुकरियों, गालियों, स्यापा, लटकों आदि का प्रयोग किया है। इस प्रकार हास्यरस की कविता में सृष्टि की दृष्टि से यह युग निश्चय ही स्मरणीय रहेगा। इस युग की हास्य रचनाओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

मुकरी—

रूप दिखावत सरबस लूटै
फंदे में जो पड़ै न छूटै
कपट कटारी हिय में हूलिस
क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि पूलिस। (भारतेन्दु)

आठ मास बीते जजमान
अब तो करो दच्छिना दान, हर गंगा
हंसी खुशी ते रुपया देव
दूध पूत सब हमते लेव, हर गंगा। (प्रतापनारायण मिश्र)

सुहाती गाली—

सुनिए समधिन सुमुखि सयानी
आवहु दौरि देहु दरसन, जनि प्यारी फिरहु लुकानी
फैलो सुभग सरस कीरति तुव सुन सबहिन सुखदानी
सम समधी तुम समन द्वार यह आनि भीड़ मड़रानी
परवहु काम सबन के वेगहि उर उदारता आनी। (प्रेमधन)

उत्तर-भारतेन्दु युग में यह धारा अपेक्षाकृत क्षीण हो चली। सुधारवाद की सनक, तथा कथित शिष्टता का अभिमान और गम्भीरता के थोथे ढोंग ने कवियों

को इस दिशा में अधिक उत्साह पूर्वक कलम चलाने से रोका। इसके अतिरिक्त साहित्य क्षेत्र में आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यापक पर परोक्ष प्रभाव ने इस प्रकार की रचनाओं की सृष्टि में पर्याप्त बाधा डाली। आचार्य द्विवेदी स्वयं बड़े गम्भीर व्यक्ति थे और अपने स्वभाव के अनुरूप ही उन्होंने साहित्य की इस हलकी-फुलकी धारा को विशेष प्रोत्साहन नहीं दिया। खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रजभाषा की कविता पर भी इस समसामयिक प्रवृत्ति का थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य दर्शनीय है। फिर भी हास्य रस की इस क्षीण कविता-धारा में जिन कवियों के नाम विशेष महत्व के हैं, वेहैं–नाथूराम 'शंकर', 'वचनेश' 'अनूप शर्मा', उमाशंकर दीक्षित 'देहाती', हृषीकेश चतुर्वेदी आदि। इस युग में आकर हास्य-रस के आलम्बन बहुत कुछ बदल गए और अब–सरकारी योजनाएं, मूंछ, पेशेवर नेता, कॉलेज के फेशनेबुल विद्यार्थी, छायावादी कवि, पत्नी, साला, वृद्ध-विवाह, कंजूस सेठ, चुनाव आदि को लेकर हास्य की सृष्टि की जाने लगी। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है विवेच्य धारा में उर्दू और अंग्रेजी के शब्द स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयुक्त किए गए हैं। कहीं-कहीं तो उनके बिगड़े हुए रूप के प्रयोग द्वारा हास्य की बड़ी सुन्दर योजना बन पड़ी है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक कुरीतियों को व्यंग का माध्यम बनाते हुए इस काल के हास्य रस सम्बन्धी काव्य में बड़ी सुन्दर रस-व्यंजना की गई है। इसके कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं—

झोंकि लेउ धूरि औ उलीचिलेउ कीच चाहै
फगुआ है तारकोल मुंह में चुपरि लैइ।
बाजो हरि नंगो करि स्वाँग हू बनाइ लेइ,
'वचनेश' और जौन चाहो तौन करि लेइ।
लाला कहैं बरस भरे का तिउहार आज,
रोइहै मेहरि लरिकन आप धरि लेइ।
डारे मत पीरौ हरी रंग धुतिया पै,
जानि झण्डा है तिरगा कुतवाल न पकरि लेइ।। (वचनेश)

———

नहिं विद्या नहिं बुद्धि बल, बिन धन करत कमाल
खाली मूंछ मुड़ाय के बनत जवाहर लाल। (मूंछ-'देहाती)

———

छीलै पेड़ बबूर के तो अति बाढ़त गोंद।
काढ़ै पेट गरीब के तौ अति बाढ़त तोंद।। (तोंद-देहाती)

———

आज अन्नदाता तुम्हीं, तुम्हीं हमारे 'लार्ड'।
बारम्बार प्रणाम है तुम्हें राशनिंग कार्ड।।
(राशनिंग कार्ड-हृषीकेश चतु०)

'रत्नाकर' लिखित उद्धव-शतक के एक प्रसिद्ध छन्द की 'पेरोडी' इस प्रकार है—

कीजै देस-भक्ति को प्रचार गिरि-शृंगन पैं,
हिय में हमारे अब नेकु खटिहै नहीं ।
कहैं 'रतनाकर' जे हसिया हथौड़ा छाडि,
हाथ में तिरंगा झण्डा आज सटि है नहीं ।।
रसना हमारी चारु चातकी बनी है ऊधौ,
'लेनिन' विहाय और रट रटि है नहीं ।
लौटि पौटि बात को ववंडर बनावत क्यों,
नैन ते हमारे अब रूस हटि है नहीं ।।

ब्रजकिशोर चतुर्वेदी 'चुकन्दर'

इस सबसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव जीवन के लिए हास्य की अनिवार्य रस-धारा आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में पूरे वेग से साथ वही है, और आज भी अनेक कवि इस रस के छीटों से युग-संघर्ष से थके-मांदे व्यक्तियों को हर्षित और प्रफुल्लित करते रहते हैं ।

अनुवादों की समृद्ध परम्परा जब एक भाषा किसी अन्य भाषा के सम्पर्क में जाती है और उस भाषा के साहित्यकार दूसरी भाषा की महत्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों की ओर आकृष्ट होते हैं, तभी अनुवाद-कार्य का सूत्रपात होता है । परन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक है कि जिस भाषा में अनुवाद किए जांय वह भी एक विशिष्ट प्रौढ़ता को प्राप्त हो तथा उसमें सामान्य, सजातीय तथा सार्वदेशिक भावों के साथ विजातीय भाव और भिन्न वातावरण में उपलब्ध भावनाओं को आत्मसात कर व्यंजित करने की सहज क्षमता भी विद्यमान हो । इस प्रकार अनुवाद का कार्य दो समृद्ध भाषाओं की उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों के भाषा-गत विनिमय का ही दूसरा नाम है । यहां अनुवाद-प्रक्रिया में समाविष्ट एक सहज कठिनाई या असुविधा का उल्लेख कर देना आवश्यक होगा और वह यह है कि जिस प्रकार इत्र की शीशी से दूसरी शीशी में इत्र उड़ेलते समय कुछ गन्ध उड़ जाती है, उसी प्रकार अनुवाद करते समय दोनों भाषाओं के मुहावरों में अन्तर रहने के कारण मूल का सौन्दर्य पूरी तरह नहीं आ पाता है ।

भाषा विचारों और मनोभावों का परिधान है और इस दृष्टि से एक कवि या विचारक की उपलब्धियां जिस भाषा में व्यक्त हुई हैं, उससे उन्हें दूसरी वेशभूषा में लाना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य रहता है । अपरिचित परिधान कभी-कभी उनके व्यक्तित्व की विशेषता को आच्छादित कर उसे अपरिचित या कौतुक-मात्र बना देता है[1] । इसी कारण मौलिक रचनाओं के विपरीत अनुवादकार्य की सफलता के लिये

1 सप्तपर्णा-अपनी बात (महादेवी वर्मा) पृष्ठ ६६

द्विपक्षीय योग्यता की आवश्यकता होती है-प्रथम तो मूल रचना की भाषा का चूडान्त ज्ञान और दूसरे जिस भाषा में अनुवाद किया जाय उसमें भावों को सहज रीति से व्यक्त करने की योग्यता। अन्यथा अनुवाद कोरा मानसिक व्यायाम भर रह जायगा और उसके पढ़ने में मूल रचना जैसा आनन्द न आयेगा, जो अनुवाद की सबसे बड़ी कसौटी है। साधारणतः मौलिक रचना करने वाले साहित्य-क्षेत्र में अधिक आदर के पात्र माने जाते हैं और अनुवाद करने वालों को उतना महत्व नहीं दिया जाता है, पर वास्तविकता यह है कि मौलिक साहित्य के सृजन में जहां प्रातिभ-ज्ञान की अधिक आवश्यकता होती है, वहीं अनुवाद-कार्य में मूल रचना के भावों को सफलतापूर्वक सुरक्षित रखना तथा उन्हें इस प्रकार दूसरी भाषा में व्यक्त करना कि इस भाषा की मूल प्रवृत्ति और उसके स्वाभाविक प्रवाह में कोई अन्तर न पड़े।

अनुवाद-कार्य साधारणतः गद्य से पद्य और पद्य से गद्य में तो होता ही है पर जब पद्य का अनुवाद पद्य और उसमें भी समश्लोकी पद्यों में किया जाता है तब यह कार्य और भी दुष्कर हो जाता है और वांछित सफलता के लिये अनुवादक से एक प्रकार की विशेष प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। विश्व-साहित्य में कई ऐसे उल्लेखनीय साहित्यकार भी पाये जाते हैं जो केवल सफल अनुवादों के आधार पर उच्चकोटि के साहित्यिक माने गये हैं। उदाहरण के लिए फारसी कवि—उमरखय्याम की रुबाइयों के हृदयहारी अनुवाद के बल पर ही अंग्रेजी साहित्यकार-एडवर्ड फिटजेराल्ड काव्य क्षेत्र में मूर्धन्यस्थान के अधिकारी बन गये, यद्यपि मौलिक कृतियों के नाम पर उनकी कोई उल्लेखनीय रचना उपलब्ध नहीं।

अनुवाद भी कई प्रकार का होता है-शब्दानुवाद और भावानुवाद। प्रथम में मूल के प्रति कठोर सच्चाई बरती जाती है और भावों में भले ही न्यूनाधिक अन्तर आ जाये पर मूल रचना के कोशगत अर्थ को विशेष महत्त्व देते हुये अनुवाद किया जाता है। इस प्रकार के अनुवाद में न तो अनुवादक का व्यक्तित्व ही उभर पाता है और न मूल रचना जैसा सहज प्रवाह या आनन्द ही आ पाता है। कभी-कभी एक पंक्ति का अनुवाद एक ही पंक्ति में करने का आग्रह पाया जाता है[2]। इसके विपरीत भावानुवाद में कवि मूल के भाव और उसकी आत्मा को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कलागत बारीकियों की भिन्नता की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। परन्तु अनुवाद कार्य की आदर्श स्थिति यह है कि मूल रचना में व्यक्त भाव अपनी संपूर्ण सूक्ष्मता के साथ सुरक्षित रहें और जिस भाषा में अनुवाद किया जाय उसकी सहज प्रकृति में भी अन्तर न आ पाये।

हिन्दी साहित्य के आरम्भिक तीन कालों में अनुवादों की परम्परा अत्यधिक क्षीण रूप में जीवित थी। वह उन छुट-पुट प्रयत्नों की कथामात्र है जहां सफल

2 उदाहरण के लिए हृषीकेश चतुर्वेदी कृत मेघदूत' का समश्लोकी अनुवाद।

प्रयासों की स्वल्पता तथा विफल प्रयासों की अधिकता का ही प्राचुर्य मिलता है। सफल अनुवादकों में तुलसी तथा गोकुलनाथ और असफल अनुवादकर्ताओं में केशव के नाम लिये जा सकते हैं। हिन्दी के रीति ग्रन्थ तो अधिकतर संस्कृत लक्षण ग्रन्थों के छाया नुवाद हैं या फिर उन्हीं को आधार मान कर रचे गये हैं। पर आधुनिक काल तक आते-आते ब्रजभाषा को वह अभीष्ट प्रौढ़ता प्राप्त हो गई थी जो सफल अनुवाद के लिए अपरिहार्य होती है। साथ ही श्रम-साध्य कार्य होने के कारण समाज में जिस शान्ति और सुव्यवस्था की दशा में ही अनुवाद-कार्य सफलतापूर्वक किया जा सकता है, वह इस काल में पूरी तरह से विद्यमान थी। इसी कारण अनुवादों की एक सरस सजीव और समृद्ध परम्परा इस काल में दृष्टिगोचर होती है। सबसे अधिक अनुवाद संस्कृत से हुये पर ज्यों-ज्यों अंग्रेजी भाषा और साहित्य से सम्पर्क बढ़ता गया त्यों-त्यों अंग्रेजी से किए गये अनुवादों की संख्या भी बढ़ती गई। वैसे बंगला, फारसी, प्राकृत आदि से भी अनेक अनुवाद किए गये हैं। संस्कृत से अनुवादकर्ताओं में राजा लक्ष्मण सिंह, लाला सीताराम, ठाकुर जगमोहनसिंह, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अकेले कालिदास रचित मेघदूत के ही सात-आठ बहुत सरस अनुवाद इस युग में उपलब्ध हैं। उनके रघुवंश तथा ऋतुसंहार के भी कई-कई अनुवाद विवेच्य काल में प्राप्त होते हैं। कालिदास के काव्यों के अतिरिक्त उनके नाटकों—शकुन्तला, मालविकाग्निमित्रम् तथा विक्रमोर्वशीयम् के भी कई अनुवाद इस युग में हुए। इन अनुवादों में पद्यात्मक अंश विशेष रूप से हृदयहारी बन पड़ा है। इस काल के अनुवादों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें अनुवाद की रंच मात्र गन्ध नहीं आती है। वरन्, मौलिक रचना जैसे सहज प्रवाह के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए मेघदूत में उत्तर-मेघ के ४२ वें श्लोक—

> त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया–
> मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
> अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
> क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

का अनुवाद इस प्रकार है:—

> शिला पै गेरू ते कुपित ललना तोहिं लिखि कै
> धर्यौ जौ लौं चाहौ सिर अपन तेरे पगन मैं
> चलैं आंसू तौलौं उमगि मग रोकै दृगन कौ
> नहीं धाता घाती बहत हम याहू विधि मिलैं।

राजा लक्ष्मण सिंह (शकुन्तला नाटक का अनुवाद)

इसमें कवि के मूल भावों की पूरी-पूरी रक्षा करते हुए अनुवादकर्ता ने अत्यन्त सरस और स्वाभाविक भाषा में जिन पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है वे मूल

रचना से किसी भी प्रकार कम व्यंजक नहीं हैं। साथ ही अनूदित पद्य में भाषा का जो प्रवाह उपलब्ध है वह मूल रचना से किसी भी प्रकार कम नहीं है। इसी प्रकार प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ की प्रसिद्ध रचना 'डेज़र्टेड विलेज़' की इन पंक्तियों—

> As some tall cliff, that lifts its awful form,
> Swells from the vale and midway leaves the storm;
> Though round its breast the rolling clouds are spread.
> Etemal sunshine settles on its head.

का पंडित श्रीधर पाठक कृत 'ऊजड़ग्राम' शीर्षक रचना में इस प्रकार अनुवाद हुआ है :—

> जिमि कोउ पर्वत-शृंग तुंग दीरघ तन ठाढौ,
> उठ्यौ खड्ड सो रहै बवंडर बीचहि छांड़ौ।
> यदपि तासु वक्षस्थल, दल बादल कोलाहल,
> भाल विराजे सदा भानु आभा दुति उज्वल ॥

जिसमें tall cliffs के lift करने की कठोर क्रिया को उसी प्रकार की परुष शब्दावली में अनुवादित करके अनुवादक ने अपनी काव्य-मर्मज्ञता तथा हृदयहारी अनुवाद करने की प्रतिभा का परिचय दिया है। निश्चय ही अनुवाद कला की दृष्टि से यह अनुवाद बहुत उत्कृष्ट हुए हैं।

मूल रचना के समान ही सरसता से युक्त मेघदूत का 'पूर्ण' जी द्वारा 'धाराधर-धावन' नाम से किया गया, अनुवाद का एक अंश इस प्रकार है :—

मूल

> हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
> कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य।
> धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै—
> र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशन्तं नगेन्द्रम् ॥

अनुवाद

> कनक कमल उपजानवारो मानस को जल पीजौ।
> सलिल पियत त्यौं एरावत को मुख अंगौछि हित कीजौ॥
> कलपलतादल वायुवेग सों पट समान फहरैयो।
> यहि विधि भोगविलास विविधि करि परवत पै सुख पैयो॥

स्वतन्त्र अनुवाद का एक उदाहरण जयदेव कृत गीत-गोविन्द के भारतेन्दु द्वारा किए गये 'वेणु-गीति' नाम से किये गये अनुवाद से देखिये—

मूल

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननुविवेशमतोर्वसस्यैः
वक्त्रं ब्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीत मनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ।

अनुवाद

सखी फल नैन धरे को एह
लखिबो श्री ब्रजराज कुंवर को, गौर साँवरी देह
सखन संग बन ते बनि आवत करत बेनु को नाद
धन्य सोई या रस को जानै पान कियो है स्वाद
यह चितवनि अनुराग भरी सी फेरनि चारहुं ओर
'हरीचंद' सुमिरत ही ताके बाढ़त मैन-मरोर ।

विवेच्य काल में पद्यानुवाद परम्परा के संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिये इस काल के तीन युगों पर पृथक-पृथक दृष्टिपात करना उचित होगा ।

प्राक्–भारतेन्दु युग:-महाराज राघुनाथसिंहः आनन्दाम्बुधि (मूल श्रीमद् भागवत) सरदार (मुक्तावली) लक्ष्मणसिंह: मेघदूत, शकुन्तला और रघुवंश ।

भारतेन्दु युग :—भारतेन्दु : गीतगोविन्दानंद (मूल-गीतगोविन्द) वेणु-गीति (श्रीमद्भागवत के दशम् स्कन्ध के २१वें अध्याय का अनुवाद) ठाकुर जगमोहनसिंह : मेघदूत, शिलन का बन्दी (मूल-बायरन कृत प्रिजनर आफ़ शिलन) ऋतु-संहार, कुमार-संभव, हंस-दूत । विजयानद त्रिपाठी : मेघदूत (समश्लोकी तथा समवृत्त) लाला सीताराम : (मेघदूत, ऋतु-संहार, कुमार-सँभव, रघुवंश, मृच्छकटिक, महावीरचरित, मालती-माधव, नागानंद, हितोपदेश, किरातार्जुनीय ।

उत्तर-भारतेन्दु युग :—श्रीधर पाठक : ऋतु-सँहार, ऊजड़-ग्राम (गोल्डस्मिथ कृत डिज़र्टेड़ विलेज) महावीरप्रसाद द्विवेदी : विहार-वाटिका (मूल-जयदेव) जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' : समालोचनादर्श (पोप कृत एसे आन क्रिटिसिज़्म) सत्यनारायण 'कविरत्न' उत्तर रामचरित, मालती-माधव, होरिशश तथा अंग्रेजी कवि टेनिसन की कुछ कविताएं, वचनेश : वैराग्यशतक, गोविन्द चतुर्वेदी : ध्वन्या लोक, हृषीकेश चतुर्वेदी : मेघदूत, डा० जगदीश गुप्त : मेघदूत । इत्यादि

इधर हाल में यह परम्परा बहुत क्षीण हो गई है । खड़ी बोली के प्रचार के कारण अधिकांश अनुवाद गद्य में होने लगे हैं और मुक्त छन्द को अनुवाद-कार्य का सबसे सुगम माध्यम माना जाने लगा है । कुछ भी हो, अब वह युग बीत चला है जब मौलिक रचनाओं से अधिक आनन्द देने वाले अनुवाद प्रस्तुत किये जाते थे और

ब्रजभाषा-कविता को ही मुख्य रूप से यह गौरव प्राप्त था कि इस प्रकार के अनुवाद उसी के माध्यम से किये जाते थे।

पल्लवित-काव्य काव्य-रचना की यह विशिष्ट विधा आधुनिक काल के भारतेन्दु युग में व्यवस्थित रूप से[1] आरम्भ होकर केवल चार-पाँच दशकों तक ही प्रचलित रही और इस प्रकार अत्यधिक अल्पजीवी सिद्ध हुई। काव्य-रचना की इस विशिष्ट प्रणाली के अन्तर्गत रचनाकार अपने पूर्ववर्ती किसी कवि के हृदयहारी छन्द को लेकर उससे भिन्न छन्द में पूर्ववर्ती कवि के भाव को और अधिक पल्लवित तथा प्रस्फुटित किया करता था। मूल भाव पूर्ववर्ती कवि का ही होता था, पर परवर्ति कवि का काव्य-कौशल इस बात में निहित रहता था कि वह मूल भाव से रंच मात्र हटे बिना अपनी कविता में उन सम्भावित भावों को व्यक्त करे, जो शायद पूर्ववर्ती कवि ने उस स्थिति में प्रकट किये होते यदि उसने उसी मूल को और अधिक विकसित तथा पल्लवित करने का प्रयास किया होता। इन रचनाओं में काव्यकार का भाव क्षेत्र बहुत सीमित रहता था। इस कारण केवल विशेष काव्य प्रतिभा सम्पन्न कवि ही अपनी इस प्रकार की रचनाओं को हृदयहारी और मार्मिक बना सकते थे। यही कारण है कि काव्य-रचना की इस विधा को लेकर बहुत कम कवियों ने रचनाएं की हैं। उदाहरण के लिये बिहारी का एक बहुत लोक-प्रिय दोहा है:—

इन दुखिया अंखियान को, सुख सिरजोई नाहिं।
देखे बनै न देखते, अनदेखे अकुलाहिं।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास ने अपनी रचना—'बिहारी-विहार' में इसी भाव को पल्लवित करके जो कुण्डलिया प्रस्तुत की है, वह इस प्रकार है:—

इन दुखिया अंखियान को, सुख सिरजोई नाहिं,
देखे बनै न देखते, अनदेखे अकुलाहिं
अनदेखे अकुलाहिं, हाय आंसू बरसावत,
नेह भरेहू रूखे ह्वै, अति जिय तरसावत,
सुकवि लखतहू पलक कलप सत सरिस सुहाइन,
प्रान जाइ जो तोउ, दोउ दृग को दुख जाइ न।

यहाँ मूल भाव तो बिहारी का ही रहा पर व्यास जी ने सम्बन्धित भावों को और अधिक विकसित कर स्वतन्त्र कुण्डलिया रच डाला। इस प्रकार की रचनाएं मुख्य रूप से दोहों को लेकर ही प्रस्तुत की गई हैं, और दोहों में भी सबसे अधिक रचनाएं बिहारी सतसई के दोहों पर ही लिखी गई हैं। वैसे, रहीम, तुलसी व कबीर

[1]इस कारण कि संवत् १७४६ में जीवित पठान सुलतान ने सर्व प्रथम बिहारी सतसई के दोहों को कुण्डलियों में पल्लवित किया था।

के दोहों पर भी कुछ रचनाएं उपलब्ध हैं। कारण यह है कि दोहा एक अत्यन्त संक्षिप्त छन्द है। उसमें कवि अपने अभिप्रेत भावों को अत्यन्त संक्षिप्तता के साथ समास और समाहार शैली के द्वारा ही व्यक्त कर पाता है। पर कुण्डलिया कवित्त और सवैया अपेक्षाकृत बड़े छन्द हैं, जिनमें व्यापक भाव-भूमि समेटी जा सकती है। अत: ऐसी स्थिति में दोहे के संक्षिप्त और सीमित आकार में जो भाव प्रच्छन्न या अव्यक्त रह जाते हैं, उन्हें उपरोक्त छन्दों में भली भांति विकसित और पल्लवित किया जा सकता है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। बिहारी के एक दोहे पर भारतेन्दु रचित कुण्डलिया इस प्रकार है:—

मेरी भव बाधा हरौ राधा नागरि सोइ
जातन की झाई परे श्याम हरित दुति होइ
स्याम हरित दुति होइ परे जा तन की झांई
पांय पलोटत लाल लखत सांवरे कन्हाई
श्री हरिचन्द वियोग पीत पट मिलि दुति टेरी
तिन हरि जा रंग रगे हरो सोइ बाधा मेरी।

इसी दोहे पर कृष्ण-कवि रचित सवैया इस प्रकार है:—

जाकी प्रभा अवलोकत ही तिहूं लोक की सुन्दर गहि वारी।
'कृष्ण' कहै सरसीरुह नैनि को नाम महा मृदमंगल कारी॥
जा तन के झलके-झलके हरितदुति स्याम की होति निहारी।
श्री वृषभानु कुमारि कृपा कै सु राधा हरो भवबाधा हमारी॥

इस प्रकार के पल्लवित साहित्य का संक्षिप्त सर्वेक्षण इस प्रकार है:—

रचनाकार	रचना
१– नवाब जुल्फिकार अली	बिहारी सतसई के कुछ दोहों पर कुण्डलिया
२– भारतेन्दु	सतसई सिंगार, बिहारी के ८५ दोहों पर कुण्डलिया
३– रसिकबिहारी	रस कौमुदी, बिहारी के दोहों पर कवित्त सवैया
४– जोखूराम पण्डा	बिहारी के दोहों पर कुण्डलिया
५– अम्बिकादत्त व्यास	बिहारी-विहार, बिहारी के दोहों पर कुण्डलिया
६– सुधाकर द्विवेदी	तुलसी सुधाकर, तुलसीदास के दोहों पर कुण्डलिया
७– गंगाधर	उप-सतसईया, सतसई पर सवैया और कुण्डलिया
८– ईश्वरी प्रसाद कायस्थ	बिहारी के दोहों पर कुण्डलिया
९– राधाकृष्णदास	रहिमन विलास, रहीम के दोहों पर कुण्डलिया
१०– बाबा सुमेरसिंह	बिहारी सुमेर, बिहारी के दोहों पर कुण्डलिया
११– नवनीत चतुर्वेदी	रहीम के दोहों पर कुण्डलिया
१२– अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	कबीर-कुण्डल, कबीर के दोहों पर कुण्डलिया

इसी प्रसंग में विवेच्य काल के भारतेन्दु युग में रची गई कुछ ऐसी काव्य-कृतियों पर भी दृष्टि डाल लेना उचित ही होगा जिन्हें साहित्य जगत में स्वीकृत किसी विशिष्ट नाम के अभाव में रूपान्तरित या आधारित काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रकार की रचनायें किसी पूर्ववर्ती देशी या विदेशी कवि की लोक-प्रसिद्ध तथा उत्कृष्ट कृति को आधार मानकर उसी के अनुरूप की जाती हैं। पूर्ववर्ती रचना का आधार केवल नाम मात्र को होता है और परवर्ती रचना अपने आधारित रूप में पूरी तरह से मौलिक तथा नवीन होती है। उदाहरण के लिये अंग्रेजी कवि-गोल्डस्मिथ की प्रसिद्ध कृति-डिजर्टेड विलेज-की छाया ग्रहण कर भारतेन्दु-युग के प्रसिद्ध कवि उपाध्याय बदरीनारायण 'प्रेमधन' ने संवत् १९६६ में 'जीर्णजनपद' नामक रचना प्रस्तुत की, जिसका दूसरा नाम-'दुर्दशा दत्तापुर' भी है। यह रचना आद्योपान्त रोला छन्द में है। 'प्रेमधन' जी इसी ग्राम में जन्मे थे, अतः इस कविता में उन्होंने अपने जन्म-स्थान के प्रति सहज स्नेह व्यक्त किया है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल तथा सरस है और ग्राम्य-जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक तथा रमणीय चित्र इस ग्रन्थ में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए :—

खेतन में जल भरयो शस्य उठि ऊपर लहरत,
चारहुं ओरन हरियारी ही की छवि छहरत।
भोरी-भोरी ग्राम वधू इक संग मिलि गावति,
इक सुर में रस भरी गीत झनकार मचावति।
कहं नागरी नवेली ए तीखे सुर पावैं,
रंग-भूमि को कोरस सो रस कब बरसावैं।
किती युवती तिन मैं अति रूप सलौनो पाए,
किए कज्जलित नैन सीस सिंदूर सुहाए।
धान खेत मैं बैठी चंचल चखनि नचावति,
बन मैं भटकी चकित मृगी सी छबि दरसावति॥

ग्राम्य-जीवन का जितना सच्चा, सरस और सुन्दर चित्र इस काव्य-ग्रन्थ में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूपेण परम्परा-मुक्त एवं स्वच्छंद है। इस ग्रंथ का हिन्दी काव्य जगत में परम समादर होना चाहिए था, पर हुआ नहीं, यह अत्यन्त खेद की बात है। देहात में प्रयुक्त शब्दों का इसमें ऐसा सुन्दर प्रयोग हुआ है कि ग्राम जीवन बरबस नेत्रों के सामने आ जाता है। वर्षा के चित्रों में देहाती जीवन का चित्र इन दो पंक्तियों में देखिए और देहाती शब्दों पर ध्यान दीजिए[1]—

पौला सबके पगन सीस घोघी कै छतरी
लैकर लाठी चलैं मेंड बाटैं सब पतरी।

[1]भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरी लाल गुप्त) पृष्ठ ३६३

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस प्रकार के काव्यों में कथा, भाव या घटना सम्बन्धी क्षीण आधार लेता हुआ भी कवि अपने इतिहास, पुराण, सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार परिवर्तन करके बिल्कुल नवीन सी रचना प्रस्तुत करता है। इस परम्परा की कुछ प्रमुख रचनाएं इस प्रकार हैं:—

(१) भारतेन्दु रचित 'प्रेम-सरोवर', जिसकी रचना रसखान की 'प्रेमवाटिका' के आधार पर संवत् १९३० में हुई और जिसमें ४१ दोहों में प्रेम का सरस निरूपण हुआ है।

(२) भारतेन्दु कृत 'भक्तमाल' (उत्तरार्ध) जिसकी रचना भक्त कवि नाभादास रचित भक्त माल के आधार पर संवत् १९३३ में हुई। यह ग्रन्थ दोहा तथा छप्पय-छन्द में लिखित है और इसमें प्रसिद्ध कवियों का पद्यबद्ध वर्णन है।

(३) प्रतापनारायण मिश्र रचित 'नूतन भक्तमाल' (अपूर्ण) जिसमें समसामयिक महापुरुषों पर छप्पय छन्द में प्रशस्तियां संग्रहीत हैं।

(४) ठाकुर जगमोहनसिंह रचित 'बोनीवार्ड विलाप', जिसकी रचना प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि बायरन के प्रिजनर आफ शिलन के आधार पर हुई है।

(५) रामचन्द्र शुक्ल लिखित 'बुद्धचरित' जिसकी रचना अंग्रेजी कवि-एडविन आर्नल्ड लिखित 'लाइट आफ एशिया' को आधार मानकर की गई है और जो इस युग की ब्रजभाषा में लिखित प्रबन्ध काव्यों में अप्रतिम है और अपने काव्य-वैभव की दृष्टि से सर्वथा मौलिक है। इस रचना का एक अंश यहां दर्शनीय है :—

सोवतीं संभार बिनु सोभा सरसाय,
गात आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर।
चीकने चिकुर कहूं बंधे हैं कुसुमदाम,
कारे सटकारे कहूं लहरत लंक पर।
सोवैं थकि हास औ विलास सौं पसारि पांय,
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति,
तौ लौं जौं लौं न प्रभात आय खेलिन कहत स्वर॥

इधर बहुत दिनों से इस प्रकार की रचनाएं ब्रजभाषा-कविता में देखने में नहीं आई हैं। मौलिकता के नाम पर सम्भवत: श्रेष्ठ आधार ग्रहण करने की प्रवृत्ति त्याज्य समझी गई है, जो बहुत स्वस्थ और अभिनंदनीय नहीं कही जा सकती है।

सजीव भाषा भाव और भाषा का सम्बंध आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कहा जाता है। प्रथम को साहित्य में अंतरंग और दूसरे को बहिरंग की संज्ञा दी जाती है और ऐसा कहकर दोनों के पारस्परिक सम्बंध की अनिवार्य निकटता

स्थापित करने के साथ ही भाव को आत्मा कहकर कुछ उच्च और भाषा को शरीर बताकर अपेक्षाकृत निम्न बताया जाता है। वैसे तो, साहित्य की सभी विधाओं में अभिव्यक्ति की माध्यमके रूप में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान है, पर काव्य के क्षेत्र में उसका महत्व निर्विवाद रूप से गद्य की अपेक्षा अधिक है क्योंकि यहां वह विचारों की भावात्मकता की प्रधानता के कारण चित्रात्मक बन जाती है और साधारण अभि-व्यक्ति के स्थान पर सरस और सशक्त प्रेषणीयता की पूरी शक्ति उसमें अन्तर्निहित दीखती है। इसी कारण कविता की भाषा दैनिक बोलचाल की भाषा से भिन्न होती है और कविता की सरसता के लिए यह अपरिहार्य भी है। वैसे तो भाषा का व्यौहार सभी करते हैं पर सच्चा कवि भावानुवर्तिनी बना डालता है और अपने अभिप्रेत को व्यक्त करते समय उसे कुछ ऐसा रम्य रूप प्रदान करता है कि वह उसे सामान्य से भिन्न तथा नितान्त नवीन और मार्मिक ढ़ंग से प्रगट करता है। भाषा को जन-साधारण शक्ति और कविगण सुन्दरता प्रदान करते हैं। शब्द-शिल्पी होने के नाते वे उसके विभिन्न अवयवों, वर्ण, शब्द और वाक्य को लय की संजीवनी प्रदान कर उसे साधारण ध्वनि से इतना ऊपर उठा देते हैं कि उसमें प्राणों को छूने, उन्हें बांधने और तन्मय कर देने की सहज शक्ति आ जाती है।

जहाँ तक ब्रजभाषा का सम्बध है, लगभग हज़ार-बारहसौ वर्षों की लम्बी अवधि में अनेकानेक कवियों के हाथ में पड़कर वह इतनी मंज चुकी है कि उसकी काव्यौपयुक्तता अन्य भाषाओं के लिये भी अनुकरणीय बन गई है। विशेषकर भक्ति-काल और रीतिकाल के कवियों की साहित्य-साधना के परिणामस्वरूप तो वह अपनी 'भाषा-मणि' उपाधि को सार्थक सिद्ध कर चुकी थी। पर रीतिकाल के उत्तरार्द्ध तक आते-आते जन-जीवन से दूर पड़ जाने के कारण वह अत्यधिक रूढ़िग्रस्त और निर्जीव बन गई थी। अनेक शब्द (भुवाल, ठायो, ऊनो, दीह, चक्कवै) तो प्राकृत और अपभ्रंश काल की परम्परा के स्मारक रूप में ही बने हुए थे[1]। साथ ही, शब्दों को मनमाने ढंग से तोड़ने मरोड़ने, एक-एक शब्द के कई-कई रूप प्रयोग करने, कारक-चिह्नों तथा क्रिया के रूपों के मनमाने प्रयोग और अन्य भाषाओं के शब्दों की प्रकृति को पहचाने बिना उन्हें ब्रजभाषा में बेतुके ढंग से प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति ने काव्य-भाषा के क्षेत्र में एक अराजकता सी फैलादी थी। प्राक्-भारतेन्दु युग की भाषा में दो-चार अपवादों (जैसे—हम्मीरहठ के रचयिता—चन्द्रशेखर वाजपेयी, शृंगार-लतिका के प्रणेता—'द्विजदेव' और अन्योक्ति कल्पद्रुमकार—दीनदयालगिरि) को छोड़ कर इसी अव्यवस्था के दर्शन होते हैं। भाव—दारिद्रय के साथ भाषा की अकिंचनता भी आधुनिक काल को रीतिकाल से रिक्थ के रूप में मिली थी। पर भारतेन्दु ने न केवल भाषा-शोधन का महत्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में लिया अपितु उसे पूरी शक्ति

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) दसवां परि० सं० पृष्ठ ५८०

और निष्ठा के साथ किया। अनुपयुक्त, रूढ़ और प्रभावहीन शब्दों का बहिष्कार और कोरी सजावट वाले शब्दों का तिरष्कार भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के द्वारा हुआ। काव्य-भाषा में चले आते हुए शक्तिहीन और फालतू शब्द निकालकर बाहर कर दिये गये जिसके परिणामस्वरूप काव्य की भाषा और शैली में बहुत कुछ सरलता, प्रवाह और सजीवता आगई। भाषा-परिमार्जन के क्षेत्र में भारतेन्दु तथा उनके मण्डल का योग इसी निषेधात्मक पक्ष तक सीमित नहीं है, वरन् रचनात्मक रूप में भी उन्होंने बोलचाल की जीवन्त भाषा को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया और इससे भी कुछ आगे जाकर जन-वाणी की सहज शक्ति से युक्त ग्रामीण प्रयोगों को भी अपनाने में हिचक नहीं अनुभव की।

ब्रजभाषा की मूल प्रकृति से परिचित होने के कारण उन्होंने तत्सम् शब्दों की अपेक्षा तद्भव शब्दों का अधिक प्रयोग किया और कुछ स्तोत्रों आदि को छोड़कर समास-गर्भित पदावली का बहुत कम प्रयोग किया है। इसी कारण उन्होंने भारी-भरकम संस्कृत शब्दों के स्थान पर छोटे-छोटे श्रुति-मधुर अर्थ-व्यंजक तद्भव शब्दों को ही अधिक अपनाया है। इस प्रकार के सैकड़ों शब्द उनकी रचनाओं में उपलब्ध हैं। यथा– दरस, परमान, फागून, दुरलभ, अगिन, कारन, गेह, हरिचन्द, प्रानप्यारी, केस, पौन, मेन, नैन, पुरान, जग्य, विसराम, ठाम, भाग, भंवर, जूथ, अछत, जोहिय[1]। उदाहरण के लिए:—

> बृज के लता पता मोहिं कीजै,
> गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै।
> आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै,
> श्री राधे राधे मुख यह बर 'हरीचन्द' को दीजै॥

भाषा को सजीव और प्रवाह पूर्ण बनाने के लिए उसमें अन्य भाषाओं से शब्दों को स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण करने तथा उन्हें अपने अनुकूल बनाकर पचाने की शक्ति विद्यमान होनी चाहिये। वस्तुतः इसी ग्रहणशील प्रवृत्ति के आधार पर भाषा सतत विकासशील रहती है। भाषा की अत्यधिक विशुद्धता उसके सजीव होने में साधक नहीं अपितु बाधक सिद्ध होती हैं। जो लोग किसी प्रौढ़ और विकसित काव्य-भाषा में विशुद्धता के प्रति अधिक आग्रह प्रदर्शित करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि यह गुण तो उन भाषाओं के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है जो विकास के पथ पर होती है। ब्रजभाषा जैसी अत्यन्त प्रौढ़, विकसित तथा काव्य-संस्कारों से मंजी हुई भाषा के लिए विशुद्धता निश्चय ही एक अनिवार्य गुण नहीं है। भारतेन्दु और उनके सहयोगी कविगण-इस तथ्य से अवगत थे। इसी कारण उन्होंने उर्दू के अत्यन्त प्रचलित, सर्व-साधारण को बोधगम्य तथा सरल शब्दों को स्वतन्त्रतापूर्वक ग्रहण

[1]भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरी लाल गुप्त) पृष्ठ २६१

किया। यथा—सलामी, बहार, दरद, सूरत, मस्त, दिवानी, हराम, दम, बहादुर, जुलफ (जुल्फ) सुरख (सुर्ख) खबर, बेदरदी—इत्यादि। उनकी निम्नलिखित रचना में इन शब्दों का स्वतन्त्रतापूर्वक तथा निस्संकोच प्रयोग पाया जाता है :—

खाना पीना नाच तमाशा लाख ऐश-ग्राराम सभी
जैसे बिंजन नमक बिना त्यों राम बिना वे-काम सभी।

इसके ग्रतिरिक्त कुछ प्रचलित ग्रंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी इस समय के काव्य में मिल जाता है। जैसे टिकस (टैक्स) टोटल, ब्रांडी, चुरुट, गौन, पतलून, कोट होटल, लोट (नोट)—इत्यादि। पर इन शब्दों को प्रयोग करते समय वे इस बात को नहीं भूले हैं कि इनके ग्रंग्रेजी रूप के स्थान पर इनके ब्रजभाषा के ग्रनुकूल बनाये हुए रूप ही काव्य में ग्रधिक उपयुक्त हो सकेंगे।

यहां तक तो हुई भाषा को सजीव बनाने के लिए शब्द-प्रयोग की प्रक्रिया। पर इसके ग्रतिरिक्त भाषा में माधुर्य ग्रौर ग्रोज गुण के सम वेश से भी उसकी सजीवता में वृद्धि होती है। भाषा को श्रुति-मधुर बनाने के लिए भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने ग्रनेक शब्दालंकारों-ग्रनुप्रास, वीप्सा, पद-मैत्री-का प्रयोग किया है ग्रौर ग्रभिव्यंजना के ग्रक्षयस्रोत-मुहावरों ग्रौर लोकोक्तियों को भी विस्मृत नहीं किया है। परिणाम यह हुग्रा कि उनके जीवन-काल में ही ऐसी सरस सजीव तथा मधुर भाषा से युक्त उनके पद ग्रौर सवैये चारों ग्रोर सुनाई देने लगे[1]। इस प्रकार भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने भाषा की एक सजीव परम्परा स्थापित करके कविता में एक प्रकार की ग्रात्मीयता ग्रौर स्वाभाविकता लादी है जो उनके पहले के कवियों में नहीं मिलती है[2]। इस युग की सरस ग्रौर सजीव भाषा के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

बनि बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोले न 'नाहीं', न 'हां'।
तुमही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहां॥
बरसा है 'प्रताप जू' धीर धरौ, ग्रबलौं मन को समझायो जहां॥
यह ब्यारि तवै बदलैगी कछू, पपिहा जब पूछि है पीव कहां॥

(प्रतापनारायण मिश्र)

घर बार बिसारि दियो सिगरौ, गुरु लोगन की नहिं भीति करी।
सखियान की सीख सुनी ना कछू, कुछ न्यारी ही लोक तें रीति करी॥
समझावति हीं बहु भांति हमैं, सब भूलि कै हा प्रतीति करी।
हमही यह लाल ग्रनीति करी, तुम ते बिनु जाने जो प्रीति करी॥

(रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर')

[1]हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्र शुक्ल) दसवां परि० सं०, पृष्ठ ५८१
[2]भारतेन्दु-युग (डा० रामविलास शर्मा) प्रथम संस्करण पृष्ठ

खिलि मालती-बेलि प्रफुल्ल कदम्बन पैं लपटी लहरान लगी,
सनकै पुरवाइ सुगन्धि-सनी, बक-पौलि अकास उड़ान लगी।
पिक, चातक, दादुर, मोरन की, कल बोल महान सुहान लगी,
'धन प्रेम' पसारत सी मन मैं, घन-घोर-घटा घहरान लगी।।
(बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन')

उत्तर-भारतेन्दु युग में आकर भाषा सजीवता की यह परम्परा आरम्भ में तो कुछ क्षीण पड़ने लगी, पर श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' और 'हरिऔध' के प्रयत्नों द्वारा इसे पुनर्जीवन मिला। पाठक जी तथा पूर्ण जी का भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण, भाव-क्षेत्र की ही भांति, स्वच्छन्दतावादी था। वे भाषा में प्रवाह, सरलता और सजीवता को अधिक महत्व देते थे और इस कारण अधिक से अधिक व्यंजक शब्द को प्रयोग करने में तत्परता दिखाते थे। इन दोनों ही कवियों की ब्रजभाषा कविताओं में जिस गति और प्रवाह के दर्शन होते हैं वह संपूर्ण आधुनिक काल में दुर्लभ है। इन रचनाओं को पढ़कर ऐसा ज्ञात होता है मानो कवि को शब्द-चयन करने में किसी प्रकार का प्रयास ही न करना पड़ा हो। उदाहरण के लिए पाठक जी के निम्नलिखित छन्द में भाषा की गतिशीलता दर्शनीय है :—

सजति, सजावति, सरसति, हरसति, प्यारी,
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तारसाही।
बिहरति बिबिध-बिलास-भरी जोबन के मद-सनि,
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति, बनि।

और 'पूर्ण' जी की अधोलिखित पंक्तियों में भी भाषा का प्रवाह अपनी चरम सीमा पर देखा जाता है—

नव कलित केसर-वलित हरित सुपीत नीप निहारि कै।
करि असन दल कंदलीन जो कलियाहिं प्रथम कछार पै।।
हे धन ? विपिन थल अमल परिमल पाय भूतल की भली।
मधुकर मतंग कुरंग वृन्द जनायहैं तेरी गली।।
(धाराधर—धावन)

इन कवियों के रहे-सहे कार्य को पूरा करने का काम 'रत्नाकर', 'दीन', 'सनेही', सत्यनारायण 'कविरत्न', वियोगीहरि तथा 'अनूप' द्वारा सम्पन्न हुआ। 'रत्नाकर' ने इस काल की ब्रजभाषा-कविता को सरसता, 'दीन' तथा 'सनेही' ने उसे उर्दू शायरी जैसी रवानी (प्रवाह), सत्यनारायण ने उसे लोक-जीवन की प्राणवत्ता, वियोगीहरि ने उसे परिवर्तित परिस्थितियों में अडिग रहने की शक्ति और 'अनूप' ने उसे नाद-सौन्दर्य प्रदान किया। निर्जीव भाषा केवल गिने-चुने राज-दरबारी

कवियों की वीरगाथा काल जैसी चाटुकारिता पूर्ण प्रशस्तियों और रीतिकाल जैसी राधिका कन्हाई की केलि-कथाओं में सिमिटी-सिकुड़ी पड़ी रही। शेष अन्य कवियों का भाषा इस काल में इतनी सजीव हो गई कि विगत के किसी भी काल में उसमें वैसी सजीवता और गतिशीलता के दर्शन नहीं होते थे। इस प्रकार विक्रम की २०वीं शताब्दी में कविता में प्रयुक्त होने वाली ब्रजभाषा रीतिकाल की निर्जीव, रूढ़िग्रस्त तथा क्षयशील न रहकर अत्यधिक सजीव, समर्थ, सहज और प्राणवान बन गई। इस विषय में कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

मनौ हंस-गन मगन सरद-बादर पर खेलत,
भरत भांवरैं जुरत, मुरत, उलहत, अवहेलत।
कबहुं बायु सौं बिचलि बंक-गति लहरति धावै,
मनहुं सेस सित बेस गगन तैं उतरत आवै।

('रत्नाकर'—गंगावतरण)

पावन सावन मास नई उनई घन-पांती।
मुनि मन-भाई छई रसमई मंजुल कांती॥
सोहत सुन्दर चहुं सजल सरिता पोखर ताल।
लोल लाल तहं अति अमल दादुर बोल रसाल
छटा चूई परै॥

——— भ्रमर-दूत—(सत्यनारायण 'कविरत्न')

जोम भरे अंगनि सों अमित उमंगनि सों,
हेरि नाचैं हंसि नाचैं हिरकि हिरकि कै॥
उझकि उझकि नाचैं शंभु श्रृंग-देसनि पै,
केशनि पै गंग नाचैं छिरकि छिरकि कै॥

ऊलि नाचैं भूलि नाचैं नट सम तूलि नाचैं,
फूलि नाचैं फैलि नाचैं फिरकि फिरकि कै॥

झुकि कै झपकि कै झिझकि कै झकोर दै कै,
नाचै ह्वै अथान थान थिरकि थिरकि कै॥

शिव-ताण्डव—(अनूप शर्मा)

व्यंजना में विस्तार तथा लाक्षणिक प्रयोगों का समावेश

भाषा की सजीवता पर विचार कर लेने के पश्चात यह आवश्यक हो जाता है कि आधुनिक काल में ब्रजभाषा कविता की अर्थ-व्यंजकता में जो अपार वृद्धि हुई है, उसकी भी थोड़ी चर्चा करली जाय। भाषा का पहला काम है शब्दों द्वारा अर्थ को बोध कराना। यह काम वह सर्वत्र करती है, इतिहास में, दर्शन में, विज्ञान

में, नित्य की बातचीत में, लड़ाई झगड़े में और काव्य में भी[1]। वैसे तो सभी भाषायें यह मूल-भूत काम करती हैं और काव्य-विकास की आरम्भिक अवस्था में अभिधा के सहारे भावों को भी साधारण रीति से प्रकट कर देती हैं। पर ज्यौं-ज्यौं अर्थ-व्यंजन प्रणाली प्रौढ़ और विकसित होती जाती है त्यों-त्यों लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी कविता के आदि या वीर-गाथा काल में अभिधा का ही एकछत्र राज्य रहा और भक्तिकाल तथा रीतिकाल में भी भाषा की लक्षण और व्यंजना शक्ति के अत्यल्प दर्शन होते हैं। इसके स्पष्ट कारण हैं। प्रथम तो यह कि वीरगाथा और रीतिकाल के कविगण मुख्यतः राज्याश्रित थे। अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना उनका मुख्य उद्देश्य था और इन राजाओं को कब अवकाश था कि वे लक्षणा और व्यंजना से युक्त गूढ़-गहन उक्तियों के मर्म के उद्घाटन का कष्ट सहते। यही बहुत था कि वे अभिधा की सीधी-साधी उक्तियों का रस लेकर उनकी सराहना कर देते थे। भक्तिकाल के कवियों की रचना-सार्थकता अपने इष्टदेव की उपासना में थी। वे विचारे तो अपने को कवि कहने में भी संकोच अनुभव करते थे और आन्तरिक प्रेरणा-जन्य सीधी-सादी भाषा में अपने उर-उद्गारों को व्यक्त करने में ही संतोष-लाभ करते थे। ऐसी स्थिति में उनके लिये भी अभिधा का सीधा-सादा, जाना-बूझा मार्ग ही अभीष्ट था। दूसरे, उन दिनों कवियों को अभिव्यंजना की नई-नई शैलियों को खोज निकालने की लालसा भी न थी। वे प्रायः पूर्ववर्ती कवियों और आचार्यों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने में ही अपने कवि-कर्म की इति-श्री समझ लेते थे। रीतिकाल के कुछ कवियों में लाक्षणिक प्रयोगों की ओर प्रवृत्ति पाई जाती है। घनानन्द के विषय में लिखते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल को यह शिकायत रही है—'कि लक्षणा का विस्तृत मैदान खुला रहने पर भी हिन्दी कवियों ने उसके भीतर बहुत ही कम पैर बढ़ाया[2]।' वस्तुतः, शुक्ल जी की यह शिकायत बहुत अंशों में सही थी। वैसे तो लाक्षणिक प्रयोगों की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है और सूक्ष्मतापूर्वक ढूंढ़ने पर प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि की रचना में ऐसे प्रयोग यत्र-तत्र मिल जायेंगे पर वीरगाथा काल के विद्यापति, भक्तिकाल के कबीर, जायसी, सूर और तुलसी तथा रीतिकाल के बिहारी, मतिराम, देव और घनानन्द की रचनाओं में इनका अपेक्षाकृत आधिक्य है। विशेषकर घनानन्द के लाक्षणिक प्रयोगों पर तो आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल मुग्ध ही दिखाई देते हैं। उनके अनुसार भाषा के लक्षक और व्यंजक बल की सीमा कहां तक है—इसकी पूरी परख इन्हीं की थी[3]। वैसे भी रीतिकालीन रीतिमुक्त धारा के प्रायः सभी कवियों—नेवाज, आलम, ठाकुर, बोधा

---

[1]पंडित रामचन्द्र शुक्ल—इन्दौर साहित्य सम्मेलन वाला भाषण, पृष्ठ ७

[2]हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचन्द्रशुक्ल) दसवाँ परि० सं० पृष्ठ ३३६

[3]वही—पृष्ठ ३३६

में लाक्षणिक प्रयोगों के प्रति विशेष रुझान देखा जाता है और प्राक्-भारतेन्दु-युग के 'द्विजदेव' की रचनाओं में भी ऐसे प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में मिल जाते हैं। यथा :—

आवन समैं में दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं में चल पलन दगा दई।

अथवा

सो मो अंखियान को लोनी गई लगि

अथवा

पग लाखन की अंखियां अटकीं।

इसी युग के 'ग्वाल' तथा बाबा दीनदयाल गिरि की रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग भी कहीं-कहीं उपलब्ध हैं। पर भारतेन्दु-युग तक आते-आते कविता में स्वानुभूति के प्राधान्य, अंग्रेजी कविता की अपूर्व लाक्षणिकता के प्रभाव तथा किन्हीं अंशों में उर्दू कविता की अर्थ-वक्रता से परिचित होने के कारण ब्रजभाषा में भी लाक्षणिक प्रयोगों का भी आधिक्य दिखाई देने लगा। स्वयं भारतेन्दु तथा उनके अनेक सहयोगी कवि उर्दू जानने के अतिरिक्त उसमें कविता भी करते थे, जैसे-भारतेन्दु, 'प्रेमघन' प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त इत्यादि। इसके अतिरिक्त इन लोगों को अंग्रेजी का भी ज्ञान था। ऐसी स्थिति में प्राचीन संस्कृत साहित्य में प्रचलित लाक्षणिक प्रयोगों की समृद्ध परम्परा और उर्दू तथा अंग्रेजी की लाक्षणिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर ब्रजभाषा-कविता में ऐसे प्रयोगों की वृद्धि होने लगी। यथा—

यारों, यह नहिं सच्चा धरम
छू-छू कर या नाक मूंद करि जो कि बढ़ाया भरम। (भारतेन्दु)

———

मन बौरें न कैसे सुगंध-सने, इन बौरे बसन्त की बातन सों।
(प्रेमघन)

———

यह व्यापारिक तवै बदलैगी कछू, 'पपिहा जब पूछिहै पीव कहां'।
(प्रतापनारायण)

———

आजु फगुवानो डोलै छैल। (प्रतापनारायण मिश्र)

आगे चलकर पंडित श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' 'हरिऔध' रत्ना-कर जयशंकर प्रसाद तथा 'वचनेश' की कविताओं में यह प्रवृत्ति और अधिक स्पष्टता से परिलक्षित होती है। वस्तुतः कविता के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी भावधारा के विकास के साथ-साथ इस प्रवृत्ति को और अधिक प्रश्रय मिला। वर्ण्य-विषयों के बिस्तार तथा काव्य-शैलियों के वैविध्य के साथ ही तत्कालीन ब्रजभाषा कवियों ने भाषा की लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता, भाषा की चित्रमयता, नाद-सौन्दर्य तथा

ध्वन्यार्थव्यंजनो के भी महत्व को पहचाना और अपनी रचनाओं में सहज रूप से उन्हें स्थान दिया[1]।

उदाहरण के लिए—

अगम घोर धन बनवा जंगल झार
गह्वर गर्त कठिनवा कुबट कुढार।
भिरत जहां तरु बरवा बिरवा बांस।
भरत बतास अधिवा दीरघ सांस।
तिमि दुर्गम दल-दलवा नरवा नार।
सुठि जलपात सुथलवा विसम कगार। देहरादून-'श्रीधर पाठक'

———

प्रथम भाषण ज्यों अधरान में।
रहत है तउ गूंजत प्रान में॥
तिमि कहौ तुमहूं चुपधीर सों।
बिमल नेह कथान गंभीर सौं॥
कछु कहौ नहि पै कहि जात हौ।
कछु लहौ नहिं पै लहिजात हौ॥

नीरवप्रेम-चित्राधार (जयशंकर 'प्रसाद')

———

कढ़त न क्यौं हूं हाय, बिथके उपाय सबै,
धीर-आक-छीर हूं न धारैं धसकत है,
ऊधौं, ब्रज-बास के बिलासनि कौ ध्यान धंस्यौ,
निसि-दिन कांटे लौं करैजैं कसकत है।

———

फिरत हुते जू, जिन कुंजनि मैं आठौ जाम,
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं।

———

आंस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं।

उद्धव शतक (जगन्नाथदास 'रत्नाकर')

———

रस भी जिबो पाछिली राति सों, ओससौ
आंसुन को टपकाइवो सीखी।
मन दीबो चकोरन सों, पपिहान सों
एकहि की रट लाइवो सीखी। शवरी (वचनेश)

[1]आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास (कृष्णशंकर शुक्ल) पृ० ३६

यहां यह उल्लेखनीय है कि खड़ी बोली कविता में छायावादी काव्य-धारा के प्रवर्त्तक—जयशंकर 'प्रसाद' पहले ब्रजभाषा में ही 'कलाधर' उपनाम से कविता करते थे और 'चित्राधार' नामक पुस्तक में संग्रहीत उनकी ब्रजभाषा कवितायें लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। अपनी इसी प्रवृत्ति को उन्होंने आगे चलकर खड़ी बोली कविता में विशेष उत्कर्ष प्रदान किया। यहां यह समझ लेना उपयुक्त होगा कि जहाँ इस समय के खड़ी बोली कवियों में लाक्षणिक वक्रता और मूर्तिमत्ता के प्रति इस सीमा तक आग्रह दिखाई पड़ता है कि उसे धुन या सनक तक कह दिया जाय, वहीं इस समय के ब्रजभाषा कवियों में ऐसे प्रयोगों का ही आधिक्य है जो भाषा की व्यंजना-शक्ति में वृद्धि करने के साथ-साथ उसमें अस्वाभाविकता का समावेश नहीं करते हैं।

आगे चलकर उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश', डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय तथा डा० जगदीश गुप्त आदि की रचनाओं में लाक्षणिक वक्रता, चित्रात्मक, तथा नाद-सौन्दर्य की प्रवृत्ति अपने चरम-सौन्दर्य सहित परिलक्षित होती है। यथा—

अजहुं न आयौ मेरो प्यारो साजना
दीप बुझ्यौ देहरि पै देखति राहरे।

———

चुभत सुई सौं वै कारौ अंधियार है,
छिप्यौ चांदनी सौं कहं जानै प्यार है।
पीपर के पातन सों डोलै जीयरा,
परदेसी पै कब काको अधिकार है।

———

सहमि सिमिटि कै अनचाहे संदेश सी,
सौत समीरै हूं देखौ रुकिबे लगी।
मीठे सपने आए नहि रोके रुकैं,
उठि बैठो फिरि लोनो-लोनो दाहरे।

प्रतीक्षा-गीत (डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय)

———

अरुन अंखियन मैं नव अनुराग,
कोकनद में ज्यौं कनक-पराग,
भाल मैं कुंकुम–विन्दु सुहाग,
दिपत मेरे प्रानन कौ राग।

कुसुमवती—(उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश')

काव्य-भाषा की व्यंजना शक्ति को बढ़ाने में जो उपकरण सहायक सिद्ध होते हैं उनमें लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी-

कवियों ने आरम्भ से ही इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है, जब कि उर्दू कवि इस दिशा में विशेष जागरूक रहे हैं। रीतिकाल में ठाकुर ने प्रथम बार लोकोक्तियों के प्रयोग को कविता में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। आधुनिक युग के आते-आते भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों ने लोकोक्तियों और मुहावरों में छिपी अपार-व्यंजना शक्ति को पहचाना और उससे लाभ उठाने की ओर प्रवृत्त हुए। विशेष रूप से भारतेन्दु, अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध', प्रतापनारायण मिश्र आदि ने इस क्षेत्र में स्तुत्य प्रयास किए। उदाहरण के लिए—

जलपान कै पूंछनी जाति नहीं।
ऊंची दुकान की फीकी मिठाई।
नौ घरी भद्रा, घरी मैं जरै घर। (भारतेन्दु)

———

घर की खांड़ खुरखुरी लागै, चोरी का गुड़ मीठा।
राजा करै सो न्याय है पांसा परै सो दांव।
(प्रताप नारायण मिश्र)

———

नंदललै तों भलै मसलै कियो—'डोम को डोली औ पैंदर पाठक।
मौन गहौ जनि ऊधौ कहौ अब 'नाना के आगे नैनौरे की बातें।
बैठन देत बराबर आम जु नेक विवेक न कोकिल कौआ।
(अयोध्या प्रसाद वाजपेयी 'औध')

प्रतापनारायण जी ने तो इस ओर विशेष ध्यान देते हुए लोकोक्ति-शतक-नामक एक कृति ही प्रस्तुत कर डाली और पंडित जवाहर लाल ने—'उपखान-पचासा' (सं० १९६१) में भ्रमर-गीत प्रसंग पर रचना करते हुए प्रत्येक छन्द के अन्त में किसी न किसी लोकोक्ति का प्रयोग कर डाला। यथा—

प्रीति 'जवाहिर' यों इनकी, ज्यों उधारे को खाब, पुआरे को तापब।
सो कुबरी कुचकोर चढ़े, ज्यों चमेली फुलेल छछूंदर के सिर।
सुना जो 'जवाहिर' सो देखि परै आंखिन सों, धोबी के बिआह मौर बांधि जाइ गदहा

आगे चलकर ब्रजकिशोर पाण्डेय 'ब्रजनन्दन' ने इसी परम्परा का सफल निर्वाह किया है। यथा—

आपनो दाम जों ह्वै गयो खोट, कहा परखैयन को तब दोस है।
ऊधो मनो गुड़ दिखराय ईंट मारी है।

लोकोक्तियों की अपेक्षा आलोच्य काल के ब्रजभाषा-कवियों ने मुहावरों (प्रोक्तियों) की ओर कम ध्यान दिया है। फिर भी भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रताप नारायण मिश्र और आगे चलकर नाथूराम शर्मा 'शंकर' लाला भगवान दीन 'दीन' 'हरि

औध', 'रत्नाकर' 'सनेही' तथा वियोगीहरि की रचनाओं में इनके सफल प्रयोग उपलब्ध हैं। 'हरिऔध' 'दीन' और 'सनेही' ने अपनी खड़ी बोली की कविताओं में मुहावरों के प्रयोग की ओर जितना अधिक ध्यान दिया है, उतना ब्रजभाषा-कविता में नहीं, फिर भी निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य हैं :—

कहं पायन मेहँदी लगी, जासों चल्यो न जाय।
मानौ विलग न नेक सांवरे, घट बढि कै नहिं कोऊ॥ (भारतेन्दु)

औसर चूके फिर पछितैहो हाथ मीजि सिर फोरी।
(प्रतापनारायण मिश्र)

पकि पकि रहि हैं पकरि कै करेजे कौलौं।
पीरो मुंह परे बनी बात हू बिगरि है। (हरिऔध)

प्रेम अरु जोग मैं है जोग छठै-आठै परयौ।
जैहै तीन तेरह तिहारी तीन-पांच ह्वै। (रत्नाकर)

चाटत प्रभु-पद स्वान लौ, फिरत हलावत पूंछ।
दिल हू तेरो बुझि गयौ, वामैं नेक न आब। (वियोगी हरि)

लोकोक्तियों और मुहावरों की चर्चा के पश्चात् इसी प्रसंग में ध्वन्यार्थ-व्यंजना या चित्र-व्यंजक भाषा के प्रयोग की चर्चा भी समीचीन होगी, क्योंकि उसके सहारे वर्ण्य-वस्तु का चित्र मूर्त होकर नेत्रों के समक्ष आ जाता है। अंग्रेजी के अलंकार-शास्त्र में वर्णित 'अनोमोटोपिया' की भांति ध्वन्यार्थ-व्यंजना को अलंकार मात्र मान लेना नितान्त भ्रामक होगा, क्योंकि इसका क्षेत्र कोरे अलंकरण मात्र से अधिक व्यापक होता है और शृंगार, वीर, रौद्र, वीभत्स आदि रसों की सफल-व्यंजना में इसका प्रयोग अत्यधिक सहायक सिद्ध होता है। यही नहीं, वातावरण रूप, दृश्य, भाव आदि के चित्रण में स्वाभाविकता तथा चित्रमयता लाने के लिये भी इसका प्रयोग बहुत आवश्यक होता है। नीचे के उदाहरणों में ध्वन्यार्थ-व्यंजना के प्रयोग द्वारा ही पद्यांशों में विशेष मार्मिकता आ सकी है :—

घर कोठिन की तरकनि दरकनि मांटी सरकनि
देखहु तिनकी अर-र र-रसऊपर से ररकनि। (सत्यनारायण कविरत्न)

———

चली धार धुधकारि धरा दिसि काटति कावा
सगर सुतनि के साप-ताप पै बोलति धावा। (जगन्नाथदास रत्नाकर)

———

हेरत हरत हियरवा काजर कोर
पेखत रूप पियरवा नित तृन तोर।

अलस, सैन अनुरागे, पागे मैंन,
मो बिन नैन न लागे, जागे रैन। (मुंशी अजमेरी जी)

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि आलोच्य शताब्दी में ब्रजभाषा कविता की अर्थ-व्यंजना में पर्याप्त वृद्धि हुई और उसके साथ ही उसमें लाक्षणिक प्रयोगों की परम्परा का भी प्रचुर समावेश हुआ।

छंदों का प्रयोग-वैविध्य

कविता और छंद परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। आदि काल से लेकर अब तक छंद मानव-विचारों का वाहक, अनुभूतियों का प्रसारक और कवि के अन्तस्तल की आनंदमयी कल्पना का मूर्त रूप रहा है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने वेद के ६ प्रमुख अंगों में छंद का स्थान सर्व प्रथम माना है[1]। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए अपने को छन्दों में गायत्री छन्द कहा है[2]। वस्तुतः कविता और छन्द का सम्बन्ध कविता और संगीत का सम्बन्ध है, क्योंकि संगीत की लय का एकमात्र आलम्बन है छन्द। छन्द लय के बिना निर्जीव है, क्योंकि वही छन्द की स्वांस है। छंद पर, साधारणतया, तीन प्रकार के बन्धन होते हैं—परिमाण (वर्ण, गण या मात्रा) का बन्धन, अन्त्यानुप्रास (तुक) का बन्धन और लय (गण, वर्ण या मात्रा के भेद से) का बन्धन। निश्चय ही मानव ने श्रवण-सम्मोहन के कारण ही छन्द और लय का आविष्कार किया होगा।

हिन्दी के प्राचीन पिंगल-ग्रन्थों में द्विविध छन्दों का उल्लेख है और तदनुकूल पुरानी हिन्दी कविता में इन दो ही प्रकार के छन्दों का प्रयोग उपलब्ध है। ये हैं संस्कृत के वर्ण-प्रधान वर्णिक और हिन्दी के मात्रा-प्रधान मात्रिक छन्द। अपनी रचना के लिये छन्द का निर्वाचन करते समय कवि को यह बात भी निश्चित्-रूपेण ध्यान में रखनी पड़ती है कि कुछ छन्द कुछ रसों के लिये, और अन्य दूसरे रसों के लिए अधिक अनुकूल पड़ते हैं। संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न छन्दों की रसानुकूलता पर विस्तृत विचार किया है। उनके अनुसार करुण-रस के लिये रूप-माला, मालिनी, हरिगीतिका और शिखरिणी, वीर-रस के हेतु वीर, छप्पय, मनहरण, अरिल्ल और तोटक, तथा शृंगार रस के लिये बरवै, दोहा और सवैया अधिक उप-युक्त ठहरते हैं। आधुनिक काव्याचार्य रायबहादुर जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के अनुसार चौपाई, दोहा, सरोठा, छप्पय, सवैया और कवित्त छन्द सभी रसों के अनुकूल ठहरते हैं। रसानुकूलता के अतिरिक्त, जहां मुक्तक काव्य के लिये दोहा, सोरठा, और सवैया छन्दों का माध्यम अधिक अनुकूल है, वहीं प्रबन्ध-काव्य के लिये रोला, मन्दाक्रान्ता, हरिगीतिका तथा कवित्त या घनाक्षरी का माध्यम अधिक उपयुक्त है।

---

[1]छन्द, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण।

[2]गायत्री छन्द सामहम् (गीता, अध्याय १०, श्लोक ३५)।

हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों में प्रयुक्त किए गए छन्दों का सर्वेक्षण हमें यह बताता है कि वीरगाथा काल में दूहा (दोहा), छप्पय, चौपाई, त्रोटक, तोमर, भुजंगी, पद्धरी, वीर, अरिल्ल, रोला आदि छन्दों का प्रयोग सर्वाधिक उपलब्ध है और ये छन्द वीर-रस की अभिव्यक्ति के लिये अधिक उपयुक्त भी थे। भक्तिकाल में दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, बरवै, छप्पय, कुण्डलिया आदि छन्दों के साथ गेय पदों का प्रयोग सर्वाधिक प्राप्त है। पर उक्त दोनों काल भाव-प्राधान्य के काल थे। रीतिकाल में कलापक्ष की प्रधानता हुई। यह तो निश्चित ही है कि छन्द-विधान काव्य के कलापक्ष के अन्तर्गत आता है और हिन्दी साहित्य के उक्त दो कालों में भावपक्ष की प्रधानता के कारण उस समय के कविगण छन्द प्रयोग की ओर विशेष उत्साह नहीं दिखाते थे। उनके लिये छन्द कविता का आवरण मात्र था। पर रीति-काल जिसे कला-काल के नाम से भी अभिहित किया जाता है, तक आते आते कवि-गण छन्द प्रयोग के क्षेत्र में भी विशेष जागरूक हो गये। साहित्य क्षेत्र में एक परि-पाटी यह बन गई कि कवि या महा-कवि कहे जाने के लिए साहित्य-शास्त्र के अन्य अङ्गों पर रचना करने के साथ-साथ पिंगल-शास्त्र का अनिवार्य ज्ञान तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग भी अनिवार्य समझा जाने लगा। इस प्रकार अलंकार, रस, नायिका-भेद, नख-शिख आदि काव्य-शास्त्र के विभिन्न अङ्गों पर ग्रन्थ-रचना के साथ-साथ पिंगल-ग्रन्थों की रचना की परम्परा साहित्य क्षेत्र में बन गई, जिसके अनुसार कुछ कवि तो छन्दों के लक्षण के उदाहरण के रूप में स्वयं अपने छन्द प्रस्तुत करते थे और कुछ अपने लक्षण रचकर उदाहरण के रूप में दूसरों के छन्द चुनते थे। वैसे तो स्वतंत्र शास्त्र के रूप में छन्दो-ज्ञान की वृद्धि के लिये यह प्रवृत्ति बड़ी हितकर और मंगलमयी थी। पर कालान्तर में एक अनिवार्य परम्परा बन जाने के कारण इस शास्त्र का स्वतंत्र विकास रुक गया और इस परिपाटी में कृत्रिमता की गन्ध आने लगी। कविगण गिने-गिनाये छन्दों के लक्षण तथा उदाहरणों का न्यूनाधिक समान तथा भिन्न भाषा में पिष्ट-पेषण करने लगे। इसी कारण इस क्षेत्र में किसी मौलिक या स्वतंत्र उद्भावना के दर्शन नहीं होते हैं।

प्राक्-भारतेन्दु काल तक भाषा, भाव और शैली की भांति छन्दों के क्षेत्र में भी रूढ़िवादिता के ही दर्शन होते हैं, पर भारतेन्दु के उदय-काल से ही स्थिति में परिवर्तन के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगते हैं। काव्य के सभी क्षेत्रों में नवीनता के समावेश के साथ साथ छन्द प्रयोग की दिशा में भी नई प्रवृत्तियां सन्मुख आती हैं। रीतिकाल के सर्वाधिक प्रचलित कवित्त, सवैया और दोहे के साथ साथ अनेक नये छन्दों का प्रयोग इस समय आरम्भ हुआ और इन शास्त्रानुमोदित शिष्ट छन्दों के साथ-साथ लोक जीवन से गृहीत लावनी, कजरी, बिरहा, घमार, कबीर, चौबोला आदि भी स्वतन्त्रतापूर्वक कविता में प्रयुक्त होने लगे। भारतेंदु स्वयं बड़े मनमौजी जीव

थे और उनकी मण्डली में प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र, जगमोहनसिंह तथा कृष्णदेव शरण सिंह 'गोप' भी उन्हीं की भाँति स्वच्छंद प्रकृति के व्यक्ति थे। प्रतापनारायण के विषय में तो यहां तक कहा जाता है कि वे लावनीबाजों की संगति में रहते थे। ऐसी स्थिति में भारतेन्दु मण्डल के कवियों द्वारा लोक-छन्दों का अपनाया जाना कविता के लिये स्वाभाविक ही नहीं अपितु शुभ भी था। पर इस युग के कवि छन्दों के क्षेत्र में केवल इन्ही दो रूपों से संतुष्ट नहीं रहे। उन्होंने कुछ आगे बढ़कर उर्दू की गज़ल और रेखता की बह्रों का भी प्रयोग किया और कुछ ने तो बङ्गला के लोक-प्रिय पयार छन्द को भी अपनाया[1]। भक्तिकाल से चली आने वाली गेयपदों की शैली का तो वे पहले से ही प्रयोग करते आरहे थे। इस प्रकार इस युग तक आते आते छन्दों के क्षेत्र में हमें अनेक शैलियों के दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिए—

गेयपद : सखी हम बंसी क्यों न भए,
अधर सुधार-रस निसु दिनु पीवत प्रीतम रङ्ग रए
कबहुंक कर में, कबहुक कटि में, कबहूं अधर धरे
सब ब्रज-जन-मन हरत, रहत नित कुंजन माँझ खरे। (भारतेन्दु)

——

सवैया : जानै न बोल कुबोल भटू, चित ठाने सदा पति प्रीति सुहाई।
केतो करै उपचार सखी, सतराय न नाह पै भौंह चढ़ाई॥
क्यों नहिं होय 'सुमेरहरी', हरि के हिय आनंद की अधिकाई।
जाहि बिलोकत ही पुर कीतिय, सीखि गई पति की सेवकाई॥

—— (बाबा सुमेरसिंह साहबज़ादे)

होली ढफ : तरसाय जनि रूप भिखारी को।
दै दिखाय मुख-चंद, टारि टुक प्यारी घूंघट सारी को।
बरसि आज रस बिहसि 'प्रेमधन', सौहैं तोहि बनवारी को।
(प्रेमधन)

पर इन कवियों का कृतित्व छन्दों के क्षेत्र में यहीं तक सीमित नहीं रहा। उन्होंने उर्दू की बह्र और हिन्दी के दोहों को मिलाकर तरजीह बन्द की नई सृष्टि की[2]। यथा :—

चमक से बर्क के उस बर्क-बस की याद आई है
घुटा है दम, घटी है जाँ, घटा जब से ये छाई है
कौन सुनै कासों कहों सुरति बिसारी नाह
बदाबदी जिय लेत हैं, ए बदरा बदराह
बहुत इन जालिमों ने आह अब आफत उठाई है। (भारतेन्दु)

[1] हिन्दी साहित्य कोष, पृष्ठ १८१

[2] भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि (डा० किशोरीलाल गुप्त) पृष्ठ ३०६।

इससे यह स्पष्ट होता है कि छन्दों के निर्वाचन में ये कविगण केवल व्यर्थ की विविधता का प्रदर्शन ही नहीं करना चाहते थे, वरन् विषयानुकूल छन्दों के प्रयोग को विशेष महत्व देते थे। उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जहां भक्ति-भावना के लिये पदों का प्रयोग किया गया है, शृंगार के लिये सवैया को चुना गया है वहीं समसामयिक घटनाओं और लोक-प्रचलित विषयों के लिये लोक-छन्दों का प्रयोग अधिक उपयुक्त समझा गया है। पर भारतेन्दु युग की संध्या तक आते-आते यह स्थिति कुछ बदलने लगी। खड़ी बोली कविता के क्षेत्र में, आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी के अधिनायकत्व में, इस समय संस्कृत-वृत्तों की प्रधानता होने लगी थी और तुकान्त के स्थान पर अतुकान्त छन्दों की बाढ़ सी आ गई थी। इस प्रवृत्ति का परोक्ष प्रभाव समसामयिक ब्रजभाषा-कविता पर भी पड़ा, पर ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति संस्कृत-वृत्तों के अधिक अनुकूल न होने के कारण, यहाँ यह प्रवृत्ति अधिक दिन न चल सकी। खड़ी बोली की स्थिति ब्रजभाषा से नितान्त भिन्न थी। उसके कवियों के सामने छन्दों के चुनाव की एक समस्या थी[1]। पर ब्रजभाषा के सम्मुख इस प्रकार की कोई उलझन न थी अतः वह अपने पुराने मार्ग पर ही चलने लगी।

उत्तर-भारतेन्दु युग के छन्द प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि छन्दों के प्रयोग में कविगण अत्यधिक सचेत और नियमों को अक्षरशः पालन करने वाले थे। इस समय की ब्रजभाषा-कविता में छन्द संबंधी यति तथा गति सम्बन्धी दोष बहुत कम मिलेंगे। इस काल के ब्रजभाषा कवियों में छन्दों के प्रयोग में जिन लोगों ने विशेष कुशलता का परिचय दिया, उनमें प्रमुख थे—नाथूराम शर्मा 'शंकर', लाला भगवानदीन 'दीन', जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', नवनीत चतुर्वेदी, रामनारायण पाल, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', वचनेश मिश्र तथा गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'। अपने अपार छन्द ज्ञान तथा उसके व्यावहारिक प्रयोग की विलक्षणता के कारण नाथूराम शर्मा 'शंकर' को 'कविता-कामिनि-कान्त' की उपाधि ही मिल गई थी। इसी प्रकार कविवर वचनेश मिश्र को, नये-नये छन्द आविष्कृत करने के उपलक्ष में सुकवि-सम्पादक-'सनेही' जी ने अभिनव-पिंगलाचार्य की उपाधि से अलंकृत किया था। उक्त दोनों व्यक्तियों ने छन्द प्रयोग के साथ-साथ छन्दों के शास्त्रीय ज्ञान का भी विशेष परिचय दिया है। आचार्य 'भानु' के 'छन्द-प्रभाकर' ने तो अनेक नौसिखियों को पिंगल शास्त्र का अच्छा ज्ञान करा दिया। नये-नये छन्दों की सृष्टि की दृष्टि से भी यह युग बहुत अनुकूल था, क्योंकि इसी में पंडित श्रीधर पाठक, आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी और जयशंकर 'प्रसाद' ने कई मिश्र छन्दों का आविष्कार किया और नाथूराम शर्मा 'शंकर' ने छन्द के क्षेत्र में अनेक विलक्षण प्रयोग किये। उदाहरण के लिये—भुजंग-प्रयात मिलिन्दपाद, तोटक मिलिन्दपाद, कलाधर मिलिन्दपाद, त्रिविर मिलिन्दपाद

[1] आधुनिक काव्य-धारा (डा०/केशरीनारायण शुक्ल) द्वि० आ०, पृष्ठ १२६

आदि का निर्माण इसी विचित्रता का प्रतिफल था। उक्त कवियों के प्रतिकूल लाला भगवानदीन 'दीन' तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने उर्दू की बह्रों के आधार पर अनेक नये छन्द आविष्कृत किये। इस प्रकार इस समय तक आते-आते प्राचीन छन्दों की, द्विविध धारा सरलतापूर्वक ही पंचमुखी बन गई। संस्कृत वृत्तों की, हिन्दी छन्दों की, लोक-जीवन से ग्रहण किये गये लोक-छन्दों की, उर्दू से ली गई बह्रों तथा बंगला के पयार तथा अन्य छन्दों से प्रभावित नव-निर्मित छन्दों की बहुमुखी धारा हिन्दी कविता में प्रवाहित होने लगी। पर यह स्थिति मुख्यतः मुक्तक काव्य के क्षेत्र तक ही सीमित थी।

जहाँ तक प्रबन्ध-काव्य का सम्बन्ध था, उनमें छन्दों की विविधता के अपेक्षाकृत अधिक दर्शन होते हैं। उदाहरण के लिये— आलोच्य काल में लिखित 'रामरसायन' (रसिक बिहारी), रामचन्द्रोदय (रामनाथ जोतिसी) भरत-भक्ति (शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'), रावण (हरदयालुसिंह) आदि प्रबन्ध-काव्यों में कुल मिलाकर लगभग १०० प्रकार के छन्दों का प्रयोग मिलता है। केवल 'रामरसायन' में ही ४२ प्रकार के छन्दों (देखिये प्रतिनिधि रचनाओं वाला अध्याय) और भरतभक्ति में २५ प्रकार के संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग उपलब्ध है। इसी प्रकार साहित्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में भी छन्द-वैविध्य के दर्शन होते हैं। 'साहित्य-सागर' (बिहारी ब्रह्मभट्ट), 'दिग्विजय-भूषण' (मुंशी गोकुल प्रसाद 'ब्रज'), रसकलस (हरिऔध), छन्द प्रभाकर तथा काव्य-प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद 'भानु') आदि में भी छन्दों की विविधता के दर्शन होते हैं।

वर्तमान काल तक आते-आते छन्द प्रयोग के क्षेत्र में जिस नये परिवर्तन के दर्शन होते हैं, वह है मुक्त-छन्द का प्रयोग। राजनीति के क्षेत्र में वैयक्तिकता के अधिकाधिक प्रसार के साथ-साथ, छन्दों के क्षेत्र में भी स्वच्छंद प्रवृत्ति के दर्शन होने लगे और यह प्रवृत्ति उस समय अपनी चरम सीमा पर पहुंची जब 'ब्रज-भारती' के रचयिता—उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' ने ब्रजभाषा में मुक्त-छन्द का प्रवर्तन किया। खेद है कि अल्पायु में काल-क्वलित हो जाने के कारण उनके द्वारा आरम्भ किया गया यह साहसिक तथा श्लाध्य प्रयत्न आगे न बढ़ सका। 'उमेश' जी की ही भांति छन्द प्रयोग में स्वच्छंद प्रवृत्ति के दर्शन रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' रचित 'सौरभ' नामक कविता-संग्रह में होते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विवेच्य काल में ब्रजभाषा के कवियों ने छन्द-प्रयोग के क्षेत्र में जितनी विविधता दिखाई, वह हिन्दी साहित्य के संपूर्ण इतिहास में अप्रतिम है। अनेक नये छन्दों का प्रयोग, विभिन्न भाषाओं के छन्दों का ब्रजभाषा कविता में समावेश और सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता की भावना के अनुरूप-मुक्त छन्द का प्रयोग—ये सभी प्रवृत्तियां अपने आप में विशेष महत्वपूर्ण हैं। यहां यह उल्लेख

कर देना अप्रासंगिक न होगा कि आधुनिक खड़ी बोली कविता में आज जिस मुक्त छन्द का बोलबाला है, वह ब्रजभाषा के सबसे अधिक लोक-प्रिय छन्द-कवित्त के आधार पर ही रचा गया है[1]। ब्रजभाषा-कविता के इस छन्द की अत्यधिक निन्दा छन्दों के अनुपम पारखी, कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने ग्रंथ 'पल्लव' की भूमिका में की है[2], पर छायावादी युग के ही दूसरे युगान्तरकारी कवि, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के अनुसार हिन्दी में मुक्त-छन्द कवित्त छन्द की बुनियाद पर ही सफल हो सकता है[3]।

ब्रजभाषा का कवि आज भी अपनी रचनाओं के लिये छन्दों का माध्यम चुनते समय कोरी विविधता के पीछे न जा कर, भावानुकूलता का विशेष आश्रय लेता है और इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम है कि वर्तमान ब्रजभाषा कविता में हिन्दी संस्कृत, उर्दू आदि के छन्दों के साथ-साथ गेयपदों और यदा-कदा मुक्त-छन्द के भी दर्शन हो जाते हैं। छन्दों के क्षेत्र में यह उपलब्धि कम महत्वपूर्ण नहीं है।

काव्य-रूपों का विस्तार

जब अनुभूति की अभिव्यक्ति में छन्द, लय आदि काव्य-शरीर के अंगों का गुम्फन किसी विशेष ढंग से करता है, तब रूप या काव्य-रूप का प्रादुर्भाव होता है[4]। वस्तुतः काव्य-रूप, भाव या व्यक्तव्य वस्तु को स्पष्ट करने की निश्चित प्रणाली भी कहा जा सकता है[5]। इसी कारण इनके उद्भव और विकास की प्रक्रिया देश-काल की सामाजिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों से परि-चालित होती है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में समय-समय पर होने वाले परिवर्तन और अनुभूति के संकोच-विस्तार के अनुरूप ही इनमें यथा समय परिवर्तन होता रहता है। वस्तुतः, किसी कवि की सबसे बड़ी परीक्षा यही होती है कि वह अपनी व्यक्तव्य वस्तु के लिए किस प्रकार का रूप चुनता है। यदि उसके चुनाव में सामन्ज-स्य और औचित्य हुआ तो उसकी सफलता सन्देहातीत होती है, अन्यथा सफलता संशयास्पद ही बनी रहती है। यहां यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कुछ काव्य-रूप ऐसे होते हैं जो किसी निश्चित भाषा ही में नहीं अपितु काल-विशेष में ही लोकप्रिय हो पाते हैं, जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जो देश और काल, भाषा और बोली की संकीर्ण सीमाओं को पार कर अबाध रूप से साहित्य-क्षेत्र में अपना आसन जमाये रहते हैं।

---

[1]परिमल (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला') चौथी आवृत्ति भूमिका, पृष्ठ २२

[2]देखिये-पल्लव का प्रवेश, पृष्ठ २६

[3]द्रष्टव्य-'परिमल की भूमिका में 'निराला' जी की यह पंक्ति-'यदि हिन्दी का कोई जातीय छंद चुना जाय, तो यही होगा।' इसी सम्बन्ध में डाक्टर शम्भूनाथसिंह द्वारा लिखित-'छायावाद-युग' नामक ग्रन्थ के ३६२ पृष्ठ पर लिखित निम्नलिखित पंक्तियां भी उल्लेखनीय हैं 'निराला' ने अधिकतर घनाक्षरी (कवित्त) को तोड़कर मुक्तों-छन्दों की रचना की है।

[4]काव्य-रूपों के मूल स्रोत और उनका विकास (डा० शकुन्तला दूबे) प्र० सं०, पृष्ठ १२

[5]सूर-पूर्व ब्रज-भाषा और उसका साहित्य (डा० शिवप्रसाद सिंह) पृष्ठ ३१२

संस्कृत के लक्षण-ग्रन्थकारों ने बहुत से अभिजात काव्य-रूपों का अध्ययन किया था। महाकाव्य, कथा, आख्यायिका, मुक्तक-काव्य आदि पर प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में सविस्तार विवेचन प्राप्त है, पर कुछ ऐसी भी लोक-प्रचलित काव्य-रूप थे, जो विवेचित नहीं हो सके।

किसी भी काल-विशेष में इन काव्य-रूपों के मुख्यत: तीन वर्ग उपलब्ध होते हैं। प्रथम वे, जो पूर्व परम्परा से प्राप्त होते हैं और जिनके प्रवर्तन या विकास के लिए समसामयिक कवियों को विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। निश्चय ही मौलिकता की दृष्टि से इनका सबसे कम महत्व होता है। द्वितीय वे, जो प्राप्त तो परम्परा से ही होते हैं, पर अतीत में प्रवर्तित होकर बीच में उनकी धारा छिन्न-भिन्न हो जाती है स्वभावत:, ऐसे काव्य-रूपों का पुन: प्रयोग तथा उन्हें विकसित करने का प्रयत्न, प्रथम वर्ग में परिगणित काव्य-रूपों की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है। तीसरे वर्ग के अन्तर्गत वे काव्य-रूप आते हैं जो उसी काल की मौलिक या निजी देन होते हैं। निश्चय ही, इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले काव्य रूपों का ही महत्व सबसे अधिक माना जाना चाहिये।

विक्रम की २०वीं शताब्दी के आरम्भ में जब ब्रजभाषा कविता के आधुनिक काल का आरम्भ हुआ तो उसके पास प्रथम दो वर्गों के ही काव्य-रूप थे। इस काल से पहले रीतिकाल में भाषा को सजाने-सवारने तथा अधिकाधिक काव्योपयुक्त बनाने में ही कवियों का सम्पूर्ण प्रयत्न केन्द्री भूत था, अत: उन्हें अन्य किसी क्षेत्र में मौलिकता दिखाने का अवसर ही प्राप्त न हो सका। इस प्रकार उस काल में काव्य-रूपों के विस्तार या प्रसार की दिशा में कोई नवीन प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता है। केवल बंधे-बधाये चौखटों में कविता जड़ी जाती रही। इस काल में मुक्तक-काव्य, जो दरबारी संस्कृति का चरम प्रतीक माना जाता है, अपनी पूर्ण उन्नति पर था। राम, कृष्ण और अन्य पौराणिक महापुरुषों को लेकर यदाकदा चरित तथा लीला-काव्य भी लिखे जाते थे, पर इनकी रचना परम्परा अपेक्षाकृत क्षीण ही थी। मुक्तकों के इस चरमोत्कर्ष-काल में महाकाव्यों की रचना की आशा करना बहुत कुछ अस्वाभाविक ही लगता है, क्योंकि जिन आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिये उन दिनों काव्य-रचना होती थी, उन्हें इतना अवसर कहां था कि वे इन लम्बी-लम्बी कृतियों, उनके उदात्त चरित्रों, पंक्तियों ही नहीं अपितु पृष्ठों में फैलने वाले लम्बे-लम्बे वर्णनों तथा दृश्य-विधानों की सराहना का द्राविड़-प्राणायाम करते। अत: ऐसी स्थिति में महाकाव्य-रचना की अत्यन्त क्षीण परम्परा रीतिकाल में दिखाई पड़ती है।

आधुनिक काल के प्रथम युग अर्थात प्राक्-भारतेन्दु युग को अपने परवर्ती रीति-काल से जो रिक्थ प्राप्त हुआ था, उसी के परिणामस्वरूप उसमें जहाँ एक ओर मुक्तक-रचना का चरम प्रसार दिखाई पड़ता है, वहीं प्रबन्ध-काव्यों के क्षेत्र में

भी छुट-पुट प्रयास दिखाई पड़ते हैं। कहने को तो यह कहा जाता है कि इस काल में 'राम स्वयम्बर' (महाराज रघुराजसिंह), 'रामाश्वमेध' (मधुसूदन दास) 'जरासंध बध' (गिरिधरदास) आदि महाकाव्य लिखे गये, पर राष्ट्रीय अथवा जातीय प्रतिनिधित्व के गुणों का यथोचित अभाव होने के कारण इन्हें महाकाव्य के स्थान पर 'सकार्थकाव्य' की संज्ञा देना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि बाह्य-बंधान की दृष्टि से तो ये साहित्य-शास्त्र में वर्णित सभी लक्षणों की पूर्ति करते थे, पर आन्तरिक-तत्वों की दृष्टि से इनमें अनेक कमियां थीं, जैसे—वर्णनों की भरमार, रस-तत्व की अपेक्षा अलकरण और पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रबलता, सुश्रृंखलित तथा सुनियोजित कथा वस्तु का अभाव और चरित्र-चित्रण की ओर घोर उपेक्षा बरतने की प्रवृत्ति। केवल 'रसिकबिहारी' (महन्त जानकी प्रसाद) रचित 'राम-रसायन' में परम्परागत पद्धति को छोड़कर नवीन प्रसंगों की उद्भावना की प्रवृत्ति तथा अलंकरण के स्थान पर रसात्मकता की ओर झुकाव देखा जाता है। भारतेन्दु-युग में नवीन विषयों की उद्भावना तथा तीव्रता से परिवर्तित होने वाली राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के संदर्भ में कवियों को यह अवसर ही न मिला कि वे प्रबन्धकाव्य-रचना की ओर विशेष ध्यान दे पाते। पर उत्तर-भारतेन्दु-युग में स्थिति अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित और साहित्य रचना के अधिक अनुकूल हो गई थी। अतः इस युग में इस प्रकार की कई रचनायें सामने आईं, जिनमें प्रमुख हैं—'भरत-भक्ति' (शिवरत्न शुक्ल 'सिरस') 'रामचन्द्रोदय' (रामनाथ जोतिसी) 'बुद्ध-चरित' (रामचन्द्र शुक्ल) 'दैत्य-वंश' (हरदयालुसिंह) इत्यादि। पर इनमें परिपाटी-मुक्त कवि-कर्म के ही दर्शन अधिक होते हैं।

खण्ड-काव्य और चरित-काव्यों के क्षेत्र में महाकाव्यों या एकार्थकाव्यों की अपेक्षा अधिक मात्रा में तथा विशेष प्रौढ़ कृतियां आलोच्य काल में उपलब्ध हैं। प्राक्-भारतेन्दु युग में तो राम तथा कृष्ण, विभिन्न अवतारों, अनेक देवी-देवताओं और कुछ महापुरुषों को लेकर भी काव्य-रचना हुई। अकेले राम और कृष्ण के जीवन पर ही लगभग तीन-चार दर्जन रचनाएं प्राप्त हैं। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, रचना के ये आधार क्षीण पड़ते गये और काव्य-कृतियों में अधिक लोक-निष्ठा के दर्शन होने लगे। जहाँ तक पौराणिक या धार्मिक प्रसंगों को लेकर काव्य-रचना करने का सम्बन्ध था, उनमें भी नूतन प्रवृत्तियों की उद्भावना परिलक्षित होने लगी। या तो प्राचीन-परम्परा से प्राप्त विभिन्न पात्रों को एक नये परिधान में उपस्थित किया गया या फिर उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं के माध्यम से किसी समसामयिक समस्या का समाधान पस्तुत किया गया। हां, कुछ रचनाएं ऐसी भी उपलब्ध हैं जिन में पुरानी प्रवृत्तियों के ही दर्शन होते हैं। पर इनकी मात्रा अपेक्षाकृत कम ही है। खण्ड-काव्यों के क्षेत्र में जो उल्लेखनीय रचनाएं उपलब्ध हैं, उनमें प्रमुख हैं—'गंगा-

लिखित 'बालि-बध' तथा उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' कृत 'मीरा' आदि रचनाएं इस कोटि के अन्तर्गत ग्रहीत हैं ।

(४) **विवरणात्मक-काव्य** :—इसमें किसी मार्मिक या प्रभावोत्पादक घटना का विवरण होता है और कथा का भी क्षीण-सूत्र विद्यमान रहता है । भारतेन्दु की 'भारत-वीरत्व', 'भारत भिक्षा', राधाकृष्णदास लिखित 'जुबली', वियोगी हरि की 'मन्दिर-प्रवेश', श्याम सेवक लिखित 'प्रेम-फौजदारी', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित 'कृषक-क्रंदन, तथा रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति' रचित 'परिवर्तन' आदि रचनायें इस श्रेणी में गिनी जा सकती हैं ।

(५) **सम्बद्ध-मुक्तक-काव्य** :—यह नाम कुछ ऐसी रचनाओं को दिया जा सकता है जो न तो निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आती हैं और न वर्णनात्मक या आख्यानक काव्य के भीतर ही ली जा सकती हैं । ये मुख्यतः भाव प्रधान और आत्म परक रचनायें होती हैं । भारतेन्दु लिखित कई रचनाएं जैसे 'दान लीला', 'राम बिना बेकाम सभी', 'क्यों प्यारी फिरति दीवानी सी' आदि कई कृतियाँ इस कोटि के अन्तगत ग्रहण की जा सकती हैं ।

(६) **कौतुक-काव्य** :- रचनाओं के इस वर्ग का मुख्य उद्देश्य चमत्कारिक ढंग से पाठकों का मनोरंजन करना होता है । प्रहेलिका, मुकरियाँ, दृष्टकूट, विलोम-काव्य, विविध-भाषा-काव्य आदि रचनाएं इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं । भारतेन्दु युग में इस प्रकार की रचनाएं प्रचुर मात्रा में हुईं । अभी कुछ दिनों पहले श्री हृषीकेश चतुर्वेदी लिखित 'श्री रामकृष्ण-काव्य' इसका एक सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

उपरोक्त काव्य-रूपों के अतिरिक्त आलोच्य काल में पल्लवित-काव्य, तथा रूपांतरित या आधारित-काव्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये, जिनका विस्तृत वर्णन छठे अध्याय के अंतर्गत किया गया है ।

अधिकाधिक मनोरंजन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने मुक्तक रचनाओं को विशेष प्रोत्साहन दिया । वैसे भी, रीतिकालीन-कविता में मुक्तकों का ही प्राधान्य था, पर विवेच्य-काल में उस दिशा में और वृद्धि हुई, पर जहाँ पहले की रचनाएं मुख्यतः वस्तुनिष्ठ होती थीं, इस काल की रचनाओं में आत्माभिव्यंजन की वृद्धि होने लगी । मुक्तक-काव्य, इस प्रकार, पाठ्य और गेय—दो वर्गों में बंट गया । कुछ लोग इसे सूक्ति-मुक्तक तथा प्रगीत-मुक्तक के दो वर्गों में भी विभक्त करते हैं । मुक्तकों के संख्या-परक वर्गीकरण के अनुसार अनेक भेद आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में प्राप्त हैं । यथा पाँच छंदों के पंचक (जिसे संस्कृत का 'कुलक' कह सकते हैं) से लेकर अष्टक (जैसे गिरिधरदास कृत 'रामाष्टक', 'रत्नाकर' लिखित 'वीराष्टक); दशक (द्विजवलदेव' कृत 'राधा दशक'); बाईसी ('द्विजगंग' रचित 'असिबाईसी'); पचीसी ('ग्वाल'

वतरण' (जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'), 'छत्रसाल' (रामसेवक त्रिपाठी 'सेवकेन्द्र'), 'शवरी' (वचनेश मिश्र), 'द्रौपदी-दुकूल' (नाथूराम माहौर), 'द्रौपदी दुकूल' (रामलता), 'दशानन-दिग्विजय' (ललितेश), 'अभिमन्यु-बध' (रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'), 'गौरांग-चरित' (राजेशदयालु) इत्यादि ।

इधर कुछ ऐसी भी रचनायें देखने में आई हैं जिन्हें प्रबन्धात्मक-मुक्तक की संज्ञा दी जा सकती है । इनमें एक ओर तो कथा-प्रवाह दिखाई पड़ता है और दूसरी ओर इनका प्रत्येक छन्द अपना पृथक अस्तित्व रखता है । इस प्रकार की सबसे सफल रचना 'रत्नाकर' लिखित 'उद्धव-शतक' है ।

प्राचीनकाल में मुक्तक-काव्य एवं प्रबन्ध काव्य के बीच की कृतियां, जिन्हें आज हम निबन्ध-काव्य या काव्य-निबन्ध, वर्णनात्मक काव्य, आख्यानक-काव्य आदि नामों से अभिहित करते हैं, प्राप्त नहीं थीं। इसी कारण उस युग के साहित्य शास्त्री इस सम्बन्ध में मौन हैं । वस्तुतः, प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार न तो हम इन्हें प्रबन्ध-काव्य की कोटि में ले सकते हैं और न मुक्तक-काव्य में ही परिगणित कर सकते हैं । हिन्दी-कविता में ऐसी रचनाओं का आरम्भ भारतेन्दु के समय से होता है । इस प्रकार प्रमुख काव्य-रूप अधोलिखित है :—

(१) **वर्णनात्मक-काव्य** :—इस कोटि में वे रचनायें आयेंगी, जिनमें किसी दृश्य का वर्णन तो प्रस्तुत किया जाय, पर उसके साथ कथा का सूत्र विद्यमान न रहे। उदाहरण के लिये भारतेन्दु की 'हिंडोला', अम्बिकादत्त व्यास की 'कल-काशी', श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा' और 'देहरादून', किशोरीलाल गोस्वामी की 'चन्द्रोदय' तथा रामसेवक त्रिपाठी 'सेवकेन्द्र' की 'ताजमहल' नामक रचनायें इस वर्ग में ली जा सकती हैं ।

(२) **निबन्ध--काव्य या पद्य-प्रबन्ध** :—इस श्रेणी में वे रचनाएं परिगणित होंगी, जो किसी विषय पर चिन्तन करके पद्य बद्ध लेख के रूप में प्रस्तुत की गई हों ! ऐसी रचनाओं में कथा-सूत्र का अभाव रहता है । भारतेन्दु रचित 'प्रात-समीरन', प्रेमघन' कृत 'मंगलाशा', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की 'जीवात्मा और परमात्मा', श्रीधर पाठक की 'सुसन्देश', प्रतापनारायण की 'क्रन्दन', राधाकृष्णदास की 'देश-दशा' तथा 'उमेश' की वीर-वक्ष' आदि रचनाएं इस वर्ग में ली जा सकती हैं ।

(३) **आख्यानक काव्य या काव्य-कथा ('वर्सटेल')** :—यह वस्तुतः खन्ड-काव्य से भिन्न एक पद्यबद्ध लघु-कथा होती है, जिसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह किसी महाकाव्य से ही ला गई हो । ठाकुर जगमोहनसिंह रचित 'देवयानी', 'श्यामा लता' और 'श्यामा सरोजनी', राधाकृष्ण दास कृत 'पृथ्वीराज प्रयाण','प्रताप-विसर्जन'; जयशङ्कर 'प्रसाद' लिखित 'प्रेम-पथिक', कृष्णकवि रचित 'गजेन्द्र-मोक्ष', 'सिरस'

लिखित 'बालि-बध' तथा उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' कृत 'मीरा' आदि रचनाएं इस कोटि के अन्तर्गत ग्रहीत हैं।

(४) **विवरणात्मक-काव्य :**—इसमें किसी मार्मिक या प्रभावोत्पादक घटना का विवरण होता है और कथा का भी क्षीण-सूत्र विद्यमान रहता है। भारतेन्दु की 'भारत-वीरत्व', 'भारत भिक्षा', राधाकृष्णदास लिखित 'जुबली', वियोगी हरि की 'मन्दिर-प्रवेश', श्याम सेवक लिखित 'प्रेम-फौजदारी', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' लिखित 'कृषक-क्रंदन, तथा रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति' रचित 'परिवर्तन' आदि रचनायें इस श्रेणी में गिनी जा सकती हैं।

(५) **सम्बद्ध-मुक्तक-काव्य :**—यह नाम कुछ ऐसी रचनाओं को दिया जा सकता है जो न तो निबन्ध-काव्य के अन्तर्गत आती हैं और न वर्णनात्मक या आख्यानक काव्य के भीतर ही ली जा सकती हैं। ये मुख्यतः भाव प्रधान और आत्म परक रचनायें होती हैं। भारतेन्दु लिखित कई रचनाएं जैसे 'दान लीला', 'राम बिना बेकाम सभी', 'क्यों प्यारी फिरति दीवानी सी' आदि कई कृतियाँ इस कोटि के अन्तगत ग्रहण को जा सकती हैं।

(६) **कौतुक-काव्य :**- रचनाओं के इस वर्ग का मुख्य उद्देश्य चमत्कारिक ढंग से पाठकों का मनोरंजन करना होता है। प्रहेलिका, मुकरियाँ, दृष्टकूट, विलोम-काव्य, विविध-भाषा-काव्य आदि रचनाएं इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं। भारतेन्दु युग में इस प्रकार की रचनाएं प्रचुर मात्रा में हुईं। अभी कुछ दिनों पहले श्री हृषीकेश चतुर्वेदी लिखित 'श्री रामकृष्ण-काव्य' इसका एक सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है।

उपरोक्त काव्य-रूपों के अतिरिक्त आलोच्य काल में पल्लवित-काव्य, तथा रूपांतरित या आधारित-काव्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये, जिनका विस्तृत वर्णन छठे अध्याय के अंतर्गत किया गया है।

अधिकाधिक मनोरंजन की बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने मुक्तक रचनाओं को विशेष प्रोत्साहन दिया। वैसे भी, रीतिकालीन-कविता में मुक्तकों का ही प्राधान्य था, पर विवेच्य-काल में उस दिशा में और वृद्धि हुई, पर जहाँ पहले की रचनाएं मुख्यतः वस्तुनिष्ठ होती थीं, इस काल की रचनाओं में आत्माभिव्यंजन की वृद्धि होने लगी। मुक्तक-काव्य, इस प्रकार, पाठ्य और गेय—दो वर्गों में बंट गया। कुछ लोग इसे सूक्ति-मुक्तक तथा प्रगीत-मुक्तक के दो वर्गों में भी विभक्त करते हैं। मुक्तकों के संख्या-परक वर्गीकरण के अनुसार अनेक भेद आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में प्राप्त हैं। यथा पाँच छंदों के पंचक (जिसे संस्कृत का 'कुलक' कह सकते हैं) से लेकर अष्टक (जैसे गिरिधरदास कृत 'रामाष्टक', 'रत्नाकर' लिखित 'वीराष्टक'); दशक (द्विजवलदेव' कृत 'राधा दशक'); बाईसी ('द्विजगंग' रचित 'असिबाईसी'); पचीसी ('ग्वाल'

कृत 'कुबिजा'-'पचीसी'); छब्बीसी (मनियारसिंह कृत 'हनुमत छब्बीसी'); बतीसी ('द्विजदेव' लिखित 'श्रृंगार-बत्तीसी'); पचासा (भारतेन्दु कृत 'विनय-प्रेम पचासा'); शतक ('रत्नाकर' लिखित 'उद्धव शतक' तथा वियोगीहरि रचित 'वीर सतसई'); हज़ारा (हफ़ीजुल्लाखां का हज़ारा) इत्यादि। सुना जाता है कि किसी कवि ने सवा-हज़ारा भी प्रस्तुत किया है, यद्यपि यह रचना अब तक देखने में नहीं आई है।

प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार गीत-काव्य मुक्तक का ही एक भेद माना जाता था, पर आज उसकी स्वतंत्र सत्ता माननी अनिवार्य हो गई है। काव्य की इस विधा के अन्तर्गत आत्माभिव्यंजन का स्वर विशेष मुखर होता है। विषयों के विस्तार और वर्णन शैली में विभिन्नता को दृष्टिकोण में रखकर गीति-काव्य के स्वरूप का भी विस्तार हुआ है। विषयों की विभिन्नता को दृष्टिकोण में रखकर उसके स्थूल रूप से निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं।

(१) **शोक-गीति या करुण-गीति (एलिजी)**:—इसमें किसी व्यक्ति विशेष के निधन अथवा प्राकृतिक-विपत्ति पर शोक प्रकट किया जाता है। ऐसी रचनायें मुख्यत: अंग्रेजी कविता की देखा-देखी सामने आईं। भारतेन्दु-युग के अनेक कवियों ने इस प्रकार की रचनाएं कीं। भारतेन्दु, तिलक, हिन्दी के कवि रंगपाल आदि के निधन पर इस प्रकार की रचनायें लिखी गईं। राधाकृष्ण दास लिखित 'विजयनी-विलाप' भी इसी श्रेणी की कृति है।

(२) **जागरण गीति या राष्ट्र-गीति**—इन रचनाओं में राष्ट्रियता और देशाह्वान का स्वर प्रमुख रहता है। मिश्र बन्धुओं की लिखी 'भारत-विनय' नामक रचना इसी वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

(३) **व्यंग्य गीति (सेटायर)**:—काव्य की इस विधा में व्यंग्य या उपालम्भ के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक कुरीतियों का विरोध किया जाता है। भारतेन्दु तथा उत्तर-भारतेन्दु-युग में इस प्रकार की अनेक रचनाएं देखने को मिलती हैं। स्वर्गीय 'रंगपाल', वचनेश मिश्र तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस प्रकार की अनेक मार्मिक रचनाएं प्रस्तुत की हैं।

(४) **संबोध-गीति (ओड)**:—इस प्रकार की रचनाएं मुख्यत: अंग्रेजी कविताओं के अनुकरण पर प्रस्तुत की गई हैं। स्वर्गीय श्रीधर पाठक की 'घन-विनय' तथा रमाशंकर मिश्र की 'वक' शीर्षक कृतियाँ, इस विधा की सुन्दर उदाहरण हैं।

(५) **वीर-गीति (बैलेड)**:—काव्य की इस विधा के अन्तर्गत प्राचीन महापुरुषों, अवतारों तथा देश के लोकप्रिय नेताओं की काव्यात्मक विरुदावली प्रस्तुत की जाती है, और कभी-कभी पुराण या इतिहास में घटित किसी वीररसात्मक घटना का चित्रण किया जाता है। राधाकृष्णदास, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही',

'प्रणयेश' शुक्ल तथा उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' की इस विषयक रचनाएं उल्लेखनीय हैं।

उपरिलिखित काव्य-रूपों के अतिरिक्त इस प्रकार की रचनाओं के विषय परक और भी अनेक भेद हो सकते हैं, जैसे—प्रेमगीति, भावगीति, समूहगीति, पत्र-गीति, स्तुतिगीति इत्यादि।

प्रगीति हिन्दी कविता की अन्तिम उपलब्धि है, और आज की खड़ी बोली में उन्हीं का सबसे अधिक प्रचार है। इस प्रकार के प्रगीति पद-गीतों तथा गज़ल-गीतों दोनों ही रूपों में उपलब्ध हैं। इनमें आत्मानुभूति का स्वर बहुत मुखर होता है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', जलशंकर 'प्रसाद' तथा सत्यनारायण 'कविरत्न' ने इस प्रकार की अनेक रचनाएं प्रस्तुत की हैं। पर, आधुनिक ब्रजभाषा-कविता में इनकी अधिकता नहीं पाई जाती है।

काव्य-रूपों के विस्तार के इस विवेचन के प्रसंग में गद्य-पद्य मिश्रित—'चम्पू' नामक विधा का भी उल्लेख आवश्यक है। संस्कृत-साहित्य में तो 'चम्पू' ग्रन्थों की एक विशिष्ट परम्परा रही है, पर हिन्दी और विशेष कर ब्रजभाषा में यह परिपाटी अधिक प्रचार न पा सकी। आलोच्य काल में इस क्षेत्र में कई उल्लेखनीय रचनाएं दृष्टिगोचर होती हैं। जैसे—भारतेन्दु कृत 'रामलीला' 'चम्पू', जयशंकर 'प्रसाद' लिखित 'उर्वशी चम्पू', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' रचित 'राम-रावण-विरोध चम्पू' तथा अनूप शर्मा प्रणीत'-'फेरि मिलिबो' आदि इस वर्ग की विशेष उल्लेखनीय रचनाएं हैं।

उपरोक्त विवरण से यह तो निश्चित ही है कि विवेच्य-काल में काव्यरूपों में अभूतपूर्व विस्तार देखा जाता है। वस्तुतः काव्य-रूपों को संख्या की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है, क्योंकि युग विशेष की आवश्यकतानुसार कविगणों द्वारा उनकी नई-नई विधायें आविष्कृत होती हैं। आधुनिक ब्रजभाषा-कविता की प्रगति का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने केवल परम्परा से प्राप्त काव्य-रूपों को अपनाकर ही अपना काम नहीं चलाया, अपितु नये-नये काव्य-रूपों का आविष्कार कर साहित्य-भाण्डार की वृद्धि की। ब्रजभाषा-कविता की यह उपलब्धि निश्चय ही महत्वपूर्ण मानी जायगी।

———

सप्तम अध्याय

आधुनिक खड़ीबोली-कविता पर ब्रजभाषा-काव्य का प्रभाव

खड़ी-बोली कविता पर ब्रजभाषा का प्रभाव

जिस प्रकार दो व्यक्ति परस्पर सम्पर्क में आकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, ठीक उसी प्रकार जब एक भाषा दूसरी भाषा के सम्पर्क में आती है, तब दोनों एक दूसरे पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डालती हैं। प्रगतिशील भाषाओं के लिये यह क्रिया अपरिहार्य है। पर प्रभाव की मात्रा मुख्यत: इस बात पर निर्भर करती है कि प्रभाव डालने वाली भाषा कितनी समृद्ध है और उसका कितना प्रभाव पड़ सकता है। दूसरे यह कि प्रभावित होने वाली भाषा में प्रभाव ग्रहण करने की कितनी शक्ति है और वह कितना ग्रहण कर सकती है। भाषाओं की सजातीयता अथवा विजातीयता तथा स्वदेशी और बिदेशी होने की स्थिति पर भी पारस्परिक प्रभाव की मात्रा प्रर्याप्त सीमा तक निर्भर करती है। उदाहरण के लिये हिन्दी भाषा और साहित्य पर संस्कृत का जितना प्रभाव पड़ा, उर्दू या अंग्रेजी का निश्चय ही उतना प्रभाव नहीं पड़ पाया।

हिन्दी साहित्य के विगत तीनों कालों में ब्रजभाषा का प्राधान्य निर्विवाद रूप से रहा, पर आधुनिक युग तक आते-आते खड़ीबोली का महत्व बढ़ने लगा और आज वह सर्वमान्य रूप से राष्ट्र-भाषा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन है। अत: आधुनिक युग के आरम्भ से लेकर आज तक जहाँ खड़ीबोली के साहित्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा है, वहीं ब्रजभाषा ने भी उससे बहुत कुछ ग्रहण किया है। प्रस्तुत अध्याय में आधुनिक खड़ीबोली काव्य पर ब्रजभाषा के प्रभाव की सविस्तार चर्चा की जायगी और यह दिखाने का प्रयत्न किया जायगा कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी में यह सब किस प्रकार और कितनी मात्रा में सम्भव हुआ।

जैसा कि सर्व विदित है—ब्रजभाषा और खड़ीबोली एक ही देश और एक ही महान भाषा की दो प्रमुख उप-भाषाएं हैं। उनमें समानताएं ही अधिक हैं, विभिन्नतायें अपेक्षाकृत कम। अत: यह स्वाभाविक ही था कि दोनों एक दूसरे से यथा सम्भव अधिक से अधिक ग्रहण करतीं, पर यहाँ यह देखना आवश्यक है कि जहाँ ब्रजभाषा का अतीत अधिक गौरवमय था, खड़ीबोली का वर्तमान अधिक गौरवशाली है। जहां ब्रजभाषा अपनी काव्य-माधुरी के लिए विशेष प्रसिद्ध रही है, वहीं खड़ीबोली अपने समर्थ गद्य-साहित्य के हेतु विशेष विश्रुत है, और जहां ब्रजभाषा में गहराई अधिक पर विस्तार अपेक्षाकृत कम था, वहीं खड़ीबोली में गहराई की अपेक्षा विस्तार

और व्यापकता का आधिक्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि एक ओर तो खड़ी-बोली ने अपने कुछ अभावों की पूर्ति के लिए ब्रजभाषा की ओर ताका है, तो दूसरी ओर ब्रजभाषा ने अपने कुछ अभावों की पूर्ति खड़ीबोली के द्वारा की है। यहां यह विचारणीय है कि जहां खड़ीबोली-काव्य पर ब्रजभाषा का प्रभाव मुख्य रूप से कलापक्ष पर पड़ा है, वहीं ब्रजभाषा-काव्य पर खड़ीबोली का प्रभाव प्रमुख रूप से भावपक्ष तक ही सीमित दिखाई देता है। इस बात से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि निश्चय ही ब्रजभाषा के भाव पक्ष में युग को देखते हुये कुछ न्यूनताएं थीं, जिनकी पूर्ति के लिए उसने खड़ीबोली कविता से प्रेरणा प्राप्त की। पर यह दूसरा विषय है।

जहाँ तक खड़ीबोली कविता पर ब्रजभाषा के प्रभाव के विश्लेषण का प्रश्न है, सबसे पहले हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट होता है कि भारतेन्दु-युग में खड़ी-बोली की कविता करने वाले प्रायः सभी कवि (भारतेन्दु, 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, अम्बिकादत व्यास, राधाकृष्ण दास इत्यादि) ब्रजभाषा में भी रचना करते थे। उस समय ब्रजभाषा ही उनकी प्रमुख काव्य-माध्यम थी और अमुख्य माध्यम के रूप में खड़ीबोली को ग्रहण किया गया था। वस्तुतः, ये सभी कवि मुख्यतः ब्रजभाषा के काव्य-गुणों पर मुग्ध थे और उसी को कविता की सर्वोपयुक्त भाषा मानते थे, पर युग की गति को देखकर आंशिक रूप में खड़ीबोली की उप-योगिता को भी स्वीकार करने लगे थे। उदाहरण के लिये स्वयं भारतेन्दु ने एक स्थान पर लिखा है—'कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रजभाषा ही है, और दूसरी भाषाओं की कविता इतना चित्त नहीं पकड़ती।' अथवा 'कविता के लिये मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं ब्रजभाषा बहु सम्मति से मधुर भाषा है।' प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास आदि ने भी काव्य-भाषा को लेकर इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए हैं। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन कवियों ने खड़ीबोली में जितनी भी काव्य-रचना की है, उस पर ब्रजभाषा का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

पर, द्विवेदी-युग तक आते-आते स्थिति बहुत कुछ परिवर्तित हो गई। उनके अधिनायकत्व में उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' नामक पत्रिका के माध्यम से तथा उनके सहयोगी और शिष्यों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप खड़ी बोली को कविता के क्षेत्र में प्रधानता मिलने लगी थी। वस्तुतः, खड़ी बोली-आन्दोलन भारतेन्दु-युग में ही प्रारम्भ हो गया था, पर खड़ी बोली को काव्य-भाषा के आसन पर इतने अल्पकाल में प्रतिष्ठित कराने का श्रेय द्विवेदी-युग के कवियों को ही है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस युग के भी सभी प्रमुख कवि आरम्भ में ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। स्वयं द्विवेदी जी ने आरम्भ में ब्रजभाषा में ही कविता लिखी और उस युग के अन्य प्रमुख कवि—श्रीधर पाठक, नाथूराम शर्मा 'शंकर', राय देवी-प्रसाद 'पूर्ण' 'अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', रामचरित उपाध्याय भी पहले ब्रज-

भाषा में ही लिखते थे। युग की स्थिति को पहचानकर इनमें से कुछ तो कालान्तर में ब्रजभाषा को पूर्णतः छोड़ बैठे, और कुछ खड़ीबोली तथा ब्रजभाषा दोनों में ही कविता करते रहे। पर कुछ ऐसे भी व्यक्ति विद्यमान थे, जो आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही भाषा में काव्य-रचना करते रहे। ऐसे लोगों में स्वर्गीय जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा सत्यनारायण कविरत्न के नाम ब्रजभाषा-कविता में तथा मैथिलीशरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी के नाम खड़ीबोली कविता के हेतु उल्लेखनीय हैं। पर ये लोग निश्चय ही समसामयिक प्रवृत्ति के अपवाद थे। परिस्थितियों के इस संदर्भ में यह स्वाभाविक ही था कि खड़ीबोली में लिखित कविता पर ब्रजभाषा का प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ता। यद्यपि मात्रा की दृष्टि से यह प्रभाव भारतेन्दु-युगीन कवियों की खड़ी बोली कविता पर ब्रजभाषा के प्रभाव की अपेक्षाकृत कम ही था। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि द्विवेदी युग में ब्रजभाषा से पूर्ण रूपेण अप्रभावित रहकर विशुद्ध खड़ीबोली में कविता करने वाले विरले ही थे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरण सिंह को छोड़ कर शेष सभी की आरम्भिक काव्य-कृतियों पर ब्रजभाषा का गहरा प्रभाव है और यह कविता के दोनों ही पक्षों में परिलक्षित होता है। कुछ कवियों—जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर' आदि की खड़ीबोली में लिखित कविताओं पर तो ब्रजभाषा का प्रभाव आद्योपान्त दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये 'हरिऔध' जी की प्रमुख काव्य-कृति—'प्रिय-प्रवास' की भाषा पर ब्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव है। जहाँ तक नाथूराम शर्मा 'शंकर' की कविताओं का सम्बन्ध है, उनमें तो यह प्रभाव सर्वत्र ही दीखता है।

छायावादी-युग तक आते-आते खड़ीबोली कविता पर ब्रजभाषा के प्रभाव की मात्रा क्षीण अवश्य पड़ जाती है और अपेक्षाकृत कम कवियों पर ब्रजभाषा का प्रभाव परिलक्षित होता है, पर जितने पर भी यह प्रभाव दिखाई पड़ता है, उतने पर पूरी शक्ति के साथ परिलक्षित होता है। वस्तुतः भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगीन खड़ी बोली कविता और छायावाद कालीन खड़ी बोली कविता पर पड़ने वाले ब्रजभाषा-प्रभाव में बड़ा मौलिक अन्तर है और वह यह कि जहाँ उन दोनों युगों के खड़ीबोली कवियों की रचना पर ब्रजभाषा का प्रभाव अनजाने, सहज रूप से अथवा परोक्ष रीति से पड़ा था, वहीं छायावादी तथा बाद में प्रगतिवादी कवियों की भाषा में ब्रजभाषा की शब्दावली का समावेश जान बूझकर और सप्रयास किया गया है। यहाँ तक कि ब्रजभाषा-प्रभावित पदावली का प्रयोग इस समय के कुछ कवियों की रचना-विशिष्टता ही बन गया है। ऐसे वयोवृद्ध कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और युवा-कवियों में वीरेन्द्र मिश्र, गोपालदास 'नीरज', गोपाल सिंह 'नैपाल' आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। निम्नलिखित उदाहरणों से यह स्पष्ट हो

जायगा कि उपरोक्त कवियों की काव्य-भाषा पर ब्रजभाषा-शब्दावली का कितना प्रभाव है:—

चहहु जो **सांचो** निज **कल्यान,**
तो सब **मिलि** भारत सन्तान।
जपो निरन्तर एक जबान,
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।
तबहिं सुधरिहै जनम निदान,
तबहि भला **करिहै** भगवान।
जब **रहि है** निसिदिन यह ध्यान,
हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान।
—प्रतापनारायण मिश्र

विस्व **निकाई** बिधि ने उसमें की एकत्र बटोर,
बलिहारौं त्रिभुवन धन उसपर **वारौं** काम **करोर।**
—श्रीधर पाठक (एकान्तवासी योगी)

ताकत **औ** तेज़ न **रहैगो** तेज-धारिन में,
मंगल मयंक मंद पीले पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे तड़ागन में,
डूब-डूब 'शंकर' सरोज सड़ जायेंगे॥

खायगो कराल काल केहरी **कुरङ्गन** को,
सारे **खँजरीटन** के पंख झड़ जायेंगे।
तेरी **अँखियन** सो लड़ैगे अब और कौन,
केवल **अड़ीले** दृग मेरे अड़ जायेंगे॥ —नाथूराम शर्मा 'शंकर'

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत ने एक ओर तो अपने ग्रन्थ 'पल्लव' की भूमिका में, जिसे छायावादी कविता का घोषणा-पत्र कहा जाता है, ब्रजभाषा-कविता की खिल्ली उड़ाई है और उसे युग-संघर्ष के अनुपयुक्त कहा है, वहीं दूसरी ओर वे स्वयं ब्रजभाषा-शब्दों के माधुर्य के प्रयोग-लोभ का संवरण नहीं कर पाये हैं। स्वयं उनके 'पल्लव' की निम्नलिखित पंक्तियां इस कथन के उदाहरण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं:—

धूम-**घुआरे,** **काजर-कारे,**
हम ही **बिकरारे बादर,**
मदनराज के बीर बहादुर,
पावस के उड़ते फणिधर।
—'पल्लव' ('बादल'-शीर्षक कविता)

जहाँ तक खड़ीबोली के कवियों द्वारा ब्रजभाषा की शब्दावली के प्रयोग का सम्बन्ध है, वह मुख्यत: तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया गया है :--

१–खड़ीबोली की सहज कर्कशता को कम करने अथवा उसमें ब्रजभाषा जैसे माधुर्य के समावेश के निमित्त।

२–नाद-सौंदर्य की वृद्धि के हेतु।

३–आंचलिकता के पुट अथवा जन-जीवन से सन्निकटता लाने के लिये।

भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग में मुख्य रूप से प्रथम उद्देश्य को लेकर खड़ीबोली की कविता में ब्रजभाषा की शब्दावली का पुट पाया जाता है, छायावादी युग में मुख्यत: दूसरे उद्देश्य को लेकर इसका प्रयोग हुआ है, और प्रगतिवादी तथा प्रयोग-वादी युग में तीसरे उद्देश्य के लिये ब्रजभाषा की शब्दावली ग्रहण की गई है। पर तीनों ही युगों में कुछ ऐसे कवि भी मिल जायेंगे, जिनकी कविताओं में ब्रजभाषा शब्दावली का प्रयोग उपरोक्त तीनों ही उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया गया है।

अधिकाँश छायावादी कवियों तथा प्रगतिवादी कलाकारों ने ब्रजभाषा शब्दों, वाक्याँशों तथा कहीं-कहीं तो ब्रजभाषा की पूरी की पूरी पंक्तियाँ प्रयुक्त कर अपने काव्य को सरस, मधुर तथा चित्रोपम बनाया है। उदाहरण के लिये माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य-संग्रहों : 'समर्पण' और 'तरंगिणी' में ब्रजभाषा के निम्नलिखित प्रयोग दर्शनीय हैं : -

बिन छेड़े, चिढ़े अहीरी, गलबहियाँ दे, सैन-निसैनी, प्रीति-पिछौरी,
संपूरन के साथ अपूरन भूला भूलैरी,
मांगू कहाँ कलैजो कालिन्दी में हूलैरी।

खड़ीबोली के प्रख्यात गीतकार-गोपालदास 'नीरज' के कविता संग्रहों : 'दर्द दिया है' तथा 'आसावरी' में निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है:—

साँवल नैना, मधुऋतु बैना, नींद न आये जनम जनम लौ, बाजे पैजनिया,
नयना इसके निंदियारे, कजलाई चन्दा की बेंदी, सिसके हिया-पपीहा,
कोयलिया अनखात, सेज निगोड़ी करे ढिठाई, रह-रह प्राण पिरात,

इसी प्रकार उदीयमान गीतकार, वीरेन्द्र मिश्र के काव्य-संकलन : 'स्वर-बेला' में अधोलिखित ब्रजभाषा-प्रयोग उनकी खड़ीबोली की कविताओं की माधुर्य वृद्धि करते हैं :

मन हरियाए, अंखिया नीर परसने को, किस नेहा में डूबी हैं,
चंदनिया सावनी, संझा और सकारे, दरस परस, जुलहा

यहाँ यह उल्लेख कर देना समीचीन होगा कि प्रारम्भिक दिनों की छाया-

वादी कविता की भाषा अतिशय संस्कृत-गर्भित तथा सामासिक-पदावली-गुम्फित हो गई थी। यह प्रवृत्ति निश्चय ही काव्य-भाषा को सामान्य जन-जीवन की भाषा से बहुत दूर कर देती थी। अतः इस अस्वस्थ परम्परा को दूर करने के लिये छायावाद युग के दूसरे दशक में तथा प्रगतिवादी और प्रयोगवादी-युग के कुछ कवियों ने तात्कालिक काव्य-भाषा को संस्कृत के अस्वाभाविक दबाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया। इन कवियों में हरिवंशराय 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, गुरुभक्तसिंह 'भक्त', रामधारी सिंह 'दिनकर', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', गोपालसिंह 'नेपाली', गिरिजाकुमार माथुर आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी कवियों ने अपने इस प्रयास में ब्रजभाषा के तद्भव शब्दों का पुट देकर अपनी काव्य भाषा को अधिक बोधगम्य, सरस, सहज तथा काव्योपयुक्त बनाने की प्रवृत्ति अपनाई। उदाहरण के लिये—

ओदी आंच, धुनि बिरहिनि की ('दिनकर')
यों **भुज** भर कर **हिये** लगाना है क्या कोई पाप ('नवीन')
चौमुख दिवला बार, सखीरी
ना जाने किस **दिसि** से आयें मेरे राजकुमार (नरेन्द्र शर्मा)

पर खड़ी बोली कविता पर ब्रजभाषा का प्रभाव यहीं तक सीमित नहीं रहा। स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी खड़ीबोली की रचना— 'उर्मिला' का सम्पूर्ण पंचम सर्ग ही ब्रजभाषा में लिखा है, जो ७०४ दोहों तथा ११६ पृष्ठों में फैला है। निश्चय ही 'नवीन' जी का यह प्रयोग अपने में ब्रजभाषा की एक नहीं अनेक विशेषताओं का द्योतक है। प्रथम तो यह कि विरहिणी उर्मिला के वियोग-वर्णन के लिये खड़ीबोली के इस लब्धप्रतिष्ठ कवि ने ब्रजभाषा-कविता को अधिक उपयुक्त समझा और दूसरे यह कि ७०४ दोहे लिखकर उसने प्राचीन सतसई-परम्परा को मुक्तक-काव्य के क्षेत्र से पृथक कर प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का नितान्त अभिनव प्रयास किया, और इस प्रकार यह सिद्ध किया कि खड़ीबोली कविता में ब्रजभाषा का पुट न केवल वांछनीय है, अपितु उसकी माधुर्य-वृद्धि के लिये परम आवश्यक भी।

इधर कुछ दिनों से खड़ीबोली कविता के संकलनों, उपन्यासों, कहानी-संग्रहों के नामकरण में भी ब्रजभाषा को अपनाने की प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है। उदाहरण के लिये खड़ीबोली के प्रसिद्ध गीतकार गोपालदास 'नीरज' ने अपने एक कविता-संग्रह का नाम—'बादर बरसि गयौ' रक्खा है। प्रसिद्ध कथाकार डा० लक्ष्मीनारायण लाल के एक कहानी संग्रह का नाम—'सूने आंगन रस बरसै' है, और सर्वदानन्द वर्मा के एक उपन्यास का शीर्षक है—'माटी खांइ जनावरा'। यही नहीं,

प्रसिद्ध निबन्ध लेखक — विद्यानिवास मिश्र के एक निबन्ध-संग्रह का नामकरण—'तुम चन्दन हम पानी' किया गया है।

यहाँ तक तो रही खड़ीबोली–कविता की भाषा पर ब्रजभाषा कविता का प्रभाव, पर ब्रजभाषा का यह प्रभाव काव्य के माध्यम अथवा शब्दावली तक ही सीमित नहीं प्रतीत होता है। भाव-क्षेत्र में भी उसकी व्यापकता उल्लेखनीय है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि समसामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप कवियों के रचनादर्श में परिवर्तन दृष्टि-गोचर होने लगा था। फलतः तात्कालीन जीवन अपनी सम्पूर्णता सहित अतीत की उपलब्धियों तथा वर्तमान के अभावों को संकलित करके —कविता की वर्ण्यवस्तु बनने लगा था। लोकनिष्ठ दृष्टि की व्यापकता उसमें आ समायी थी और उसकी व्यक्ति या वर्ग-परक संकीर्णता तिरोहित होने लगी थी। परिवर्तन की यह छाया ब्रजभाषा और खड़ीबोली–दोनों ही की कविता पर पड़ी। अन्तर केवल मात्रा का था। किन्तु कुछ ऐसे भी क्षेत्र थे जो परिवर्तन के प्रभाव से मुक्त रहे। अतः उनमें, पूर्व-वर्ती होने के कारण ब्रजभाषा का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव खड़ीबोली कविता पर पड़ना अनिवार्य था। यह प्रभाव मुख्य रूपसे खड़ीबोली की शृंगारिक और धार्मिक कविता पर पड़ा। भेद इतना था कि शृंगारिक कविता पर तो यह प्रभाव छाया-वादी और प्रगतिवादी युग में ही परिलक्षित होता है, पर धार्मिक या भक्तिपरक कविता के क्षेत्र में इसका प्रभाव भारतेन्दु-युग के उत्तरार्द्ध से लेकर प्रयोगवादी युग तक–अबाध रूप से दिखाई पड़ता रहता है।

पहले शृंगारिक प्रभाव को ही लें। यह तो सर्वमान्य ही है कि शृंगार या प्रेम मनुष्य की चिरंतन वृत्ति है, और विश्व के काव्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश उसी को आधार मानकर रचा गया है। परन्तु परिस्थितियों के आग्रह पर कभी-कभी इसे धर्म, नीति या उपदेश के द्वारा नियन्त्रित भी करते हैं, और दूसरे रसों में अपेक्षाकृत अधिक रचना करके इसे तुलनात्मक रूप से महत्वहीन सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। कभी-कभी राष्ट्र और समाज की उन्नति के नाम पर इसे निन्दनीय भी घोषित किया जाता है। खड़ीबोली कविता के द्विवेदी-युग में यही हुआ। पर यह स्थिति निश्चय ही बहुत अल्पकालीन रही। क्रिया की प्रतिक्रिया और इतिहास की पुनरावृत्ति के सिद्धांत के सहारे दबी हुई शृंगारिक प्रवृत्ति पुनः उभरी और उसने सम्पूर्ण साहित्य की गति ही बदल दी। स्पष्ट था कि कविता का क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह सकता था।

परिस्थितियों में उपरोक्त परिवर्तन के फलस्वरूप खड़ीबोली कविता में जिस नये युग का उदय हुआ उसे—'छायावाद-युग' की संज्ञा दी जाती है। इस युग की सामान्य काव्य प्रवृत्तियों में जिस सस्ती भावुकता के दर्शन होते हैं और देव या

भाग्य पर आश्रित रहकर कभी-कभी उसका मन्द विरोध करने की जो भावना पाई जाती है, रूप के आकर्षण और उसके उपभोग के प्रति जो गहरी आसक्ति देखी जाती है तथा क्रियाशीलता के प्रति जिस अपार उदासीनता का परिचय मिलता है, वह ब्रजभाषा की रीतिकालीन कविता के मूल-स्वर से बहुत प्रभावित है। छायावाद के प्रवर्तक जयशङ्कर 'प्रसाद' रचित 'आंसू', सुमित्रानन्दन पन्त लिखित 'ग्रन्थि' तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की रचना 'अपराजिता' में यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

रीतिकालीन कविता पर अतिशय शृंगारिक होने का दोष लगाया जाता है, और क्योंकि रीतिकाल में कविता की एकमात्र माध्यम ब्रजभाषा थी, अत: उसी संदर्भ में ब्रजभाषा की कविता पर भी यह दोषरोपण किया जाता है। यह ठीक है कि व्यक्तिनिष्ठ और राज्याश्रित कविता में समसामयिक परिस्थितियों के फलस्वरूप शृंगारिकता का प्राधान्य पाया जाता है, पर खड़ीबोली की छायावादी कविता में भी ठीक इसी मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ रीति-युगीन-ब्रज-भाषा कवि, राधा और कृष्ण की आड़ में अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति खोजता था, वहीं छायावादी-कवि अपनी प्रेम-सम्बन्धी सफलता विफलता का चित्रण पूर्ण-रूपेण वैयक्तिकता के पारदर्शक आवरण से करते हैं। उदाहरण के लिये:—

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात,
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित पद, नमित पलक दृग पात।

—सुमित्रानन्दन पन्त (गुंजन: भावी पत्नी के)

———

तुम मुग्धा थीं, अति भाव-प्रवण
उकसे थे अम्बियों-से उरोज
चंचल प्रगल्भ हंसमुख उदार
मैं सलज रहा था तुम्हें खोज।

अथवा

तुमने अधरों पर धरे अधर,
मैंने कोमल वपु धरा गोद। —सुमित्रानन्दन पन्त
('युगान्त')

छायावाद के प्रवर्तक—जयशंकर 'प्रसाद' की रचनाओं में भी यह प्रभाव स्पष्ट है:—

परिरंभ-कुंभ की मदिरा,
निश्वास-मलय के झोंके।

मुख-चन्द्र चांदनी-जल में
मैं उठता था मुंह धोके। (आंसू)

———

सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी-सी।
प्रलय-निशा की हलचल-स्मृति में—
मान किये सी, ऐंठी-सी॥ (कामायनी)

खड़ीबोली के युगान्तरकारी कवि 'निराला' भी उक्त प्रभाव से मुक्त नहीं रह पाये हैं। यथा:—

प्रियवर कठिन उरोज परस कस, कसक मसक गई चोली।
एक-वसन रह गई मन्द हंस, अधर दसन अन-बोली।
कली-सी कटि की तोली॥ (गीतिका)

———

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन-उभार से
पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफालिका। ('परिमल')

यदि उपरोक्त कविताओं की रीतिकाल के कवि-बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि की कविताओं से तुलना की जाय तो जहाँ तक शृंगारिकता, सौन्दर्य-प्रियता तथा विलासिता का सम्बन्ध है, उक्त कविताएं किसी प्रकार नीची न ठहरेंगी। सत्य यह है कि छायावादी कवियों ने नारी के रूप-वर्णन में ब्रजभाषा-कविता के नायिका-भेद से स्पष्ट प्रभाव ग्रहण किया है। यदि हम ऊपर के भाषाई छिलके को उतारकर देखें, तो हमें पता चलेगा कि इस पर ब्रजभाषा-कविता का शत-प्रतिशत प्रभाव है।

छायावाद के पश्चात प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कवियों ने भी ब्रजभाषा के इस प्रभाव को ग्रहण किया। सत्य यह है कि प्रगतिवादी युग में सामान्य जन-जीवन के चित्रण के प्रति जो अनुराग देखा जाता है, ब्रजभाषा कविता में आज से लगभग ८०-९० वर्ष पूर्व भारतेन्दु ने उसका प्रवर्तन किया था। कविवर जयशङ्कर 'प्रसाद' के अनुसार भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम यथार्थवादी कवि थे[1]। जिस जन-जीवन को चित्रित करके आज के प्रगतिवादी कवि अपनी प्रगतिशीलता का डंका पीटते हैं, वह आज से बहुत पहले अपनी समस्त कटुताओं, कुरूपताओं और विकृतियों के साथ भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के द्वारा अंकित किया जा चुका था। भले ही यह प्रवृत्ति छायावादी युग में कुछ दिनों के लिये विलुप्त-सी हो गई थी, पर उसका पुनः प्रसार भारतेन्दु युगीन यथार्थवादी प्रवृत्ति का परोक्ष परिणाम ही है। इन प्रगति-

[1] 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध'-नामक पुस्तक में—'यथार्थवाद' शीर्षक अध्याय।

वादी कवियों ने भी कालान्तर में शृंगारिक प्रवृत्ति को अपनाया और अपने पूर्ववर्ती छायावादी-कवियों की भांति रूप वर्णन, दृश्य-विधान तथा प्रकृति चित्रण में ब्रज-भाषा-कविता से प्रभावित हुये। यह दूसरी बात है कि वे उसे स्वीकार करने में संकोच करते हैं। प्रमुख प्रगतिवादी कवियों की रचनाओं द्वारा यह तथ्य भली भांति प्रमाणित किया जा सकता है। यथा:—

> और कंधों से तनिक नीचे उतर कर
> वासना के हाथ से अब तक अछूते औ–'अदोलित–
> दो मृदुल दलदार वृत्ताकार कुच थे
> क्षीण कटि थी
> पीन जांघें
> नग्न नारी प्राण प्यारी चुप खड़ी थी।
>
> —केदारनाथ अग्रवाल ('हंस'–जून, १९४७)

यही नहीं, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की–'यह अनावृत्त रूप वासन्ती पवन-सा' तथा हरिवंशराय 'बच्चन' की–'सखि, यह रातों की रात नहीं सोने की' में रीति–कालीन शृंगारिकता का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। अतः यह निसंकोच कहा जा सकता है कि भाव-क्षेत्र में भी खड़ी बोली कविता पर ब्रजभाषा-काव्य का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

भाषा और भाव के अतिरिक्त खड़ीबोली कविता के अलंकार-प्रयोग पर भी ब्रजभाषा-कविता का न्यूनाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। विशेषकर छायावादी युग के कवि अपने अलंकार-प्रयोग में रीतिकालीन कवियों से बहुत मिलते-जुलते हैं। प्रकृति-वर्णन, रूप-चित्रण, विरह-वर्णन आदि में रीतिकालीन-कवि अतिशय अलंकरण के प्रेमी रहे हैं, और उनकी इस प्रवृत्ति का परोक्ष प्रभाव छायावादी तथा प्रगतिवादी कवियों पर पड़ा है। यही नहीं अलंकारों का वैसा ही मोह छायावादी कवियों में पाया जाता है, यद्यपि कहने को यह कहा जाता है कि आधुनिक खड़ी बोली कविता में भावपक्ष की महत्ता और कलापक्ष की उपेक्षा पाई जाती है। नीचे के उदाहरणों द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया जा सकता है:—

रूप-चित्रण :

> विद्रुम सीपी-सम्पुट में
> मोती के दाने कैसे।
> है हंस न, शुक फिर क्यों
> चुगने को मुक्ता ऐसे ।। —जयशंकर 'प्रसाद' ('आंसू')

अलंकार-प्रयोग :

> पास ही रे हीरे की खान —'निराला' (यमक)
> जगती जगती की मूक प्यास —महादेवी वर्मा (यमक)

पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश
पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश।
—सुमित्रानन्दन पन्त (अनुप्रास)

बीती बिभावरी जागरी।
अम्बर-पनघट में डुबा रही तारा-घट ऊषा-नागरी।
—जयशंकर 'प्रसाद' (रूपक)

शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग-जल का।
—जयशंकर 'प्रसाद' (विरोधाभास)

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अलंकार-प्रयोग में भी आधुनिक खड़ीबोली कविता ब्रजभाषा और विशेषकर रीतिकालीन ब्रजभाषा-कविता से कहां तक प्रभावित है।

अलंकार प्रयोग के अतिरिक्त, शैली के क्षेत्र में भी आधुनिक खड़ी बोली कविता ब्रजभाषा से बहुत प्रभावित है। प्राचीन ब्रजभाषा-कविता में नायिका भेद, सतसई तथा दूत-काव्य परम्परा बहुत महत्वपूर्ण रही हैं। इनके अतिरिक्त नख-शिख तथा षटऋतु-वर्णन की प्रणाली भी ब्रजभाषा में बहुत प्रचलित थी। उक्त सभी परम्पराओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव आधुनिक खड़ीबोली-कविता पर प्रतीत होता है। भ्रमरगीत-परम्परा को लेकर अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की सुप्रसिद्ध रचना 'प्रियप्रवास' में तथा मैथिलीशरण गुप्त लिखित 'द्वापर' में काव्य-रचना हुई है, और षटऋतु-वर्णन की प्राचीन शैली के आधार पर ही गुप्त जी रचित 'साकेत' तथा 'यशोधरा' में प्रकृति-चित्रण किया गया है। एक प्रसिद्ध आलोचक ने तो इन वर्णनों को 'नई बोतलों में पुरानी शराब' कहा है। नायिका-भेद की शैली को आधार मानकर इधर हाल ही में एक खड़ीबोली कवि, अतुलकृष्ण गोस्वामी ने अपने 'नारी' शीर्षक काव्य में नारी के विभिन्न स्वरूपों, अंगप्रत्यंगों, शृंगार-प्रसाधनों आदि का वर्णन किया है।

ब्रजभाषा की एक विशिष्ट रचना प्रणाली, 'समस्यापूर्ति' थी जिसकी अत्यधिक निन्दा आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी जैसे खड़ीबोली के महारथी ने की थी। पर उन्हीं द्विवेदी जी के शिष्य-गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' द्वारा संपादित तथा कानपुर से प्रकाशित 'सुकवि' नामक पत्र में खड़ीबोली की समस्या-पूर्तियां बड़े जोर-शोर से निकला करती थीं। यही नहीं, कलकत्ते से प्रकाशित 'काव्य-कलाधर' नामक पत्र में भी समस्या पूर्तियों का प्राधान्य था। उक्त दोनों पत्र प्रत्येक मास दो-दो समस्यायें रखते थे, एक ब्रजभाषा में पूर्ति के हेतु और दूसरी खड़ीबोली के लिए। पर, कालान्तर में ब्रजभाषा में की गई पूर्तियों की तुलना में खड़ीबोली की समस्या-पूर्तियों की

संख्या बढ़ गई। यह तथ्य इस बात का सूचक है कि खड़ीबोली में समस्यापूर्ति की जो प्रणाली इधर बहुत दिनों से प्रचलित है, वह ब्रजभाषा के ही प्रत्यक्ष प्रभाव का एक अंश है।

अन्त में छन्दों के क्षेत्र में भी खड़ीबोली कविता पर ब्रजभाषा-काव्य का प्रभाव समझ लेना चाहिये। कवित्त सवैया और दोहा, ये तीन छन्द बहुत प्राचीन काल से ही ब्रजभाषा-कविता के सर्वप्रिय छन्द रहे हैं। वीरगाथा-काल और भक्ति काल में प्रचुर मात्रा में लिखे जाने के पश्चात् रीतिकालीन कविना पर तो ये छन्द मानो छा ही गये, और यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि उस काल की अस्सी प्रतिशत से अधिक कविता इन्हीं छन्दों में बंधकर रह गई है। आधुनिक काल में खड़ी बोली कविता के व्यापक प्रचार और प्रसार के साथ-साथ छन्द-वैविध्य के दर्शन हुए। भारतेन्दु-युग में संख्या की दृष्टि से सबसे अधिक छन्द प्रयुक्त हुए। द्विवेदी-युग में संस्कृत के अतुकान्त-वृत्तों का प्राधान्य हुआ, पर ब्रजभाषा के ये तीन परम्परागत छन्द अपनी प्रभुता जमाये रहे। उदाहरण के लिए ठाकुर गोपाल शरणसिंह, रूप नारायण पाण्डेय, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामचन्द्र शुक्ल, नाथूराम शर्मा 'शंकर', भगवानदीन 'दीन', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' रमाशंकर गुप्त 'कमलेश'-आदि इन छन्दों के प्रयोग में अत्यधिक सफल रहे। कहना न होगा कि खड़ीबोली में कवित्त-सवैया लिखने वाले प्रायः सभी कवियों को ब्रजभाषा के छन्द-मर्मज्ञ सुकवि-जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की तत्सम्बन्धी रचनाओं से मार्ग प्रदर्शन प्राप्त हुआ। कालान्तर में ब्रजभाषा के ये दोनों लोकप्रिय छन्द, कवित्त और सवैया, खड़ीबोली में अत्यधिक लोकप्रिय हो गये, और अनूप शर्मा को घनाक्षरी तथा जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' को सवैया लिखने में अनुपम सफलता मिली।

वस्तुतः, छन्द के क्षेत्र में ब्रजभाषा के सबसे अधिक लोकप्रिय छन्द-कवित्त या घनाक्षरी का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव सम्पूर्ण खड़ीबोली कविता के छन्द-चयन पर पड़ा। यद्यपि 'पल्लव' की भूमिका में सुमित्रानंदन पन्त ने इस छन्द की बड़ी निन्दा की है और इसे हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्य-पुत्र कहा है[1], पर उसी छन्द की प्रशंसा में दूसरे छायावादी कवि 'निराला' ने यहां तक कहा है कि यदि हिन्दी में मुक्त छन्द की रचना की जा सकती है, तो वह इसी छन्द को आधार मानकर सफल हो सकती है। आज खड़ीबोली कविता में जिस मुक्त छन्द की सब से अधिक धूम है, वह परोक्ष रूप में ब्रजभाषा के कवित्त या घनाक्षरी छन्द की ही आंशिक देन है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि छन्दों के क्षेत्र में भी आधुनिक खड़ीबोली कविता पर ब्रजभाषा-काव्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है।

---

[1]पल्लव की भूमिका।

उपरोक्त सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्या भाषा, क्या भाव, क्या शैली और क्या छन्द---कविता के सभी क्षेत्रों में खड़ीबोली पर ब्रजभाषा का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़ा है। और यदि हम आधुनिक खड़ीबोली कविता को अधिकाधिक प्राणवन्त बनाना चाहते हैं तो भविष्य में भी हमें ब्रजभाषा के विभिन्न गुणों का यत्र-तत्र यथोचित पुट देना ही पड़ेगा। इसी में खड़ीबोली-कविता की बहुमुखी उन्नति निहित है।

अष्टम अध्याय

ब्रजभाषा-काव्य का भविष्य

ब्रजभाषा-काव्य का भविष्य

भविष्य स्वयं अपने आप में कुछ न होकर, अतीत और वर्तमान की उन प्रवृत्तियों का सामूहिक प्रतिफल होता है, जो देश और काल की चपेट खाकर भी सम्पूर्ण या आँशिक रूप में जीवित रहने की शक्ति रखती हैं। अतः किसी के भी भविष्य पर विचार करते हुये उसके वर्तमान और विगत को सम्यक् विस्मृत नहीं किया जा सकता है। पीछे के पृष्ठों में ब्रजभाषा-काव्य के अतीत और वर्तमान पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसके भविष्य के विषय में कुछ कहना आवश्यक हो जाता है।

वस्तुतः, आज के तर्क-प्रधान और विज्ञान-बहुल युग में हृदय की कोमलतम अनुभूतियों से उत्पन्न कविता का भविष्य बहुत उज्ज्वल नहीं प्रतीत होता है। सूक्ष्म विवेचन, तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक वर्गीकरण के इस युग में मानव का मस्तिष्क-पक्ष इतना प्रबल हो गया है कि वह रागात्मक और भावात्मक अनुभूतियों को उपेक्षणीय समझ बैठा है। अपने एक भाषण में कवीन्द्र रवीन्द्र ने आज के इसी प्रकार के मानव को 'ज़िराफ़' नामक पशु की संज्ञा दी थी, जिसकी गर्दन अत्यधिक लम्बी होने के कारण, उसके हृदय और मस्तिष्क में बहुत अधिक व्यवधान होता है। यह निश्चय ही दुर्भाग्य की बात है। पर वस्तुस्थिति यही है। संसार की प्रायः सभी भाषाओं में गद्य की प्रधानता और काव्य की प्रति-द्विन्द्वता के रूप में एक नवीन विधा-गद्यकाव्य की उत्पत्ति इसी तथ्य की प्रतीक है। आज यदि हम संसार की उन्नतिशील मानी जाने वाली भाषाओं के काव्य-साहित्य पर दृष्टिपात करें, तो हमें पता चलेगा कि जहां उनकी विगतकालीन काव्य सम्पदा अपार थी, उनकी वर्तमान कविता कोरी नीरस, इतिवृत्तात्मक तुकबन्दियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और इतने पर भी उसमें दिनों दिन गद्यात्मक विरसता की वृद्धि हो रही है। प्रसन्नता का विषय है कि विज्ञान की इस अपूर्व प्रगति के युग में अपेक्षाकृत पिछड़े होने के कारण हम पूर्वी देशों के लोग अभी तक बहुत अंशों में कविता का रागात्मक-तत्व सुरक्षित रक्खे बैठे हैं। ऐसी स्थिति की सम्भावना का अनुमान लगाकर आज से लगभग एक शताब्दी पूर्व प्रसिद्ध अंग्रेज साहित्यकार लार्ड मकाले ने यह कहा था कि ज्यों-ज्यों विज्ञान का उत्कर्ष होता जायगा, काव्य का अपकर्ष होता चला जायगा[1]। निश्चय ही इसी कारण न तो आज अंग्रेजी कविता में शेक्सपियर

---

[1] 'ऐज़ साइन्स प्रोग्रेसेज़, पोयट्री डिकलाइन्स।'

और मिल्टन जैसे महाकवियों के वर्णन होते हैं, और न हिन्दी में ही तुलसी और सूर जैसी अप्रतिम प्रतिभाओं के दर्शन उपलब्ध हैं। आज से लगभग चौथाई शताब्दी पूर्व उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि–अकबर इलाहाबादी ने कविता की भावी अवनति पर दृष्टिपात करते हुए शायरी के मरजाने की शङ्का व्यक्त की थी[1], क्योंकि उनका विश्वास था कि पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की आँच से पिघल कर कविता की मूल आत्मा, उसकी सरसता अपने आप तिरोहित हो जायगी[2]।

सत्य यह है कि जीवन-संघर्ष में वृद्धि के साथ-साथ कटु सत्यों के हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि कल्पना की रमणीयता की ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जा पाती है। साहित्य के सभी क्षेत्रों में यथार्थवादी प्रवृत्तियों का समावेश जीवन को उसके वास्तविक रूप में देखने को लालायित है, काल्पनिक या अनुरंजित रूप में देखने को नहीं। और तथ्य को नग्न, कुरूप, तथा वास्तविक रूप में देखने पर गद्य की ही उत्पत्ति सम्भव है, कविता की नहीं। फोटोग्राफी पनप सकती है, पर चित्रकला नहीं।

यहाँ तक तो हुई सामान्य काव्य के उत्कर्ष और अपकर्ष की बात। पर, जहाँ तक ब्रजभाषा-काव्य के भविष्य का सम्बन्ध है उसकी प्रगति में उपरिलिखित बातों के अतिरिक्त, कुछ अन्य बातें भी बाधक रही हैं, और वे निम्नलिखित हैं।

१–अंग्रेजी भाषा और साहित्य का व्यापक प्रचार तथा प्रसार।

२–गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में खड़ीबोली की व्यापक उन्नति।

३–विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों का अपने-अपने प्रदेशों में पुनरुत्थान।

४–धार्मिक भावना का उत्तरोत्तर क्षीण होते जाना।

५–सुधारवादिता के झोंक में शृंगार-रस और शृंगार-रस प्रधान समझी जाने वाली ब्रजभाषा-कविता के अधिकाधिक विरोध की प्रवृत्ति।

अंग्रेजी भाषा और साहित्य के शासक-वर्ग से सम्बन्धित होने के परिणाम-स्वरूप जनता का अपेक्षाकृत साधन-सम्पन्न वर्ग उसी को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगा था। आर्थिक लाभ, उच्च पद एवं ज्ञान-विज्ञान की उच्चाति-उच्च शिक्षा का आकर्षण– तो निश्चय ही इस माध्यम के द्वारा सुलभ थे, पर इसके साथ ही अपनी भाषा व साहित्य के प्रति उपेक्षा और अवज्ञा की भावना भी परोक्ष रूप से घर करने लगी। परिणाम यह हुआ कि जो प्रतिभाशाली नवयुवक अपनी भाषा

---

[1]'शायरी मर चुकी, जिन्दा नहीं होगी यारब।'

[2]मगरिब ने खुर्दबीं से कमर उनकी देखली।
मशरिक की शायरी का मज़ा किरकिरा हुआ। (अकबर इलाहाबादी)

का भाण्डार भर सकते थे, वे उसे बोलने और उसके साहित्य पढ़ने में भी संकोच करने लगे। भारत की अनेक भाषाओं और बोलियों के मूल में अंग्रेजी का यह व्यापक प्रचार और प्रसार विद्यमान था। इस प्रकार जहाँ अन्य अनेक भाषाओं को क्षति पहुंची, वहाँ ब्रजभाषा भी इसका अपवाद न रह सकी।

पर यह तो रही एक विदेशी भाषा के विरोध की बात। ब्रजभाषा की क्षीणता के पीछे खड़ी बोली की प्रतिद्वन्द्विता के आन्दोलन[1] का इतिहास भी रहा है। परिस्थितियों की मांग को ध्यान में रखकर इस आन्दोलन का सूत्रपात तो भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था, पर आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण के साथ, तो यह प्रबल से प्रबलतर होता गया और द्विवेदी युग की समाप्ति तक आते-आते हिन्दी साहित्य में एक नई प्रवृत्ति यह उत्पन्न हो गई कि अपने आपको जागरूक और युग का अनुकरणकर्ता साहित्यकार सिद्ध करने के लिये ब्रजभाषा-कविता का जी भर विरोध किया जाय। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस प्रवृत्ति के अंकुर भारतेन्दु-युग में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे, पर द्विवेदी-युग में इसे और अधिक बल मिला तथा छायावादी-युग के आरम्भ में तो यह पूरा जोर पकड़ गई। यदि कोरे सुधारक ऐसी बात कहते, तब तो साहित्यिक ज्ञान के अभाव में उनका यह कथन किसी सीमा तक ठीक भी माना जा सकता था, पर जब साहित्य के महारथियों—सुमित्रानन्दन पंत[2], रामनरेश त्रिपाठी[3], व्यकटेशनारायण तिवारी[4] और जगन्नाथ प्रसाद मिश्र[5] ने उसे पानी पी-पीकर कोसना आरंभ कर दिया, तब फिर ब्रजभाषा-कविता का उत्कर्ष भला किस प्रकार सम्भव था। और आज यो यह दशा हो गई है कि ब्रजभाषा में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट कविता करने वालों के पास प्रकाशन की सुविधाओं का पूर्ण अभाव है। परिणामतः उनकी सरस और मार्मिक काव्य-कृतियाँ केवल मंजूषाओं की निधि बनकर कालान्तर में दीमक का ग्रास बनती हुई काल-कवलित हो जाती हैं। साहित्य-क्षेत्र में ऐसे कवियों का तथा उनकी कविता का कोई नाम लेवा और पानी देवा तक नहीं है।

एक युग था, जब प्रादेशिक भाषा होते हुये भी ब्रजभाषा का अन्तरप्रादेशिक रूप विस्तार पर था। आसाम-बंगाल से लेकर कच्छ तक और काश्मीर से लेकर केरल तक के कविगण उसकी समाराधना कर अपने को धन्य मानते थे (देखिये—

---

[1]देखिये डा० शितिकंठ मिश्र का ग्रंथ—'खड़ी बोली का आन्दोलन', और डाक्टर कपिलदेव सिंह लिखित—'ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली' नामक ग्रन्थ।

[2]देखिये 'पल्लव' की भूमिका (पृष्ठ ७, ६, १०)।

[3]देखिये—'कविता कौमुदी' (दूसरा भाग) की भूमिका, पृष्ठ १२।

[4]देखिये—'सरस्वती', दिसम्बर १६३३।

[5]देखिये—'विश्वमित्र' अक्तूबर, १६३६।

अध्याय २) पर परिवर्तित परिस्थितियों में प्रान्तीयता की भावना के उदय के साथ-साथ प्रत्येक प्रदेश की भाषा और तत्सम्बन्धित बोलियों की उन्नति के प्रयत्न आरम्भ हुये। कुछ समय तक तो इन प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के लिखने-पढ़ने वालों ने अपनी भाषा और बोली के साथ-साथ अन्य भाषाओं में भी साहित्य-सृजन करने की उदार प्रवृत्ति रक्खी, पर ज्यों-ज्यों भाषा के आधार पर प्रान्तों के विभाजन का आन्दोलन जोर पकड़ता गया, त्यों-त्यों यह निश्चित समझ पड़ने लगा कि पराई समझी जाने वाली भाषाओं का महत्व कम होता जायगा। पिछले दिनों तेलगू, मराठी, गुजराती, तमिल और पंजाबी भाषा सम्बन्धी आन्दोलनों की उग्रता ने इस प्रवृत्ति के ज्वंलत उदाहरण प्रस्तुत कर दिये। इन सबसे ब्रजभाषा-काव्य की उन्नति को भयंकर धक्का लगा और उसका अन्तर-प्रादेशिक रूप धीरे-धीरे विलुप्त होता गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि विज्ञान की उन्नति के फलस्वरूप वर्तमान युग में धार्मिक भावना दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। लौकिकता की बाढ़ में अलौकिक और भौतिकता के प्रवाह में आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ डूबने-उतराने लगी हैं। मनुष्य शत-प्रतिशत ऐहिक हो गया है। ऐसी स्थिति में कृष्ण-भक्ति से प्रेरणा प्राप्त करने वाली ब्रजभाषा-कविता का उत्थान किस प्रकार संभव है। इहलोक को ही सब कुछ समझने वाले व्यक्ति के लिये धर्म कोरा मिथ्याडम्बर और भक्ति निरी ढकोसला मात्र रह गई। अतः अनास्था और अश्रद्धा के इस युग में श्रद्धा और निष्ठा की लता पर विकसित ब्रजभाषा-कविता की कली अनायास ही मुरझाने लगी। यह भी ब्रजभाषा-कविता के प्रति लोकरुचि के अभाव का एक कारण था।

इसी समय सुधारवादिता के झोंक में आकर शृंगार-रस को हेय और घृणित समझने की प्रवृत्ति बलवती हो उठी। जन-साधारण में यह भावना पनपने लगी और लोग यह समझने लगे कि शृंगार-रस से पूर्ण प्रत्येक कविता देश को अवनति के गर्त की ओर लेजाने वाली है। इसी के साथ यह भावना भी व्यापक होती चली गई कि ब्रजभाषा काव्य में शृंगार-रस के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। यह भावना भी खड़ीबोली के समर्थकों ने अपने पक्ष को परिपुष्ट करने के लिए फैलाई थी। अतः शृंगार रस के साथ साथ ब्रजभाषा-कविता का विरोध भी प्रबल से प्रबलतर हो चला। ब्रजभाषा-कविता के विकास में यह तथ्य भी बाधक ही रहा और इसके फलस्वरूप उसकी प्रगति पर्याप्त मात्रा में रुक गई।

उपरोक्त परिस्थितियों में यह तो निश्चित ही था कि अब भविष्य में ब्रजभाषा को विगतकालीन गौरवपूर्ण पद तो किसी भी स्थिति में प्राप्त न रह सकेगा। वह केवल एक प्रादेशिक भाषा के रूप में ही फूल-फल सकेगी। पर एक समृद्ध प्रादेशिक भाषा के रूप में भी उसका अस्तित्व कम गौरवशाली नहीं रहेगा, क्योंकि उसके साथ अतीत की गरिमामयी परम्पराएं सुरक्षित थीं। आज जो लोग उसके इस प्रादेशिक

रूप में भी जीवित रहने के प्रति संशयशील हैं, वे निश्चय ही भारी भ्रम में हैं। वास्तविकता यह है कि ब्रजभाषा हमारी मध्यकालीन विचारधारा और सांस्कृतिक-निधि की संरक्षिका रही है। आज भी मध्यकाल की स्थापत्यकला, वास्तुकला और चित्रकला को समझने के लिए ब्रजभाषा साहित्य की जानकारी अनिवार्य है[1]। भारतीय संगीत और नृत्यकला के सिद्धान्त और व्यवहार-पक्ष में निपुणता प्राप्त करने के लिए भी ब्रजभाषा का ज्ञान अपरिहार्य ही है। अतः वह यदि अपने वर्तमान के आधार पर नहीं तो अपने स्वर्णिम अतीत के आधार पर अवश्य जियेगी और यदि ब्रजभाषा के कविगण समय के साथ कदम मिलाकर चल सके तथा अतीत और वर्तमान, कलापक्ष और भावपक्ष, यथार्थ और आदर्श, स्वान्तः सुखाय और बहुजनहितांय की समन्वय-साधना कर सके, तब तो उसकी उन्नति अवश्यम्भावी है।

हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनों से जनता और शासन ने इस ओर अपने उत्तरदायित्व का अनुभव किया है। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और प्रादेशिक-भाषाओं के पुनरुद्धार की चर्चा जोर पकड़ रही है (विडम्बना की बात यह है कि यही प्रवृत्ति ब्रजभाषा की अवनति का कारण भी रही) और ब्रज-प्रदेश तथा ब्रजभाषा-साहित्य के विगत गौरव को प्रकाश में लाने और नई-नई प्रतिभाओं को साहित्य-सृजन के प्रति प्रोत्साहित करने के लिए अनेक प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं। मथुरा में ब्रज-साहित्य मण्डल की स्थापना से इस पावन-कार्य में बड़ी सहायता मिली है। मण्डल के द्वारा ही प्रकाशित-'ब्रजभारती' नामक मासिक पत्रिका तथा ब्रजभाषा सम्बन्धी बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाशन का सराहनीय कार्य हुआ है। इधर आगरा विश्वविद्यालय के तत्वावधान में स्थापित 'कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हिन्दी-विद्यापीठ' की स्थापना भी इस दिशा में एक शुभ लक्षण है। अभी-अभी समाचार मिला है कि तृतीय पंच वर्षीय योजना की अवधि के भीतर ही ब्रज-प्रदेश के केन्द्र-मथुरा में आकाशवाणी का एक केन्द्र स्थापित करने की भी योजना है, जिसका आरम्भिक कार्य लगभग प्रारम्भ हो चुका है। ऐसी स्थिति में ब्रजभाषा और उसके काव्य के भविष्य के प्रति अधिक निराश होने की संभावना नहीं दीख पड़ती है। ये सभी लक्षण अत्यन्त शुभ और भावी उन्नति के परिचायक हैं। पर, केवल इन वाह्य उपादानों के सहारे किसी भाषा और उसकी कविता की तात्विक प्रगति सम्भव नहीं है। उसके अभ्युत्थान के लिए तो उसके साहित्यकारों में समसामयिक परिस्थितियों के प्रति जागरूकता, काव्य-सृजन के प्रति अनुराग तथा अपनी भाषा के प्रति तीव्र ममत्व आवश्यक है। अतः क्या यह आशा करना दुराशा मात्र ही होगा कि ब्रजभाषा और उसकी कविता के धनी-धोरी अपने आप में उक्त गुणों को उत्पन्न कर अपनी मातृ-भाषा के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभायेंगे और ब्रजभाषा-कविता की गौरवमयी परम्परा

[1]ब्रजभाषा और उसके साहित्य की भूमिका (डा० कपिलदेवसिंह) पृष्ठ १५६

को न केवल सुरक्षित रक्खेंगे अपितु उसे और भी अधिक अभ्युदय की ओर लेजाने का प्रयत्न करेंगे। व्रजभाषा कविता का भविष्य इसी पर निर्भर है।

उपसंहार

एक शताब्दी की व्यापक परिधि में फैली हुई आधुनिक ब्रजभाषा-कविता का जो लेखा-जोखा, पिछले पृष्ठों में, प्रस्तुत किया गया है, वह इस तथ्य का सूचक है कि उसे जो रिक्थ रीतिकाल से मिला था, वह यद्यपि अधिक शुभ और स्वस्थ नहीं था, तथापि कालान्तर में जीवन और जगत से समझौता करके उसने आज अपने को इस प्रकार ढाल लिया है कि उसमें—

प्राचीन परम्परा को परिष्कृत करके आत्मसात करने की शक्ति है,

सम-सामयिक जीवन को अनुभूति के माध्यम से व्यक्त करने की क्षमता उपलब्ध है,

वर्तमान के सम्यक् परीक्षण द्वारा मंगलमय भविष्य के सृजन की उमंग है,

रचना के स्वान्तःसुखाय और बहुजन हिताय-आदर्शों के समन्वय की प्रवृत्ति है,

लोक और शिष्ट जीवन के सात्विक मनोरंजन की स्वस्थ परम्परा वर्तमान है,

भावना और बुद्धि के बीच सेतु बांधने की भावना दृष्टिगोचर होती है,

मानव-प्रकृति और वाह्य-प्रकृति के पर्यवेक्षण की अनुरक्ति दिखाई देती है,

काव्य के अन्तरंग और बहिरंग-दोनों का ही संतुलित विकास परिलक्षित होता है,

आदर्श और यथार्थ के बीच की कृत्रिम खाई को पाटने का विवेक वर्तमान है,

प्रकाशन की असुविधाओं के होते हुये भी सतत साहित्य-सृजन होता रहा है,

तर्क और अविश्वास के इस युग में भी श्रृद्धा की भावना प्रचुर रूप में प्राप्त है,

और, जिस कविता में उक्त गुणों का समावेश है, वह विकासोन्मुख ही रहेगी।

वस्तुतः, भाषा या माध्यम का मोह तो बहुत साधारण वस्तु है। यदि हम 'भाव अनूठो चाहिये, भाषा कोऊ होय' का विवेकशील दृष्टिकोण अपनाकर उसका निरीक्षण-परीक्षण करेंगे, तो उसे निश्चय ही प्रगति-पन्थ पर आरूढ़ पायेंगे।

———

परिशिष्ट 'क'

चूर्णिका :

(आधुनिक ब्रजभाषा-कविता के भिन्न-भिन्न कवियों द्वारा लिखित उत्तमोत्तम छन्दों का चयन)

दमकते दोहे : सुर-तरु, सुर-मनि, सुर-सुरभि, जानहु सकल असार।
मेरे मते किसान ही, अभिमत फल दातार।।

—जगनसिंह सेंगर

वह हर जगदाधार है, यह हर जगदाधार।
वहै अलख, यह नित लखौ, जग कौ पालनहार।।

—उलफतसिंह 'निर्भय'

आगि पानि दोऊ मिले, जान चलावत जान।
बिना जान सब जन लिये, राजत लखहु सुजान।।

—सुधाकर द्विवेदी

चतुरानन की चूक सब, कहलौ कहिये गाय।
सतुआ मिलै न सन्त को, गनिका लुचुई खाय।।

—शिवसम्पति

हमरे जाति न बर्न है, नहीं अर्थ नहिं काम।
कहा दुरावैं आप से, हमरी जाति गुलाम।।

—बालमुकुन्द गुप्त

नदी प्रवाहऽरु, ईख रस, द्यूत, मान संकेत।
भ्रू-लतिका पांचौं यहै, भंग भये रस देत।।

—कन्हैयालाल पोद्दार

उपजै जदपि सुवंश में, खल तउ दुखद कराल।
चन्दन हू की आग तैं, जरै देह तत्काल।।

—रामचरित उपाध्याय

चांद-सूर आंखें खुली, काकी जोहत बाट।
का सुनिबे हित गगन के, उघरे करन-कपाट।। —रामदास गौड़

तन ग्रीषम, वरषा नयन, वारिज-बदन हिमंत।
सरद गंड, भूषन सिसिर, पग-पग बसत बसन्त॥

—रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'

भौं, चितवनि, डोरे, वरुनि, असि, कटार, फंद, तीर।
कटत, फटत, बंधत, बिंधति, जिय, हिय, मन, तन वीर॥

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

राजनीति औषध विमल, धर्म-दान-जल धोय।
दृग-अंजन अंजित करै, तौ मद-अन्ध न होय॥

—गोकुल प्रसाद 'ब्रज'

जो पै कलमु चलाइए, कवि जू कहौं निहोरि।
कितौ डारिए तोरि ही, कितौ डारिए तोरि॥

—राजेशदयालु

झलक-झलक मुख पर अलक उडि आवत फिर जात।
करत पासबानी मनौ, अफई आब-हयात॥

—युगलकिशोर मिश्र 'ब्रजराज'

आबादी अखियान की, ज्यों कानन नगिचाइ।
कजरा सहर-पनाह नित, नयो बनायो जाइ॥

—अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य'

पिय-कर काते सूत की, खादी की रूमाल।
बार-बार हिरदै धरति, बिरह बुझावति बाल॥

—सीताराम पाण्डेय

फांसि दीठि-गुन, मन-घटहिं, रूप-कूप में डारि।
को न पियत जग-मग चलत, सुखमा-सलिल निकारि॥

—अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य'

छन भर मांहि 'अबोध' जो, मुद मानत मुसकात।
छन मैं रिस ह्वै उठत पुनि, कहे मुर्दरिस जात॥

—अबोध मिश्र

बेदरदी दर-दर फिरे, तुव कारन हम दीन।
खोजत तुमकौं ह्वै गये, हम 'नवीन' प्राचीन॥

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

व्यंजक बरवै :

श्री वृन्दाबन दल-फल, थल-जल जोहि ।
आवत सुधि सुश्याम की, पल-पल मोहि ।।

—ब्रजनंदन कविरत्न

कत रंग धोवति खोवति फाग सभाग ।
थाती लौं यह छाती पिय-अनुराग ।।

—युगलकिशोर मिश्र 'ब्रजराज'

सुधा सुधा, मधु मधु बिधु, बसुधा मांहि ।
सुजन संग सम सपनेंहु, सुखप्रद नाहि ।।

—रामचरित उपाध्याय

सटकारे, मनियारे, त्रिषधर वेस ।
ललित लछारे कारे, कोमल केस ।।

—मुंशी अजमेरी जी

हेरत हरत हियरवा, काजर कोर ।
पेखत रूप पियरवा, नित तृन तोर ।।

—मुंशी अजमेरी जी

पिय-पयान की बतियां, सुनि सखि मोर ।
आस नांहि दृग आवत, जीवन मोर ।।

—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

सरस सवैये :

सिर मौर है मोर के पंखन को, जिहि सों दिननाथ छले गये हैं ।
दृग लांने मृगान को मान दहैं, दल नीरज नीर दले गये हैं ।।
तन सांवरो अम्बर पीरो मनौ दुति दामिनी मेघ मले गये हैं ।
गुन दै 'द्विजराज' गयन्दन को, यहि ओर ये कौन चले गये हैं ।।

—लालबिहारी मिश्र 'द्विजराज'

कामरी ओढ़े इतै चलि आवत, रावरे को तौ नहीं कछु मै है ।
जो कहुं टूटि है मोती कि माल, तौ नंद बाबा को धनी पनो जैहै ।।
दूरि रहौ 'ब्रजराज' खरे उत, मोहि इतो अठिलैबो न भैहै ।
सांवरे छैल छुवौगे जो मोहिं, तौ गातन मोरे गुराई न रैहै ।।

—युगलकिशोर मिश्र 'ब्रजराज'

प्रेम के फंद फंसे 'बलदेव' जू, और हू भारग के गहिबे पर ।
नेकु बुझात नहीं बिरहानल, नैनन नीर नदी बहिबे पर ।।

सूधे भये दृग ह्वै है कहा, मन चेरो भयो तिरछे रहिबे पर।
ना कहिबे पर वारे हैं प्रान, कहा अब वारि हैं हां कहिबे पर ।।

—द्विज बल्देव

पीपर पातन से कपिगो तन, रोष भयो डरिगो पुनि जी में।
त्योंहि 'दमोदर' दीपति गातन की झरिगो जरि एक घरी में ।।
हायल सो हियरो करिगो, परिगो पग औचक नेह-नदी में।
प्रान पयान की कान सुने, ललना सराबोर भई हरदी में ।।

—दामोदरसहाय 'कविकिंकर'

बात के तीखन घात सहे, अरु बैठि हुतासन में तनताये।
नीर में डूबि किये तप यों, निखरे खरे ह्वै सब दोष दुराये ।।
भूषन ह्वै पट गेरुआ पैन्हि, लिए संग मुक्तन सोन सुहाय।
केते उपायन सों 'द्विजश्याम' ए हार ह्वै तेरे दुआर लौं आए।।

—'द्विजश्याम'

खाड़-चिनी की तो बात भिनी, महुऔ भर खान को प्रान ललाते।
जो घृत खात रहे नित आप सो, आज न बाप के स्वाद को पाते ।।
चाउर-गेहूं मिलै सपनेहु न, दूध-दही को सरूप लखाते।
'कामद' भारतवासिन के, नव वस्त्र बिना सब अंग दिखाते ।।

—कामदहरि श्रीवास्तव

धुनकी भई नीकी रुई धवली, बसुधा में सुधा सी जबै भरि है।
तब भारतवासी भिखारिहु एक धनेस के वेसहि को धरि है ।।
मरि है मुरचा मनचेस्टर को, महिमा महा मीलन की टरि है।
करि है कमनीय कुलीनता को, तकुली या कुलीपन को हरि है ।।

—महादेवप्रसाद अग्निहोत्री

तुलसी भए भाग सुहाग के बिंदु, स देव दृगंजन आगरी के।
कवि केसव अंग के राग भए, मुख-राग मे सूर उजागरी के ।।
भए 'माहुर' पंकज पांइन के, मेंहदी कवि ग्वाल प्रभागरी के।
मतिराम, रहीम, बिहारी, घनानंद, भूषन भे ब्रज-नागरी के ।।

—नाथूराम माहौर

जिन रूप-कलीन को जान्यौ भलो, रसमत्त अलीन सुधारी भये।
पुनि काव्यकला-निधि बूड़े तरे, अनबूड़े तरे जे बिकारी भये ।।
नव नेह—निकुंज के नायक की, सुचि केलि-कलान प्रचारी भये।
ब्रजमाधुरी-सी ब्रजमाधुरी पै, बलिहारी भये सो बिहारी भये ।।

—रामलला

नैन बुझाइ बुझाइ थके, अनुराग की आग बरोई करै।
कोटि निरास-कुठार चलें, तऊ प्रेम की बेलि फरोई करै।।
नैनन नीर बह्यो करै पै, उर अन्तर नेह भरोई करै।
मौन रहै हिय हारि तऊ, रसना तब नाम ररोई करै।।

—डा० रामप्रसाद त्रिपाठ

सीस हिमाचल चारु उतंग है, गंग सौ सिंधु कौ चीबर डारौ।
मानसरोवर है किधों पात्र, लिए कर में भरौ नेह सों सारौ।।
हाथ उठ्यौ वरदाता बड़ौ, गिरि विंध्य-सो विश्व को देत सहारो।
कैधों है बुद्ध सरूप किधौं, यह भारत देस कौ रूप है प्यारौ।।

—डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

पहिले दिन स्याम सलोनी रही, दुसरे दिन तैं लगी दीखै दरी-सी।
हरियान लगी अब देखहु तौ, धौं दिखान लगी घनी घास चरी-सी।।
'करुणेश' जू जानि परै किरमीच, अनेक सुईन की नोंक गरी सी।
चाटि गई किधौं दीमक है, टिड्डी खाय गयो धौं खरीफ खरी सी।।

—भगवतीप्रसाद त्रिवेदी 'करुणेश'

कलित कवित्त :

शम्भु नाचैं सम्हरि कपाली नाचैं क्रुद्ध ह्वै कै,
झखकेतु-दाहक झिटिति नाचैं झुकि कै।
तमकि तमिक कै त्रिशूली नाचैं ताहि छन,
नाचैं नीलकंठ ठाढ़े ठुमुकि ठुमुकि कै।।
चाल कै चपल चन्द्रचूड़ नाचैं चाव-भरे,
भाव भरे भूतनाथ केकी सों कुहुकि कै।
नाचैं हर हरखि बिहंसि वामदेव नाचैं,
पसरि पिनाकी नाचैं रुद्र नाचैं रुकि कै।।

—अनूप शर्मा

व्याकुल चलत दूत शंख औ लहर सम,
चिंता में मगन पेशकार धीर नीर से।
बकबक करैं बक सरिस चतुर लोग,
कायथ निहारैं बैठ भुजा बेपीर से।।
एक ओर भेदी खड़े नाक औ मगर सम,
हाथी-घोड़े द्वार डोलैं हिंसक अधीर से।
टेढ़ी-मेढ़ी नीति से बिगारे तट-संघ सोहैं,
राजा के विचार-मौन नीरधि गभीर से।।

(लाला सीताराम)

के० सी० एस० आर० आई० व्यर्थ का पुछल्ला बांधि,
पल्ला खोलि लोगों का करोड़ों धन ले गये ।
बाकी जो रहे सो अक्लमंदन के बंदन में,
लंदन में जाय छल-छंदन छले गये ।।
दाइ ते बचे जो सां विचित्र सेखचिल्ली लोग,
मित्र होय दिल्ली दरबार में दले गये ।
दर्जन के दर्जन कितेक महाराजन को,
कर्जन ते लादि लाट कर्जन चले गये ।।

(मथुराप्रसाद 'विचित्र')

पीरी-पीरी पाग मौर झालर झमकदार,
तरल तरयोना मैं दिठौना वितन्यौ है आज ।
घेरदार जामा परयौ पटुका घुमेरदार,
कोरदार पीरो पट कटिमैं तन्यौ है आज ।।
'जोतिसी' जगी है अंग अंगनि में ओज भरी,
देखि देखि आनन्द को सिंघु उफन्यौ है आज ।
गजरा गरे में, कोर कजरा मरोरदार,
अवध नरेश वेश बनरा बन्यौ है आज ।।

(रामनाथ जोतिसी)

सर सरिता लौ सब 'सेवक' थलनि जल,
सरसि गये ते फेरि सरसन लागे री ।
कामना-लता के दल बीर बिरहागिनि ते,
झरसि गये ते फेरि झरसन लागे री ।।
जोर जब जागे नये बीजुरी ते डोरे लाल,
दरसि गये ते फेरि दरसन लागे री ।
देखि घनस्याम घनस्याम से घुमड़ि नैन,
बरसि गए ते फेरि बरसन लागे री ।।

(सेवक)

आचमन कीन्हें आंच-मन कौ समन होत,
सांच मन होत तो तें जांच मन कीन्हें ते ।
कीन्हें ते सकल्प होत प्रानिन कौ काया-कल्प,
जीवै अल्पजीवी कोटि कल्प वास लीन्हें ते ।।
तेरे दरसन जम-दरस न होत फेर,
परस न पावै पाप परसन कीन्हें ते ।

अरपन कीन्हें दरपन सौ दिखात चित्र,
नर पन जात तो मैं तरपन कीन्हें ते ॥
—(वलराम मिश्र 'द्विजेश')

साबरमती के तट जाग्यो मंत्र साबर है,
जाके ढिग यंत्र हू न नैंकु चलि पावै है।
फूंकि कै बिदेसी तंत्र, फूंकि कै स्वदेसी मंत्र,
यंत्रन की यंत्रणा सों देसहि बचावै है ॥
कर मैं न अस्त्र अरु घर पै न वस्त्र, पै—
अशस्त्र देसहू को जो सशस्त्रहि बनावै है।
ऐसो व्रतधारी, बलधारी, तपतेजधारी,
भारत-सपूत देवदूतहिं लजावै है ॥
---(डा० रामप्रसाद त्रिपाठी)

सासन-सभा के सभापति हों सु कर्मचन्द,
मंत्री ह्वै जवाहर सुनीति-पथ पैठे हों।
सेठ बिड़ला सो बनै हिंद के धनीपति त्यों,
बल्लभ अनीपति उमंग मैं उमैठे हों ॥
धर्माध्यक्ष महामना मालवी महान रहैं,
साथ लिये सेन श्री सुभाष बोस ऐठे हों।
फ्रांस, अमरीका साथ जर्मनी जपान लिये,
ब्रिटिश विदेसी राजदूत बने बैठे हों ॥
—देवनारायण शर्मा 'कंज'
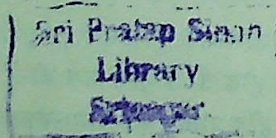
सहायक ग्रन्थ-सूची

१ अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल
२ अभिमन्यु-बध (का०) : रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'
३ अन्योक्ति-कल्पद्रुम : दीन दयाल गिरी
४ आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास : कृष्णशंकर शुक्ल
५ आधुनिक काव्य-धारा : डा० केशरीनारायण शुक्ल
६ आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत : डा० केशरीनारायण शुक्ल
७ आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य : शुकदेव बिहारी मिश्र व डा० 'रसाल'
८ आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास : डा० श्रीकृष्ण लाल
९ आधुनिक हिन्दी-साहित्य : डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१० आधुनिक हिन्दी-कविता में छन्द योजना : डा० पुत्तूलाल शुक्ल
११ आधुनिक हिन्दी-काव्य में परम्परा तथा प्रयोग (अप्रकाशित) : डा० गोपालदत्त
१२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में अलंकार विधान (अप्र०) : डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी
१३ उद्धव-शतक (काव्य) : जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
१४ उर्मिला (काव्य) : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
१५ उपखान-पचासा (काव्य) : जवाहिर लाल
१६ ऊजड़ गांव (काव्य) : श्रीधर पाठक
१७ ऋतु-संहार (काव्य) : कालिदास
१८ करुण-सतसई (काव्य) : रामेश्वर 'करुण'
१९ कविता-कौमुदी (दोनों भाग) : रामनरेश त्रिपाठी
२० कवि-कीर्तन (काव्य) : वियोगी हरि
२१ कवि 'प्रसाद'-एक अध्ययन : डा० रामरतनभटनागर
२२ काव्य-रूपों के मूल-स्रोत और उनका विकास : डा० शकुन्तला दूबे

२३ काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध	:	जयशंकर 'प्रसाद'
२४ काव्य में प्रकृति	:	डा० रघुवंश
२५ काश्मीर-सुखमा (काव्य)	:	श्रीधर पाठक
२६ काव्य-प्रभाकर	:	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'
२७ काकली (काव्य)	:	कौशलेन्द्र राठौर
२८ काव्योपवन (काव्य)	:	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
२९ कुमार-सम्भव (काव्य)	:	कालीदास (मूल तथा अनुवाद)
३० खड़ी बोली-आन्दोलन	:	डा० शितिकण्ठ मिश्र
३१ गीता	:	
३२ गोविन्द-ग्रन्थावली	:	गोविन्द गोलाभाई
३३ चन्द्रकला-भानुकुमार नाटक	:	राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'
३४ चित्राधार	:	जयशंकर 'प्रसाद'
३५ छन्द-प्रभाकर	:	जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'
३६ छायावाद-युग	:	डा० शम्भूनाथ सिंह
३७ ज्योति (काव्य)	:	'अम्बिकेश'
३८ जरासन्ध-बध (काव्य)	:	गिरिधर दास
३९ तरंगिणी (काव्य)	:	किशोरीदास वाजपेयी
४० दिव्य-दोहावली (काव्य)	:	अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य'
४१ दुलारे-दोहावली (काव्य)	:	दुलारेलाल भार्गव
४२ दिग्विजय भूषण	:	गोकुलप्रसाद 'ब्रज'
४३ देहरादून (काव्य)	:	श्रीधर पाठक
४४ दैत्य-वंश (काव्य)	:	हरदयालु सिंह
४५ नव-रस	:	गुलाबराय
४६ नहुष (नाटक)	:	गिरिधरदास
४७ निश्वास (काव्य)	:	श्यामनारायण मिश्र
४८ नारी (काव्य)	:	अतुलकृष्ण गोस्वामी
४९ प्रताप-पीयूष	:	सं० रमाकान्त त्रिपाठी
५० पल्लव (काव्य)	:	सुमित्रानन्दन पन्त
५१ परिमल (काव्य)	:	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
५२ प्रबन्ध-पद्म	:	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
५३ पूर्ण-संग्रह (काव्य)	:	राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'
५४ प्रेमधन-सर्वस्व	:	प्रेमधन'
५५ प्रिया-प्रीतम विलास (काव्य)	:	महेश्वरबख्श सिंह

५६ पाण्डेय-अभिनन्दन ग्रन्थ : (रूपनारायण पाण्डेय)
५७ पोद्दार-अभिनन्दन ग्रन्थ : सं० वासुदेव शरण अग्रवाल
५८ फलक-सतसई (काव्य) : नबीबख्श 'फलक'
५९ फेरि-मिलिबो (काव्य) : अनूप शर्मा
६० ब्रज-भारती (काव्य) : उमाशंकर वा पेयी 'उमेश'
६१ ब्रज-रज (काव्य) : राय कृष्णदास
६२ ब्रज-बानी (काव्य) : गोविन्द चतुर्वेदी
६३ ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली : डा० कपिलदेवसिंह
६४ ब्रजभाषा और उसके साहित्य की भूमिका : डा० कपिलदेवसिंह
६५ ब्रजभाषा-व्याकरण : डा० धीरेन्द्र वर्मा
६६ ब्रजभाषा-साहित्य का ऋतु-सौन्दर्य : प्रभुदयाल मीतल
६७ ब्रजभाषा-काव्य में नायिका-भेद : प्रभुदयाल मीतल
६८ ब्रज का इतिहास (खण्ड २) : स० श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी
६९ ब्रजभाषा की विभूतियाँ : देवेन्द्रनाथ शर्मा
७० बिहारी-बिहार (काव्य) : अम्बिकादत्त व्यास
७१ बिहारी की वाग्विभूति : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
७२ बीसवीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य : डा० प्रीतिपाल सिंह
७३ बुद्ध-चरित (काव्य) : रामचन्द्र शुक्ल
७४ भारतेन्दु-युग : डा० रामविलास शर्मा
७५ भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि : डा० किशोरीलाल गुप्त
७६ भारतेन्दु-मण्डल : ब्रजरत्न दास
७७ भारतेन्दु-कालीन नाटक साहित्य : डा० गोपीनाथ तिवारी
७८ भारतेन्दु-ग्रन्थावली : सं० ब्रजरत्न दास
७९ भारतीय आर्य-भाषा और हिन्दी : डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
८० भाषा-काव्य-संग्रह : सं० महेशदत्त शुक्ल
८१ मकरन्द : डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
८२ मिश्रबन्धु-विनोद : मिश्रबन्धु
८३ मोहन-विनोद (काव्य) : महाराज रामसिंह
८४ मेघदूत (मूल तथा अनेक अनुवाद) : कालिदास तथा अनेक अनुवादकर्ता
८५ मालती-माधव (मूल तथा अनेक अनुवाद) : भवभूति तथा अनेक अनुवादकर्ता

८६	मीरा-मानस (काव्य)	: श्यामनारायण मिश्र 'द्विजश्याम'
८७	रस-कलस	: अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
८८	रघुवंश (मूल तथा अनेक अनुवाद)	: कालिदास तथा अनेक अनुवादकर्ता
८९	रस-रत्नाकर	: डा० हरिशंकर शर्मा
९०	रस-कुसुमाकर	: महाराज प्रतापनारायण सिंह
९१	रहिमन-शतक (काव्य)	: नवनीत चतुर्वेदी
९२	राम-रसायन (काव्य)	: रसिक बिहारी
९३	राम-स्वयंवर (काव्य)	: महाराज रघुराज सिंह
९४	रुक्मिणी-परिणय (काव्य)	: महाराज रघुराज सिंह
९५	राजेश-सतसई (काव्य)	: राजेश दयालु
९६	रीतिकाल की भूमिका और देव की कविता	: डा० नगेन्द्र
९७	रत्नाकर	: स० डा० श्यामसुन्दर दास
९८	लाइट आफ एशिया (अंग्रेजी)	: एडविन आर्नल्ड
९९	लंका-दहन (काव्य)	: चौधरी लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश'
१००	लेखनी-वेला (काव्य)	: वीरेन्द्र मिश्र
१०१	वर्णावली	: रसिक बिहारी
१०२	वचनेश-अभिनन्दन-ग्रन्थ	
१०३	विनोद (काव्य)	: वचनेश मिश्र
१०४	विभूतिमती-ब्रजभाषा	: अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
१०५	वांग्मय-विमर्श	: विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१०६	वीर-सतसई (काव्य)	: वियोगी हरि
१०७	शवरी (काव्य)	: वचनेश मिश्र
१०८	श्यामा-सुन्दरी (काव्य)	: जगमोहनसिंह
१०९	श्यामा-लता (काव्य)	: जगमोहनसिंह
११०	शंकर-सर्वस्व	: सं० हरिशंकर शर्मा
१११	शिवपूजन-ग्रन्थावली	:
११२	श्याम-सन्देश (काव्य)	: डा० श्यामसुन्दर लाल दीक्षित
११३	श्री ब्रजविनोद	: बृजनंदन सहाय
११४	श्री रामकृष्ण-काव्य	: हृषीकेश चतुर्वेदी
११५	श्री ब्रजभाषा	: सत्यनारायण कविरत्न
११६	सप्तपर्णा	: महादेवी वर्मा
११७	समर्पण (काव्य)	: माखनलाल चतुर्वेदी

११८ सतसई-सप्तक : सं० बाबू श्यामसुन्दर दास
११९ समस्यापूर्ति-संग्रह : (गोपाल मन्दिर, काशी की समस्याओं का संग्रह)
१२० सिरस-नीति-सतसई (काव्य) : शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'
१२१ साहित्य-सागर : बिहारी ब्रह्मभट्ट
१२२ सुधा-सरोवर (काव्य) : दामोदर सहाय 'कविकिंकर'
१२३ सूक्ति-सरोवर (काव्य) : भगवानदीन 'दीन'
१२४ सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य : डा० शिवप्रसाद सिंह
१२५ सौरभ (काव्य) : रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'
१२६ हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
१२७ हिन्दी कविता में युगान्तर : डा० सुधीन्द्र
१२८ हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरत मिश्र
१२९ हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण : डा० किरणकुमारी
१३० हिन्दी में भ्रमरगीत और उसकी परम्परा : डा० स्नेहलता श्रीवास्तव
१३१ हिन्दी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा : डा० सरला शुक्ल
१३२ हिन्दी पुस्तक-साहित्य : सं० डा० माताप्रसाद गुप्त
१३३ हिन्दी साहित्य-कोश : सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा
१३४ हिन्दी –सेवी संसार : सं० डा० प्रेमनारायण टण्डन
१३५ हिन्दी भाषा का इतिहास : डा० धीरेन्द्र वर्मा
१३६ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी : नन्ददुलारे वाजपेयी
१३७ हिन्दी साहित्य एक अध्ययन : डा० रामरतन भटनागर
१३८ हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल
१३९ हिन्दी साहित्य के प्रमुख वाद : विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
१४० हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'
१४१ हिन्दी साहित्य : कुछ विचार : डा० प्रेमनारायण टण्डन
१४२ हिन्दी-कोविद-रत्नमाला : बाबू श्यामसुन्दर दास
१४३ हिन्दी साहित्य में हास्य-रस : डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी
१४४ हिन्दी साहित्य का अतीत (दोनों भाग) : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

१४५ हिन्दा की प्राचीन और नवीन काव्य-धारा : सूर्यबलीसिंह
१४६ हिन्दी अलंकार-साहित्य : डा० ओमप्रकाश
१४७ हिन्दी का उच्चतर साहित्य : सं० राजबली पाण्डेय
१४८ हिन्दी के मुसलमान कवि : गंगाप्रसाद सिंह
१४९ हिन्दी कवियों का काव्यादर्श : सं० डा० प्रेमनारायण टण्डन
१५० हिन्दी नाट्य-विमर्श : गुलाबराय
१५१ हिन्दी नाट्य-साहित्य : ब्रजरत्न दास
१५२ हरिऔध अभिनन्दन-ग्रन्थ :
१५३ हीरक जयन्ती-ग्रन्थ : सं० डा० श्रीकृष्णलाल व करुणापति
१५४ हनुमत्पताका (काव्य) : काली कवि
१५५ हृदय-तरंग : सं० बनारसीदास चतुर्वेदी

पत्र-पत्रिकायें

१ इन्दु (काशी)
२ कवि (गोरखपुर)
३ काव्य-कलाधर (कलकत्ता)
४ काव्य-सुधाधर (बिसवां, जिला सीतापुर)
५ नागरी प्रचारिणी पत्रिका (काशी)
६ धर्मयुग (बम्बई)
७ ब्रज-भारती (मथुरा)
८ भारत-जीवन
९ मनोरमा (इलाहाबाद)
१० माधुरी (लखनऊ)
११ रसवन्ती (लखनऊ)
१२ रसिक मित्र
१३ विश्वमित्र (कलकत्ता)
१४ विशाल भारत (कलकत्ता)
१५ सम्मेलन-पत्रिका (प्रयाग)
१६ समालोचक (आगरा)
१७ साप्ताहिक हिन्दुस्तान (दिल्ली)
१८ सरस्वती (प्रयाग)
१९ सुकवि (कानपुर)
२० सुधा (लखनऊ)

भाषण : ब्रज-साहित्य-मण्डल के सभापति पद से डा० रामप्रसाद त्रिपाठी तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के भाषण।